जनसाधारण के लिए सर्वथा अपरिचित "अव्याप्ति" शब्द के ऊपर किये प्रयोग के अनन्तर उसके सम्बन्ध मे जिज्ञासा उदित होने पर इसके सम्बन्ध मे इस प्रकार समझना चाहिए कि—किसीके द्वारा किये जाने वाले किसी भी वस्तु के निर्वचन के सम्बन्ध मे तीन प्रकार के दोष सभावित होते हैं जिनका नाम होता है क्रमश अव्याप्ति, अति-व्याप्ति और असम्भव। किया गया निर्वचन यदि अपने सारे निर्वचनीयो को अपने से व्याप्त न कर पाये अर्थात् अनेक लक्ष्यो के अन्दर फलत निर्वचनीयो के अन्दर कुछ लक्ष्यो मे समन्वित हो और कुछ लक्ष्यो मे समन्वित हो नही, कुछ मे तो लागू हो किन्तु कुछ मे लागू हो नही, तो लक्षण मे अर्थात् निर्वचन मे "अव्याप्ति" दोष आपन्न होता है। क्योकि वह सारे अपने निर्वचनीयो को अपने द्वारा व्याप्त नही कर पाता। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझना चाहिए कि फूल का निर्वचन यदि यह किया जाय कि "फूल उसे समझना चाहिए जिसमे सुगन्ध अवश्य हो," तो यह निर्वचन अव्याप्ति दोष से आक्रान्त हो पडने के कारण फूल का सच्चा निर्वचन नही कहला सकता। अव्याप्ति इसलिए होती है कि सुगन्ध का अस्तित्व सब फूलो मे होता नही। ऐसे भी फूल पाये जाते हैं जिनमे सुगन्ध न होकर या तो दुर्गन्ध का और नही तो "सु" और "कु" से भिन्न उपेक्षणीय गन्ध का अस्तित्व पाया जाता है। फूल का उक्त निर्वचन सारे निर्वचनीय फूलो मे लागू होता नही। यदि फूल का उक्त प्रकार निर्वचन न करके यह निर्वचन किया जाय कि "परागयुक्त है फूल" अर्थात् जिसमे "पराग हो वह होता है फूल कहलाने का अधिकारी," तो फूल के इस प्रकार किये जाने वाले निर्वचन मे अव्याप्ति दोष आपन्न होता नही। क्योकि सभी पुष्प परागयुक्त ही होते हैं। कली की अवस्था मे भी उनमे अप्रस्फुट रूप से पराग रहता ही है। यह बात नही कही जा सकती कि पराग उसी फूल मे होता है जिसमे सुगन्ध की सत्ता होती है। क्योकि ऐसे फूलो पर भी रस लेने के लिए भौंरो को बैठते हुए देखा जाता है। और यह भी देखा जाता है कि गुलाब और मदार के पेड यदि आसपास हो और दोनो फूले हो तो भौंरे मदार के फूल पर ही बैठते है, गुलाव के फूल पर नही। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि सुगन्धयुक्त फूल मे ही पराग भी हुआ करता है। अत "परागयुक्त होना" यह स्वभाव सभी पुष्पो के लिए समान है इसलिए कोई भी फूल ऐसा मिलेगा नही जिसमे "परागयुक्तता" स्वरूप फूल का लक्षण नही जाये। इस प्रकार यह लक्षण फूल का अव्याप्ति दोष से रहित होता है।

लक्ष्य के अतिरिक्त अलक्ष्य मे भी लक्षण का चला जाना अर्थात् निर्वचन का निर्वचनीयो से अन्य मे भी लागू हो जाना है लक्षण के लिए, निर्वचन के लिए अतिव्याप्ति दोष। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि फूल का निर्वचन यदि कोई इस प्रकार करे कि "जिसका स्पर्श कोमल हो उसे समझना चाहिए फूल" तो फूल का

इस प्रकार किया जाने वाला निर्वचन अतिव्याप्तिदोषयुक्त हो जाता है। क्योकि कोमलता निर्वचनीय फूलो के अतिरिक्त अन्य भी अनेक वस्तुओ मे पायी जाती है। अत फूल का लक्षण बनाया जाने वाला कोमल स्पर्श लक्ष्यभूत फूलो से भिन्न धुनी रूई आदि मे रह जाता है। उक्त "परागयुक्तता" को फूल का लक्षण करने पर जैसा कि ऊपर बतलाया गया है अतिव्याप्तिदोष इसलिए नही हो पाता है कि पराग फूल का ही असाधारण स्वभाव है। वह फूल को छोड कर और किसी मे रह सकता नही। क्योकि मकरन्द, पुष्परस, पराग, ये सभी शब्द है पर्यायवाची अत पराग पुष्परस ही है और कुछ नही। पुष्परस भला फूलो को छोडकर और किसमे रह सकता है? किसी मे नही। इसलिए पुष्प के अतिरिक्त अन्य किसी मे न जाने के कारण "लक्ष्यो अर्थात् निर्वचनीयो को छोड कर औरो मे भी लक्षण का चला जाना है अतिव्याप्तिदोष" यह उक्त "अतिव्याप्ति का निर्वचन" प्रकृत मे लागू होता नही, अतिव्याप्ति की आपत्ति नही हो पाती। फूल का उक्त परागात्मक लक्षण अव्याप्ति की तरह अतिव्याप्ति दोष से भी ग्रस्त होता नही।

लक्षण मे असम्भव दोष तब होता है कि जब कि किया गया लक्षण किसी एक भी लक्ष्य मे समन्वित नही हो पाता। प्रकृत निर्वचन निर्वचनीयो के अन्दर किसी एक भी निर्वचनीय मे लागू होता नही। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि फूल का निर्वचन यदि इस प्रकार किया जाय कि "तरल पदार्थ है फूल" तो यह फूल का निर्वचन हो जाता है "असम्भव" दोषग्रस्त। क्योकि कोई भी फूल कोमल जितना भी क्यो न हो, किन्तु वह जल, दूध, तेल आदि की तरह तरल कभी नही होता है। अत फूल के लक्षणस्वरूप मे उक्त तारल्य-स्वभाव किसी एक भी फूल मे प्राप्त हो सकता नही। "सारे लक्ष्यो मे लक्षण का न जाना, सारे निर्वचनीयो मे निर्वचन का लागू न होना है असम्भव" यह बात ऊपर कही जा चुकी है। जब कि पुष्परसात्मक पराग को फूलो का लक्षण माना जाता है तब अव्याप्ति और अतिव्याप्ति की तरह यह असम्भव दोष भी हो पाता नही। क्योकि ऐसा एक भी फूल नही बतलाया जा सकता जिसमे कि पराग न हो। असम्भव का निराकरण तो एक किसी लक्ष्य मे भी लक्षण के रह जाने पर हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि असम्भव दोष तो तभी खतम हो जाता है जब कि लक्षण किसी एक भी लक्ष्य मे समन्वित हो जाता है। यह परागात्मक पुष्पलक्षण तो सभी फूलो मे विद्यमान पाया जाता है, फिर असम्भव दोष की सम्भावना भी कैसे की जा सकती?

यहा यह ध्यान देने योग्य है कि असम्भव दोष मे कुछ तो अव्याप्ति के साथ सामञ्जस्य देखा जाता है और कुछ अतिव्याप्ति दोष के साथ भी। "लक्षण का लक्ष्य

मे न जाना" यह अव्याप्त एव असम्भूत दोनो प्रकार के लक्षणो मे समान रूप से प्राप्त होता है। परन्तु दोनो मे भिन्नता इस बात को लेकर होती है कि अव्याप्त अर्थात् अव्याप्तिदोपयुक्त लक्षण जहाँ कतिपय लक्ष्यो मे जाता नही, वहाँ असम्भूत अर्थात् असम्भवग्रस्त लक्षण किसी भी लक्ष्य मे समन्वित होता नही। फलत असम्भूत लक्षण सभी लक्ष्यो मे नही रहने वाला होता है। उक्त अव्याप्तिदोपग्रस्त पुष्पलक्षण "सुगन्ध" का अस्तित्व जहाँ कुछ पलाश आदि फूलो मे रहता नही असम्भवदोष-ग्रस्त पुष्पलक्षण उक्त तारल्य किसी एक भी पुष्प मे न रहने के कारण सभी पुष्पो मे नही रहने वाला होता है। अतिव्याप्ति के साथ असम्भव की समानता यह होती है कि लक्ष्य से भिन्न मे असम्भूत लक्षण भी रहता है और अतिव्याप्त लक्षण भी। क्योकि पुष्प का असम्भूत लक्षण तारल्य लक्ष्यभूत फूल से अन्य जल आदि मे जिस प्रकार रहता है अतिव्याप्तिग्रस्त पुष्पलक्षण कोमल स्पर्श भी उसी प्रकार लक्ष्यभूत फूलो से भिन्न धुनी रूई आदि मे रह जाता है। अतिव्याप्तिग्रस्त और असम्भवग्रस्त लक्षणो मे विष-मता यह पायी जाती है कि अतिव्याप्तिदोषग्रस्त लक्षण लक्ष्य से भिन्न मे जिस प्रकार रहता है लक्ष्य मे भी उस प्रकार रहता है। परन्तु असम्भवदोपग्रस्त लक्षण लक्ष्य मे बिलकुल नही रहता। ये अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव लक्षण की परीक्षा के लिए कसौटी हैं। यदि इन तीनो के निकट लक्षण खरा निकला, तीनो दोषो के अन्दर एक भी दोष लक्षण मे प्राप्त हुआ नही तो लक्षण सचमुच लक्षण होता है और यदि इन तीनो दोषो के अन्दर एक भी दोष लक्षण से आ सटा तो वह लक्षण सचमुच अपने लक्ष्य का लक्षण न होकर लक्षणाभास हो जाता है।

इन अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषो मे दोपता का बीज क्या है? क्यो इन्हे दोष माना जाता है? यह जिज्ञासा उदित होने पर उसे इस प्रकार शान्त करना चाहिए कि अव्याप्ति-दोषस्थल मे लक्षणात्मक हेतु "भागासिद्ध" अर्थात् भागासिद्धि नामक दोष से युक्त होने के कारण सत् हेतु नही, हेत्वाभास हो जाता है और अतिव्याप्ति दोषस्थल मे अतिव्याप्त लक्षण व्यभिचारी अर्थात् व्यभिचार-दोषयुक्त हो जाने के कारण सत् हेतु न रह कर हेत्वाभास हो जाता है और असम्भव दोषस्थल मे स्वरूपा-सिद्धि दोप प्राप्त हो आने के कारण लक्षणात्मक हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है। अत सत् हेतु न होकर हेत्वाभास हो जाता है। इसलिए अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और अस-म्भव इनको लक्षण के लिए दोष माना जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लक्षण का प्रयोजन है "व्यावृत्ति" एव "व्यवहार"। "व्यावृत्ति" का अभिप्रेत अर्थ है इतर भेद की अनुमिति और "व्यवहार" का अभिप्रेत अर्थ होता है व्यवहरणीयता की फलत वाच्यता की अनुमिति। इन द्विविध अनुमितियो का सम्पादक हेतु लक्षण ही

हुआ करता है, और कोई नही। इतर भेद की अनुमिति होगी "फूल—फूल से अन्य होने वाली सारी सासारिक वस्तुओ से अन्य है अर्थात् उन सारी वस्तुओ से भिन्न है क्योकि परागयुक्त है" इस प्रकार। इस प्रकार होने वाली अनुमिति सद-नुमिति ही नियमत होगी। क्योकि हेतुभूत पराग पक्षभूत सारे फूलो मे विद्यमान होता है अत न यहाँ भागासिद्धि दोष उपस्थित होता है और न स्वरूपासिद्धि दोष। क्योकि पक्षा-न्तर्गत एक या एकाधिक धर्मी मे हेतु का न रहना ही स्वरूपासिद्धि दोष होता है। प्रकृत मे हेतुभूत "पराग" पक्षभूत सारे फूलो मे जो कि उक्त परागात्मक पुष्प-लक्षण के लक्ष्य भी होते है उनमे, रहता ही है। अत किसी भी पक्षान्तर्गत धर्मी मे अर्थात् फूल मे उस परागात्मक हेतु का अभाव रहता नही कि उसे पुष्पो मे पुष्पो से अन्य सारी सासारिक वस्तुओ के भेद की अनुमिति के समय भागासिद्ध या स्वरूपासिद्ध कहा जा सके। उक्त पुष्प मे पुष्पेतर-भेद की अनुमिति-स्थल मे हेतुभूत उक्त पराग को व्यभिचारी अर्थात् व्यभिचार नामक दोषयुक्त इसलिए नही कहा जा सकता कि "साध्य जिस आधार मे रहे नही वहाँ हेतु का रह जाना ही होता है हेतुगत व्यभिचार दोष।" जब फूल का लक्षण "पराग" उन अपने लक्ष्यभूत सारे फूलो मे रहता है, जहाँ कि लक्षण के प्रयोजनीभूत पुष्पेतर-भेद की उक्त प्रकार अनुमिति मे साध्यभूत पुष्पेतर-भेद अर्थात् फूलो से अन्य होने वाली सारी सासारिक वस्तुओ का भेद भी नियमत रहता ही है। और फूल को जो कि लक्ष्य और उक्त प्रकार अनुमिति का पक्ष भी है छोडकर अन्यत्र कही भी, जहाँ कि उक्त प्रकार पुष्पेतर-भेदात्मक साध्य रहता नही यह लक्षण एव हेतु होने वाला पराग रहता नही तब कैसे उसे व्यभिचारी कहा जा सकता ? अत अतिव्याप्ति का मूल-भत व्यभिचार दोष भी है नही। इसलिए परागात्मक पुष्प-लक्षण सही, निर्दोष होता है।

परन्तु ऐसी अपेक्षित उचित परिस्थिति अव्याप्त, अतिव्याप्त एव असम्भूत लक्षण-स्थल मे हो नही हो पाती। क्योकि उक्त प्रकार अव्याप्ति-दोषग्रस्त फूल का सुगन्ध-लक्षण जो कि पुष्पेतर भेद की अनुमिति का सम्पादक हेतु बनेगा पक्षभूत सारे फूलो मे रह नही पाता। यत दुर्गन्ध या निर्गन्ध पलाश आदि फूलो मे सुगन्ध का अस्तित्व पाया जाता नही। इसलिए "फूल—फूल से भिन्न होने वाली सारी वस्तुओ से भिन्न है क्योकि सुगन्धयुक्त है" इस पुष्पेतर भेद की अनुमिति करते समय हेतुरूप से विवक्षित होने वाली सुगन्ध पक्षभूत समस्त फूलो के अन्दर गृहीत होने वाले पलाश आदि कतिपय फूलो मे रहेगी नही। अत "पक्षान्तर्गत कुछ धर्मियो मे हेतु का नही जाना है हेतुगत भागासिद्धि दोष" भागासिद्धि के इस निर्वचन के अनुसार उक्त सुगन्धात्मक हेतु सत-हेतु न होकर हेत्वाभास हो जायगा। अत फूलो मे अपेक्षित इतर-भेद की उक्त प्रकार अनुमिति के सम्पादन मे क्षम नही हो पायेगा। अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त पुष्पलक्षण उक्त "कोमल स्पर्श" भी इसी

प्रकार अपने लक्ष्य रूप मे ग्राह्य फूलो मे उक्त प्रकार पुष्पेतर भेद की अनुमिति का सम्पादन करने मे इसलिए अक्षम हो बैठता है कि वह व्यभिचार-दोषग्रस्त हो जाता है। क्योकि पुष्पेतर-भेदात्मक साध्य जिन धुनी रूई आदि मे जाता नही कोमलस्पर्शात्मक हेतु वहाँ भी चला जाता है। "साध्य जहाँ न जाये वहाँ भी हेतु का चला जाना है" व्यभिचार दोष, यह पहले भी कहा गया है और अवसर आने पर विस्तृत रूप मे आगे चल कर भी विवेचन किया जायगा। इसी प्रकार फूल का असम्भव-दोषग्रस्त-लक्षण "तारल्य" फूलो मे पुष्पेतर भेद की अनुमिति के सम्पादन मे समर्थ इसलिए नही हो पाता है कि लक्ष्यात्मक पक्ष मे, फलत फूलो मे, विलकुल न जाने के कारण स्वरूपासिद्ध हो जाता है। सारे पक्षो मे हेतु का न जाना ही होता है स्वरूपासिद्धि दोष और उससे युक्त हेतु कहलाता है स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन दोषो के इस प्रासगिक विवेचन का सार अर्थ यह प्राप्त है कि इन तीनो को लक्षण-दोष इसलिए माना जाता है कि इनके होते हुए लक्षण की प्रयोजन-सिद्धि ही हो नही पाती। क्योकि प्रयोजनसाधक लक्षण स्वय दुष्ट हेत्वाभास बन जाता है। अत प्रत्येक निर्वक्ता को किसी भी वस्तु के निर्वचन के समय इन दोषो से सावधान रहना चाहिए। अन्यथा वह निर्वचन वस्तुत निर्वचनीय वस्तु का निर्वचन नही कहला सकता। उसे निर्वचनाभास ही होना होगा। और उस निर्वचनाभास का कुफल केवल यही नही होगा कि वह व्यर्थ होगा। यह महान् कुफल उससे और प्राप्त होगा कि उस निर्वचनाभास के आधार पर परवर्ती लोगो के अन्दर वहुत लोग अपने क्रियामार्ग पर प्रवृत्त हो सकते हैं और उनकी वे प्रवृत्तियाँ निष्फल या अनभिमत-फलक हो सकती हैं। जिसका पूरा दायित्व उस प्रथम निर्वक्ता के ऊपर ही आ गिरेगा।

इस प्रासङ्गिक अव्याप्ति आदि के विवेचन के पूर्व यह बात बतलायी जा चुकी है कि "साध्य का अभाव जहाँ निरवच्छिन्न-भाव से रहे वहाँ हेतु का न रहना ही है हेतुगत साध्य की व्याप्ति।" इस प्रकार अव्यभिचारात्मक व्याप्ति का स्वरूप मान लेने पर पक्ष मे साध्य के नियामक सम्बन्व सयोग की अव्याप्यवृत्तिता के कारण जो "पर्वत आग वाला है क्योकि धूम वाला है" इस प्रकार अनुमिति स्थल मे अव्याप्ति-दोष होता या वह निवारित हो गया। क्योकि सयोग सम्वन्ध की अव्याप्यवृत्तिता के कारण जो पर्वत मे भी प्रदेश विशेष को लेकर आग का अभाव बतलाया जाता है वह प्रादेशिक होने के कारण पर्वत मे निरवच्छिन्न-भाव से रहने वाला होता नही और जो जलाशय आदि आधार निरवच्छिन्न-भाव से आग के अभाव के आधार होते हैं, वहाँ धूम नही ही रहता है।

कुछ लोगो का कहना यह है कि उक्त प्रकार अव्याप्तिदोष के वारण के लिए उपाय-रूप मे यही क्यो न कहा जाय कि "साध्यवान् से अन्य मे हेतु का न रहना ही है

अव्यभिचारात्मक व्याप्ति।"[५४] व्याप्ति के इस निर्वचन-पक्ष मे उक्त दोष इसलिए निवारित हो जाता है कि जो एकदेशत भी साध्यवान् होगा वह किसी प्रकार साध्यवान् से अन्य नही हो सकता। ऐसी परिस्थिति मे उक्त पर्वतपक्षक और अग्निसाध्यक तथा धूमहेतुक अनुमान-स्थल मे पक्षभूत पर्वत जब कि किसी प्रकार एकदेशत ही सही अग्निमान् हो जाता है तो उसे अग्निमान् से अन्य किसी भी प्रकार नही कहा जा सकता। अत अग्निमान् पर्वत आदि से भिन्न रूप से हाथ मे जलाशय आदि ही आ सकते है जिनमे धूमहेतु भी रहता नही। इस कथन का सरल अभिप्राय यह ज्ञातव्य है कि भिन्नता कभी अव्याप्यवृत्ति अर्थात् अशवृत्ति नही हो सकती। क्योकि भिन्नता और अभिन्नता ये दोनो इस प्रकार आपस मे अत्यन्त विरुद्ध है कि कभी किसी प्रकार एक जगह रह नही सकती। इसलिए सयोगसम्बन्ध से आग पर्वत मे रहने के कारण जब कि पर्वत वह्निमान् अर्थात् वह्निवाला होता है तो कभी किसी प्रकार वह वह्निमान् से अन्य नही कहा जा सकता और जो जलाशय आदि उक्त प्रकार अन्य होते है उनमे सचमुच धूम हेतु रहता नही।

अन्य कुछ लोग—ज्ञाप्य साध्य और ज्ञापक हेतु इनके बीच विद्यमान अव्यभिचार-सम्बन्ध की व्याख्या इस प्रकार करते है कि "साध्य का अभाव जहाँ-जहाँ रहे वहाँ-वहाँ अवश्य रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होना"[५५] है हेतुगत साध्य की व्याप्ति। जिस वस्तु का अभाव ग्राह्य रूप से लिया जाय वह वस्तु कहलाती है अभाव का प्रतियोगी। प्रतियोगी की यह परिभाषा इसलिए सर्वथा व्यावहारिक है कि "प्रतियोगी" का अर्थ है विरोधी और प्रतियोगिता का अर्थ विरोध, यह जनसाधारण मे भी अति पसिद्ध है।

व्याप्ति का यह निर्वचन उक्त अनुमान स्थल मे इस प्रकार समन्वित होता है कि साध्यभूत अग्नि का अभाव जहाँ-जहाँ जलाशय आदि मे रहता है वहाँ-वहाँ हेतुभूत धूम का भी अभाव रहता है। अत उक्त निर्वचनगत द्वितीय अभाव पद से ग्राह्य अभाव धूम का अभाव भलीभाँति हो पाता है और उस अभाव का प्रतियोगी धूमहेतु हो जाता है। "तप्त लोहपिण्ड धूम वाला है क्योकि आग वाला है" इस प्रकार व्यभिचारी असत् अनुमान स्थल मे हेतुभूत आग मे धूमात्मक साध्य की यह व्याप्ति इसलिए नही जा पाती है कि धूम के अभाव का आधार विद्युत् तप्त लोह आदि भी होते है किन्तु वहाँ आग रहती ही है आग का अभाव रहता नही। अत निर्वचन के अन्दर आये हुए द्वितीय अभाव

(५४) साध्यवद्भिन्न-साध्याभाववदवृत्तित्वम् ।२। —व्याप्तिपचक।
(५५) सकलसाध्याभाववन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ।४। —व्याप्तिपञ्चक।

पद से आग का अभाव गृहीत हो पाता नही, इसलिए वैसा अभाव होता है कच्ची लकडी आदि के सयोग का अभाव, उसका प्रतियोगी आग नही हो पाती जिसे कि हेतु बनाया गया होता है। उक्त अन्य व्याप्ति के कथन और ज्ञान के स्वरूप से इस व्याप्ति के कथन और ज्ञान के स्वरूप मे अन्तर होने के कारण व्याप्ति के इस प्रकार किये जाने वाले निर्वचन को पूर्वकृत निर्वचनो से अन्य मानना पडता है। परिस्थिति तो वही रहती है कि साध्य जहाँ रहे नही वहाँ हेतु भी नियमत न रहे यह हेतु के साध्य-व्याप्त होने के लिए नितान्त आवश्यक है। इसका व्यतिक्रम कही भी देखे जाने पर हेतु को साध्य के प्रति व्याप्य नही समझा जा सकता। साथ ही साध्य को वैसे हेतु के प्रति व्यापक भी नही कहा जा सकता। क्योकि व्याप्यता और व्यापकता ये परस्पर-निरूप्य अर्थात् सापेक्ष हुआ करती है। धूम यदि आग के प्रति व्याप्य-रूप से ज्ञात नही होगा तो आग उस धूम के प्रति व्यापक रूप से ज्ञात नही हो सकती।

नव्य नैयायिको ने इस सम्बन्ध मे यह कहा कि उक्त प्रकार अव्यभिचार को व्याप्ति नही माना जा सकता। क्योकि "घडा अभिधेय है क्योकि प्रमेय है" इत्यादि अनु-मान स्थलो मे प्रमेयतास्वरूप हेतु मे अभिधेयतास्वरूप साध्य की व्याप्ति नही बन पायेगी। यह इसलिए कि उक्त अनुमान स्थल मे साध्य है अभिधेयता जो कि ससार मे सर्वत्र रहती ही है। "अभिधेय" का अर्थ होता है किसी-न-किसी शब्द से कहा जाने वाला। ससार मे ऐसी भला कौन-सी वस्तु हो सकती, जो कि किसी नाम से पुकारी न जाती हो, कही न जाती हो ? अत ससार की प्रत्येक वस्तु है अभिधेय। इसलिए साध्यभूत अभिधेयता सर्वत्र रहती ही है। उसका अत्यन्ताभाव या उसके आश्रय का अन्यो-न्याभाव कही रह नही पायेगा। परिस्थिति यह होगी कि "जहाँ साध्य न रहे वहाँ हेतु का न रहना है व्याप्ति" इस विहित निर्वचन के अन्दर आया हुआ जहाँ साध्य न रहे ऐसा आधार ही अप्रसिद्ध हो उठेगा, इसलिए उक्त निर्वचन के अनुसार प्रमेयतास्वरूप हेतु मे उक्त व्याप्ति जा नही पायेगी। अव्याप्ति के उक्त निर्वचन के अनुसार अव्याप्ति दोष अनिवार्य हो आता है। अत व्याप्ति का उक्त प्रकार निर्वचन करके उसका इस प्रकार निर्वचन करना चाहिए कि "हेतु[५६] के आश्रय मे रहने वाले अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी अर्थात् प्रतियोगी न होने वाले साध्य के आधार मे रहना ही है हेतु मे साध्य की व्याप्ति। "पर्वत अग्नि वाला है क्योकि धूम वाला है" इस प्रकार सत्

(५६) अत्रोच्यते। प्रतियोग्यसमानाधिकरणहेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियो-गितावच्छेदकावच्छिन्न यन्न भवति तेन सम तस्य सामानाधिकरण्य व्याप्ति।
—गगेशोपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि, सिद्धान्तलक्षण।

अनुमान स्थल मे हेतुभूत धूम के किसी भी आधार मे आग का अत्यन्ताभाव पाया जा सकता नही अत उक्त प्रकार अत्यन्ताभाव गृहीत होगा साध्यभूत अग्नि से भिन्न घडे, कपडे आदि का ही अत्यन्ताभाव, जिसका प्रतियोगी साध्य अग्नि कभी होगा नही। इसलिए उक्त अप्रतियोगी साध्यरूप मे अग्नि का ग्रहण अनायास होगा और ऐसी आग के पर्वत आदि आधार मे धूमहेतु रहता ही है। इसलिए व्याप्ति का निर्वचन अव्याप्ति-दोषाक्रान्त होगा नही। अतिव्याप्ति दोष की भी सम्भावना इसलिए हो पाती नही कि 'यह पर्वत धूम वाला है क्योकि आग वाला है" इत्यादि असत् अनुमान स्थल मे हेतुभूत आग के आधार तप्त लोह मे साध्य धूम का अभाव अनायास पाया जाता है। इसलिए साध्य धूम, हेतु आग के आधार मे रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी ही हो जाता है, अप्रतियोगी हो पाता नही। अत तादृश अप्रतियोगी साध्य के आधार मे हेतु रह पाता नही। हेतुभूत आग मे धूम की यह व्याप्ति जा पाती नही। सुतरा अलक्ष्य मे लक्षण गमन हो पाता नही, जिसे कि अतिव्याप्ति का स्वरूप विस्तृत रूप मे बतलाया गया है। जहाँ अव्याप्ति दोष होता नही असम्भव दोष की सम्भावना वहाँ नियमत रहती नही। अत असम्भव दोष भी नही हो सकता इस व्याप्ति के निर्वचन मे। इन तीनो दोषो से शून्य असाधारण धर्म ही कहलाता है लक्षण, इसके अनुसार "हेतु के आधार मे रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी न होने वाले साध्य के आधार मे रहना" लक्ष्यभूत सत् हेतु मे जाता है और असत् हेतुस्वरूप अलक्ष्य मे जाता नही तो इसे ही व्याप्य रूप से विवक्षित हेतु मे व्याप्ति मानना चाहिए।

यदि इस व्याप्ति के सम्बन्ध मे भी यह प्रश्न उठाया जाय कि सयोगसम्बन्ध पूर्ववर्णित रूप मे होता है अव्याप्यवृत्ती। और सम्बन्ध अव्याप्यवृत्ती होने पर उस सम्बन्ध से रहने वाला भी होता है नियमत अव्याप्यवृत्ती। इसलिए अग्नियुक्त पर्वत मे भी हिमावृत शिखर प्रदेश मे सयोग सम्बन्ध से आग न रहने के कारण आग का अभाव रहता ही है, अत साध्य आग धूम के आधार पर्वत मे रहने वाले अपने अभाव का प्रतियोगी ही हो जाती है, अप्रतियोगी हो पाती नही। सुतरा निरुक्त अप्रतियोगी साध्य न मिल सकने के कारण उक्त प्रकार व्याप्ति सत् हेतु धूम मे जा सकती नही, अव्याप्ति दोष इस प्रकार अनिवार्य हो जाता है। फिर नव्य नैयायिक कृत यह व्याप्ति का निर्वचन कैसे सगत कहा जा सकता है? तो इसका उत्तर उक्त लक्षणवादी यह दे सकते है कि व्याप्ति के उक्त निर्वचन के अन्दर आनेवाले अत्यन्ताभाव को जहाँ "हेतु के आश्रय मे रहने वाला" होना अनिवार्य बताया गया है वहा यह कहना चाहिए कि "हेतु के आश्रय मे निरवच्छिन्न रूप से रहने-वाला।" ऐसा कह देने पर पूरे निर्वचन का स्वरूप यह हो आयगा कि 'हेतु के आधार मे निरवच्छिन्न रूप मे रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी न होने वाले साध्य के आधार

मे रहना है हेतुगत साध्य की व्याप्ति" । अब उक्त अव्याप्ति दोष इसलिए आपन्न नहीं हो पायेगा कि हेतुभूत धूम के आधार पर्वत मे आग का अभाव निरवच्छिन्न रूप से रहता नहीं । क्योकि उस पर्वत मे किसी प्रदेश मे आग भी रहती ही है फिर निरवच्छिन्न रूप से उस पर्वत मे रहने वाला अभाव ऐसी ही वस्तुओं का लिया जा सकेगा जो कि निरवच्छिन्न-कुल पर्वत मे रहेगा ही नही । सुतरा वैसे अभाव का अप्रतियोगी साध्य आग हो जायगी और उसके आधार पर्वत आदि मे धूमहेतु रहेगा ही । नव्य-नैयायिक-कृत व्याप्ति के इस निर्वचन का सरल अभिप्राय यह होता है कि हेतु के प्रति व्यापक होने वाले साध्य के आधार मे हेतु का रहना ही है हेतु मे साध्य की व्याप्ति । जिसके आधार में जिसका अभाव पाया जाता नही उसके प्रति वह कहलाता है व्यापक । धूम के आधार पर्वत मे उक्त प्रकार निरवच्छिन्न-भाव से आग का अभाव रह पाता नहीं इसलिए धूम के प्रति आग होती है व्यापक और उस व्यापकभूत साध्य आग के आधार में धूम रहता है इसलिए धूम आग का व्याप्य होता है । उसमे आग की व्याप्ति रह जाती है ।

इसीको अन्य प्रकार से भी कहा जा सकता है यथा "हेतु के समग्र आश्रयो मे रहने वाले साध्य के आधार में रहना"[५७] ही है व्याप्ति जो कि सत् हेतु मे अवश्य रहती है । क्योकि उसीके रहने के कारण हेतु सत् हेतु होता है । "पर्वत आग वाला है क्योकि धूम वाला है" इस सत् अनुमान स्थल मे साध्य आग धूम के समग्र आश्रयो मे रहती ही है और ऐसे साध्यभूत आग के आधार पर्वत आदि मे धूमहेतु रहता ही है, अत उक्त निर्वचन के अनुसार भी धूमहेतु पर साध्य आग की व्याप्ति रहती ही है । इसी प्रकार अन्य सत् अनुमान स्थल मे भी इस व्याप्तिनिर्वचन के लागू होने के कारण इस निर्वचन मे भी अव्याप्ति या असम्भव दोष नही आपन्न किया जा सकता । अतिव्याप्ति दोष की सम्भावना इसलिए नहीं की जा सकती कि "पर्वत धूम वाला है क्योकि आग वाला है" इस असत् अनुमान स्थल मे हेतु आग मे साध्य धूम की व्याप्ति जा पाती नहीं । क्योकि प्रकृत साध्य धूम, हेतुभूत आग के समग्र आश्रयो मे रह कहाँ पाता है ? क्योकि विद्युत् तप्तलोह आदि अग्नि के आश्रय मे धूम रह पाता नही । यदि साध्य धूम, हेतु आग के समग्र आश्रयो मे रहता और ऐसे धूम के आश्रय मे आग रहती तब आग मे धूम की व्याप्ति आपन्न की जा सकती । परन्तु परिस्थिति ऐसी है नही । हेतु आग के आश्रय विद्युत् आदि मे धूम रहता नही । फलत अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनो निर्वचन दोषो के न हो सकने के कारण व्याप्ति का यह निर्वचन अनेक नव्य विवेचको को सुन्दर जँचता है ।

(५७) **व्याप्तिश्चाशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा ।**

—वेदान्त-परिभाषा, अनुमानपरिच्छेद ।

हेतु मे रहने वाली साध्य की इस व्याप्ति को विवेचको ने विभिन्न प्रकार से एव विभिन्न शब्दो से कहा है। किसी एक विवेचक ने इस व्याप्ति को यदि "नियम" कहा है तो दूसरे ने इसे "प्रतिबन्ध" नाम से पुकारा है। अन्य किसी ने यदि व्याप्ति को "अविनाभाव" कहा है तो और किसी ने कहा है इसे "अनौपाधिक सम्बन्ध"। व्याप्ति को नियम कहने वाले का अभिप्राय यहाँ अव्यवहित पूर्वकथित व्याप्तिनिर्वचन के अधिक निकट प्रतीत होता है। क्योकि उक्त निर्वचन मे हेतु के प्रत्येक आश्रय मे साध्य के रहने का नियम और इस नियम से आक्रान्त साध्य के किसी-न-किसी आश्रय मे हेतु के रहने का नियम लब्ध होता है। इस व्याप्ति को "प्रतिबन्ध" शब्द से कहने वाले का अभिप्राय "व्याप्य-व्यापक-भाव" का निकटवर्ती प्रतीत होता है। क्योकि "प्रतिबन्ध" शब्द का यौगिक अर्थ होता है प्रत्येक का सम्बन्ध। फलत साध्य और हेतु के बीच होने वाला पारस्परिक सम्बन्ध। हेतु और साध्य इन दोनो के बीच पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक-भाव होता ही है। क्योकि सत् हेतुगत व्याप्यता-निरूपित-व्यापकता जाती है सत्हेतुक-स्थलीय साध्य मे और साध्यगत-व्यापकता-निरूपित-व्याप्यता आती है सत् हेतु मे। व्याप्य-व्यापक-भाव और निरूप्य-निरूपकभाव आदि का सक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है। उसके द्वारा यहाँ भी समझने मे सरलता प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस अभिप्राय की ओर गहराई से ध्यान देने पर अस्पष्ट रूप मे यह भी आभास मिलता हुआ-सा प्रतीत होता है कि व्याप्ति अर्थ मे प्रतिबन्ध शब्द के प्रथम प्रचलन के समय प्रचालयिता ने मानो जैसे व्यापकता और व्याप्यता अर्थात् व्याप्ति को एक-एक स्वतन्त्र ही पदार्थ मानना चाहा हो। व्याप्ति को अविनाभाव कहते समय सबसे पहले आनेवाले "अ" का अर्थ समझना चाहिए 'न' अर्थात् नही और इसका अन्वय अर्थात् सम्बन्ध 'भाव' के साथ समझना चाहिए। तदनुसार "साध्य के विना हेतु का नही होना है हेतु मे साध्य की व्याप्ति" यह प्राप्त होता है। यहाँ 'भाव' इस शब्द का अभिप्रेत अर्थ बौद्ध-दृष्टिकोण से तादात्म्य और उत्पत्ति ये दोनो विवक्षित होगे। इसीलिए बौद्ध लोग व्याप्ति को तादात्म्य और उत्पत्तिमूलक मानते हैं। किन्तु नैयायिक दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृत 'भाव' शब्द का अर्थ उत्पत्ति और अस्तित्व ये दोनो विवक्षित होगे और प्रकृत "अस्तित्व" को तादात्म्यमूलक और तद्भिन्न सम्बन्ध-मूलक इस प्रकार दो प्रभेदो मे विभक्त समझना होगा। आग से धूम की उत्पत्ति होती है और आग के विना धूम होता नही इसलिए धूम मे आग का अविनाभावसम्बन्ध सम्पन्न होता है। और "यह पेड है क्योकि सीशम है" इस प्रकार सत् अनुमान स्थल मे हेतु सीशम मे साध्य पेड का तादात्म्य होता है, अत वहाँ तादात्म्यस्वरूप अथवा तन्मूलक व्याप्ति बौद्ध सिद्धान्त मे हो पाती है। न्यायवैशेषिक सिद्धान्त मे अस्तित्वस्वरूप भाव का तादात्म्यस्वरूप और तद्भिन्न सम्बन्धस्वरूप इन दो विभागो मे विभक्त करने

का अभिप्राय यह है कि "फूल द्रव्य है क्योकि पार्थिव है" इस प्रकार अनुमान स्थल मे साध्य द्रव्यत्व का हेतु पार्थिवत्व मे न तादात्म्य है और न द्रव्यत्व से उत्पत्ति ही होती हे पृथिवीत्व की। अत "अविनाभाव" के अन्दर "भाव" का अर्थ तादात्म्य भिन्न सम्बन्ध रूप भी मान्य होता है। इसलिए समवायसम्बन्ध से पार्थिवत्व का अस्तित्व वहाँ ही सम्भव हो सकता है जहाँ समवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्व रहता है। परवर्त्ती व्याप्तिविवेचको की विचारधारा की ओर दृक्पात करने पर प्रतीत ऐसा होता-सा लगता है कि वे अविनाभाव के अन्दर आने वाले "भाव" शब्द का अर्थ अस्तित्व मात्र ही मानते हो। इसीलिए कुछ लोगो ने साहचर्य-नियम अर्थात् नियत-साहचर्य को ही व्याप्ति कहा है। साहचर्य का अर्थ होता है एक आश्रय मे अस्तित्व। धूम और आग के बीच भी इसीलिए व्याप्तिसम्बन्ध स्थापित होता है कि दोनो का अस्तित्व सयोग-सम्बन्ध से एक पर्वत आदि आश्रय मे होता है और उक्त तादात्म्यमूलक स्थल मे भी जब कि तादात्म्य को सम्बन्ध माना जाता है तब दोनो का एकत्र तादात्म्यसम्बन्ध से अस्तित्व होता ही है। अत उत्पत्ति और तादात्म्यमूलक न मान कर अस्तित्वमूलक ही मानना उचित है यह उनका गभीर आशय प्रतीत होता है।

जो लोग "अनौपाधिक सम्बन्ध" को व्याप्ति कहते है उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि किन्ही दो वस्तुओ का सामानाधिकरण्य दो प्रकारो से होता पाया जाता है। एक प्रकार तो ऐसा होता है कि दोनो स्वत एक जगह अवस्थित प्रतीत होते हैं और दूसरा वह सामानाधिकरण्य पाया जाता है जहाँ समानाधिकरण दोनो के अन्दर अन्तत एक अवश्य किसी अन्य की उपस्थिति के कारण उपस्थित होता है। लौकिक परिस्थिति को सामने रख कर इसे यो समझा जा सकता है—जैसे राम और श्याम यदि स्वत अपनी इच्छा से कही एकत्र उपस्थित हुए है तो यह उन दोनो के एकत्रस्थितिस्वरूप उन दोनो का सामानाधिकरण्य स्वत होने के कारण अनौपाधिक अर्थात् अन्यानपेक्ष फलत अन्यप्रयुक्त न होनेवाला कहा जायगा। और उक्त समानाधिकरण अर्थात् एकत्र अवस्थित राम और श्याम के अन्दर कोई एक यदि स्वत अपनी ही इच्छा से दूसरे के साथ उस एक स्थान पर उपस्थित नही होता है किन्तु 'काम' नामक किसी तृतीय प्रभावशाली व्यक्ति की वहाँ उपस्थिति के कारण उपस्थित रहने के लिए बाध्य होता हुआ उपस्थित होता है तो राम और श्याम इन दोनो के बीच होने वाले सामानाधिकरण्य को "औपाधिक" ही कहना होगा। क्योकि इस प्रकार होने वाला राम और श्याम का सामानाधिकरण्य अर्थात् एकत्र अवस्थान अन्यप्रयुक्त अर्थात् अन्यव्यक्ति, काम की अवस्थिति के कारण होता है, स्वत नही। तद्वत् "यह पर्वत आग वाला है क्योकि धूम वाला है" इस प्रकार अनुमान स्थल मे परिस्थिति यह होती है कि धूम के आधारभूत पर्वत आदि मे आग की उपस्थिति स्वत

होती है। ऐसा नही होता है कि धूम वहाँ रहता है और आग किसी अन्य की उपस्थिति-प्रयुक्त उपस्थित होती है। अत धूम मे होने वाला आग का सामानाधिकरण्य होता है स्वाभाविक, औपाधिक नही। परन्तु जब कि "यह पर्वत धूम वाला है क्योकि आग वाला है" इस प्रकार अनुमान किया जाता है तो आग को प्राप्त होने वाला धूम का सामानाधिकरण्य नियमत स्वाभाविक होता नही। क्योकि तप्त लोह आदि आग के आधार मे धूम बिलकुल हो ही नही सकता। यह परिस्थिति सार्वदिक न होने पर भी यह मानना ही होगा कि वहाँ धूम तभी होगा जब कि वहाँ किसी प्रकार किसी जलसम्पृक्त लकडी, तृण, फूस आदि का सम्पर्क प्राप्त हो। अत आग के आधार मे होने वाला धूम का अस्तित्व और तत्प्रयुक्त होने वाला वह अग्निगत धूम का सामानाधिकरण्य स्वत न होकर अन्य गीली लकडी, कच्चे तृण आदि की उपस्थितिप्रयुक्त ही होने के कारण अन्यप्रयुक्त होगा। इसलिए आग मे होने वाला धूम का सामानाधिकरण्य औपाधिक हो जाता है, स्वत होने वाला नही हो सकता है। इसलिए इस सामानाधिकरण्य को अनौपाधिक नही कहा जा पाता है। अत धूम आग का व्याप्य हो पाता है किन्तु आग धूम का व्याप्य नही हो पाती। सामानाधिकरण्य अर्थात् दो के एकत्र अवस्थान को ही "सम्बन्ध" पद से अभिप्रेत रख कर व्याप्ति को अनौपधिक-सम्बन्ध कहा जाता है।

सभव है कुछ लोग यहाँ इस प्रकार प्रश्न उपस्थित करे कि पर्वत आदि अग्नि के आधार मे धूम जिस प्रकार निजी कारण से उत्पन्न होता है तप्त लौह आदि मे भी धूम निजी कारण से ही होता है फिर धूम मे होने वाले आग के सामानाधिकरण्य को अनौपाधिक और आग मे होने वाले धूम सामानाधिकरण्य को औपाधिक क्यो कहा जाय ? तो इसका उत्तर यह दिया जायगा कि प्रकृत सामानाधिकरण्य का अर्थ होता है हेतु मे साध्य का सामानाधिकरण्य। उसके अन्दर देखना यह होता है कि हेतु के आधार मे साध्य की उपस्थिति मे किसी और का तो हाथ नही है ? यदि साध्य की उपस्थिति मे और का हाथ पाया जाता है जैसा कि "यह धूम वाला है क्योकि आग वाला है" इस प्रकार असत् अनुमान-स्थल मे आग मे होने वाले धूम के सामानाधिकरण्य को औपाधिक बतलाया गया है इसलिए कि वहाँ साध्यभूत धूम का अस्तित्व कच्ची लकडी आदि अन्य के सहयोग से हेतुभूत आग के अस्तित्वप्रयुक्त होता है और "पर्वत आग वाला है क्योकि धूम वाला है" इस सदनुमान स्थल मे परिस्थिति ऐसी नही होती है। क्योकि वहाँ धूम के आधारभूत पर्वत आदि मे साध्यभूत आग का अस्तित्व अन्य कोई या तत्सहकृत हेतुभूत धूम के अस्तित्वप्रयुक्त होता नही। इस प्रकार होने वाले अनौपाधिक-सम्बन्ध को ही जगह-जगह विधिमुख रूप मे "स्वाभाविक-सम्बन्ध" भी कहा गया है। सम्भवत ऐसे कहने वाले सामानाधिकरण्यात्मक सम्बन्ध को "स्वाभाविक" और "अस्वाभाविक" इन दो नामो के द्वारा विभक्त किया

है। औपाधिक ही उनकी दृष्टि मे "अस्वाभाविक" कहलाने का अधिकारी होता है। इस प्रकार विस्तृत-भाव से व्याप्ति-विवेचन के अनन्तर हृदय मे इस जिज्ञासा का उदित होना अस्वाभाविक नही कि चार्वाकीय-दृष्टिकोण इस व्याप्ति के सम्बन्ध मे क्या हो सकता है ? तो इस सम्बन्ध मे यही उचित प्रतीत होता है कि "साध्य जहाँ न रहे वहाँ हेतु का न रहना" इसे ही हेतु मे साध्य की व्याप्ति माना जाय। क्योकि यह सर्वाधिक रूप से व्याप्ति होने के लिए उचित रूप मे वुद्धिपथ पर अवतीण होता-सा प्रतीत होता है। यहाँ भी जिज्ञासा उदित होने पर इसे यो समझना चाहिए कि हेतु मे साध्य की व्याप्ति के निर्णय से हेतु मे साध्य के व्यभिचार का सशय एव निर्णय दोनो कट जाते है। जिसका सुफल यह होता है कि पक्ष मे साध्य के निश्चय का कण्टकाकीर्ण मार्ग कण्टकरहित अतएव प्रशस्त हो उठता है यह वात सभी व्याप्तिविवेचको को मान्य है। और यह भी सभी व्याप्तिविवेचको को मान्य है कि व्याप्ति का निर्णय व्यभिचार की वुद्धि को "बाध मुद्रा" से ही रोक डालता है अथवा काट डालता है। अर्थात् किसी वस्तु के सम्बन्ध मे "हाँ" यह निश्चय जैसे "ना" इस बुद्धि को रोक अथवा काट डालता है, या "ना" यह निश्चय जैसे "हाँ" इस बुद्धि को, व्यभिचार का निश्चय तैसे ही व्याप्ति की वुद्धि को एव व्याप्ति का निश्चय व्यभिचार की बुद्धि को काटता है। इस वस्तुस्थिति के आधार पर यह भी मानना ही चाहिए कि "हाँ" और "ना" की तरह व्याप्ति एव व्यभिचार इन दोनो के स्वरूप आपस मे स्पष्ट विरुद्ध हो। हेतुगत व्यभिचार का स्वरूप लोकप्रसिद्ध "व्यभिचार दोष" के अनुरूप हो यह अवश्य युक्तिसगत कहा जायगा। इसलिए "हेतु का वहाँ भी चला जाना अर्थात् प्राप्त होना, जहाँ कि उसका अपना साध्य न रहता हो" इसे ही हेतुगत व्यभिचार दोष मानना चाहिए। इस हेतुगत व्यभिचार के स्वरूप को लोकानुगति इस-लिए प्राप्त होती है कि अनुचित लौकिक व्यभिचार दोष का भी तो स्वरूप यही होता है कि स्त्री एव पुरुष इन दोनो के अन्दर प्रत्येक एक ऐसे व्यक्ति के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेता है जो उसका वस्तुत अपना होता नही। यदि बारीकी के साथ देखा जाय तो यह अनायास स्पष्ट प्रतीत होगा कि साध्य के हेतुगत व्यभिचार स्थल मे भी होने वाली परिस्थिति इसी परिस्थिति से मिलती-जुलती होती है। क्योकि साध्य के अस्तित्व स्थल को ही अपना उचित स्थान समझ कर हेतु को रहना चाहिए। परन्तु वह जव इस औचित्य का उल्लघन कर के वहाँ भी अपना अस्तित्व स्थापित करता है जो स्थान साध्य का न होने के कारण उसका अपना होता नही तव वह व्यभिचारी हो जाता है। यह कहना उचित और युक्ति सगत नही कहा जा सकता कि "प्रकृत विवेच्य वौद्ध अथवा शास्त्रीय व्यभिचार का स्वरूप लौकिक व्यभिचार के स्वरूप से सामजस्य रखने वाला ही हो यह कोई आवश्यक नही है।" क्योकि शास्त्र या ज्ञान भी कोई लोकातीत वस्तु नही, वह भी लोकव्यवहार से ही सर्वथा

मम्पृक्त हो, लोकानुगत हो, लोकायत हो, यही उचित होगा। व्यभिचार और व्याप्ति के स्वरूप 'हाँ' और 'ना' की तरह आपस मे स्पष्ट विरोधी हो यह आवश्यक है यह वात पहले वतलायी जा चकी है। तदनुसार "साध्य जहाँ न रहे वहाँ हेतु का भी न रहना" इसे ही हेतु मे साध्य की व्याप्ति मानना उचित है। "साध्यवान् से अन्य मे न रहना" एव जो-जो साध्य वाला न होकर साध्य का अभाव वाला हो उन सबमे रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना" है हेतु मे साध्य की व्याप्ति इन सब कथनो मे कोई अलग मौलिक तत्त्व नहीं प्रतीत होता है। एक जगह साध्य का अत्यन्ताभाव न लेकर उसके आश्रय का अन्योन्याभाव ग्रहण किया गया है और दूसरी जगह साध्य के अत्यन्ताभाव और हेतु के अत्यन्ताभाव इन दोनो मे व्याप्य-व्यापकभाव दिखला कर प्रकृतमान्य व्याप्तिस्वरूप को ही व्यक्त किया गया है। क्योकि ऐसा न मानने पर उसे भी अपेक्षित लोकानुगति प्राप्त नहीं हो सकती जिसका उल्लेख अभी-अभी विस्तृत भाव से किया गया है।

अब रही वात उन नव्य नैयायिको की जिन्होने व्याप्ति के मान्यस्वरूप के सम्वन्ध मे अपना निर्णय यह वतलाया है कि "हेतु के आश्रय मे रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न होने वाला जो प्रकृत साध्य, उसके आधार मे हेतु का रहना है व्याप्ति"। इस व्याप्तिस्वरूप की मान्यता के पक्ष मे व्याप्ति के लिए अनुभवसिद्ध अव्यभिचारस्वरूपता स्पष्ट नही हो पाती। क्योकि ऐसी व्याप्ति को मान्यता देने वाले व्यभिचार का स्वरूप यह मानते है कि "साध्य का हेतु के आधार मे रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना" है व्यभिचार। व्यभिचार का ऐसा स्वरूप मानने पर व्यभिचार साध्य का धर्म वन बैठता है, जहा कि होना चाहिए उसे साधक रूप से विवक्षित हेतु का धर्म। क्योकि व्याप्य की तरह व्यभिचारी भी हेतु ही कहलाता है, साध्य नही। और यह होना इसलिए आवश्यक है कि व्याप्ति का ज्ञान और व्यभिचार का ज्ञान ये दोनो "हाँ" और "ना" इसी प्रकार वाधमुद्रा से प्रतिवध्य-प्रतिवन्धक-भावापन्न है। इस प्रकार प्रतिवध्य-प्रतिवन्धक-भाव के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि प्रतिवध्य और प्रतिवन्धक दोनो ज्ञान समानविशेष्यक हो। यदि ऐसा न माना जाय तो "राम धनी है" और "श्याम निर्धन है" ये दोनो ज्ञान भी आपस मे प्रतिवध्य-प्रतिवन्धक-भावापन्न हो उठेगे। जैसा कि होते नही। "राम धनी है" और "राम धनी नही है" इस प्रकार के ही दो ज्ञान आपस मे प्रतिवध्य-प्रतिवन्धक-भावापन्न होते है। क्योकि ऐसे दो ज्ञानो मे प्रकारविरोध अर्थात् दोनो ओर विशेषण होने वाले दो विषयो मे विरोध के साथ विशेष्य की एकता भी रहती है। "राम धनी है" और "श्याम निर्धन है" इन दोनो ज्ञानो मे धन और धनाभावात्मक निर्धनता इन दोनो विशेषणो मे तो विरोध रहता है किन्तु दोनो ज्ञान के विशेष्य एक हो पाते नही। इसी प्रकार इस प्रकार व्याप्ति का ज्ञान हेतुविशेष्यक और व्यभिचार का ज्ञान साध्यविशेष्यक

होने पर इन दोनो मे अपेक्षित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव जो कि उक्त व्याप्तिलक्षणवादी नव्य नैयायिको को भी मान्य है बन नही सकता। यद्यपि इस व्याप्तिज्ञान और व्यभिचारज्ञान इन दोनो के अन्दर अनुभवसिद्ध प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव के लिए उक्त व्याप्ति को मान्यता देने वालो ने चेष्टा नही की है यह बात नही। उन्होने एतदर्थ यह उपाय अपनाया है कि व्याप्ति के ज्ञान का आकार ऐसा माना जाय कि "साध्य हेतु के आधार मे रहने वाले अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी है" ऐसा व्याप्तिज्ञान "साध्य हेतु के आधार मे रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है" इस व्यभिचारज्ञान से विरुद्धविषयक होने के कारण व्याप्तिज्ञान और व्यभिचारज्ञान इन दोनो मे अपेक्षित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव सम्पन्न हो जाता है यह उन लोगो का आशय है। परन्तु विचारगत औचित्य की कसौटी पर कस कर देखने पर यह उपाय भी सही नही जँच पाता। क्योकि व्याप्तिज्ञान का उक्त आकार मान्य होने पर व्याप्ति वस्तुत साध्यगत हो उठती है जब कि होना यही उचित हो सकता है कि व्याप्ति हेतुगत हो। क्योकि 'व्यभिचारी' एव 'व्याप्य' दोनो ज्ञापक हेतु ही कहे जाते हैं साध्य नही, यह बात पहले भी कही जा चुकी है।

यदि यह कहा जाय कि "साध्य हेतु के आश्रय मे रहने वाले अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी है" इस प्रकार किये गये व्याप्तिज्ञान से पर्यवसित रूप मे यही प्राप्त होता है कि "हेतु साध्य के ही आधार मे रहनेवाला है" इसलिए व्याप्ति का आश्रय साध्य न होकर पर्यवसित रूप मे हेतु ही हो जाता है ? तो उक्त "साध्य के ही आधार मे" यहाँ "ही" यह इसे सुस्पष्ट व्यक्त करता है कि "साध्य जहाँ रहता नही वहाँ हेतु भी रहता नही" और ऐसा पर्यवसित अर्थ मानने पर फलत वे वहाँ ही पहुँच जाते हैं जिसे न मान कर उन्होने व्याप्ति का अलग स्वरूप निर्धारण के लिए अग्रसर हुए थे। साथ ही व्यभिचार और व्याप्ति दोनो के सामानाधिकरण्य के लिए उन्हे व्यभिचार का भी स्वरूप यही मानना होगा कि "साध्य जहाँ रहे नही वहाँ भी हेतु का रह जाना है व्यभिचार"। और ऐसा कहने पर उक्त अव्यभिचार ही व्याप्ति है इसे उन्हे पूर्ण रूप से मान्यता देनी होगी। किन्तु वह भी उनके लिए स्वीकार्य होना इसलिए अति कठिन प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि-मे "यह अभिधेय है क्योकि प्रमेय है" इस केवलान्वयीसाध्यक अर्थात् सर्वत्र विद्यमान-साध्यक अनुमान स्थल का समाधान कठिन हो आता है। क्योकि साध्य जहाँ रहता न हो ऐसा आधार वहाँ के लिए असम्भव होता है। चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे उक्त प्रकार अव्यभिचार को ही हेतुगत व्याप्ति मानना इसलिए सर्वथा सामजस्यपूर्ण हो पाता है कि इस दृष्टिकोण मे कोई भी वस्तु सर्वत्र विद्यमान मान्य नही है। अभिधेयत्व अभिधेय भौतिक वस्तुओ से और प्रमेयत्व प्रमेय भौतिक वस्तुओ से अतिरिक्त, और कुछ मान्य नही है अत यहाँ केवलान्वयीसाध्यक अनुमान को आगे करके मार्ग मे रोडा नही अटकाया

जा सकता । चार्वाकीय इस कथन के साथ अन्य अद्वैतवादी भी अपनी सम्मति अवश्य देंगे । कुछ शाकर अद्वैत के विवेचकों ने भी स्पष्ट रूप से यह कहा है कि केवलान्वयी अनुमान मान्य नही ।[५८] सम्भव है कि कुछ लोगो के हृदय मे यह प्रश्न उठ खडा हो कि जो व्यक्ति किसी को सर्वत्र विद्यमान तक न मानेगा तो वह अद्वैत की मान्यता का प्रतिपादन कैसे कर पायेगा ? क्योकि जो अद्वैत तत्त्व जिस अद्वैतवादी के सिद्धान्त मे मान्य होगा उसे उसके मत मे व्यापकता से आलिङ्गित ही मानना होगा और जो व्यापक रूप से मान्य होगा वह कही नही कैसे माना जा सकेगा ? परन्तु इस तरह का प्रश्न इसलिए उचित नही हो पाता है कि "सब जगह रहता है" ऐसा कहने पर निश्चय ही आधार-आधेयभाव की प्रतीति होती है । अद्वैत तत्त्व को सर्वत्र रहने वाला मानने पर सबको उससे अलग उसका आश्रय मानना होगा । जिसका कुफल यह होगा कि अद्वैत बालू के स्तूप के समान विशीर्ण हो पडेगा । अत अद्वैतवादी ऐसा कभी नही कह सकते कि "अद्वैत रूप से मान्य तत्त्व सर्वत्र रहता है" । वे इसके स्थान मे ऐसा मानेंगे और कहेंगे कि "वही सब कुछ है" ।

सम्भव है कुछ लोग चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे व्याप्ति के स्वरूप और उसकी मान्यता के विवेचन को अविवेकपूर्ण बतलावे । वे यह सोचें कि चार्वाक तो अनुमान मानता नही फिर उसके लिए अपेक्षित होने वाली व्याप्ति के स्वरूप का विवेचन क्यो करने जायगा ? और यदि करे भी तो उसके लिए यही उचित होगा कि व्याप्ति एव अनुमान के सम्बन्ध मे वह केवल खण्डनात्मक विवेचन उपस्थित करे, स्वरूपनिर्धारणात्मक नही । परन्तु इस प्रकार उनका सोचना इसलिए सगत नही होगा कि चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे भी अनुमिति अमान्य नही है । केवल उसका स्वतन्त्र-प्रमात्व अमान्य है । इस सम्बन्ध मे चार्वाकीय सच्चा दृष्टिकोण यह है कि अनुमिति प्रमा भी एक प्रकार प्रत्यक्ष ही है । वह भी प्रत्यक्ष प्रमा से अतिरिक्त प्रमा नही है । कोई भी विवेचक सर्वानुभवसिद्ध वस्तु का सर्वथा अपलाप भला कैसे कर सकता है ? यह कैसे कह सकता है कि जिस व्यक्ति को धूम और आग इन दोनो के बीच होने वाले व्याप्य-व्यापकभाव का निश्चय होता है वह व्यक्ति भी पर्वत मे धूम को देख कर वहाँ आग का निश्चय अथवा अधिक सम्भावित—अग्निकोटिक आग का सन्देह नही करता है ? यह बात सही है कि चार्वाक मत के ऊपर प्रहार करनेवालो ने चार्वाकीय-सिद्धान्त को ऐसा ही समझ रखा है कि वे अनुमान को मानते नहीं, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है । जिसका स्पष्टीकरण आगे चलकर अनायास होगा ।

अनुमिति के लिए जिस प्रकार अनुमाता को लिङ्ग मे साध्य की व्याप्ति का ज्ञान

(५८) तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव न तु केवलान्वयि
—वेदान्तपरिभाषा अनुमान-परिच्छेद ।

अपेक्षित होता है उसी प्रकार व्याप्य रूप से ज्ञात उस लिङ्ग मे पक्षधर्मता अर्थात् पक्ष-निष्ठता का फलत पक्ष मे अस्तित्व का भी ज्ञान अपेक्षित होता है। क्योकि पक्ष मे जब तक व्याप्य का अस्तित्व अनुमाता नही समझेगा तब तक उसके सहारे व्यापक रूप से ज्ञात साध्य को कैसे पक्ष मे समझ सकता है ? इसका थोडा-सा दिग्दर्शन वहाँ कराया जा चुका है जहाँ "परामर्श" नामक ज्ञान अनुमिति के लिए अपेक्षित है या नही इसका विचार करते हुए यह बतलाया गया है कि "पर्वत आग वाला है क्योकि धूम वाला है" इस अनुमान स्थल मे "धूम आग का व्याप्य है" और "पर्वत धूम वाला है" इस प्रकार दो खण्ड ज्ञानो से भी अनुमिति होती है। इस खण्डज्ञान द्वय के अन्दर "पर्वत धूम वाला है" यह ज्ञान पक्षधर्मता का ही ज्ञान है । "पक्षधर्मता" इस शब्द का अर्थ है "पक्ष मे अस्तित्व" अर्थात् पक्ष मे हेतु का रहना । सभी अनुमिति स्थलो मे अत व्याप्तिज्ञान की तरह पक्षधर्मता का भी ज्ञान कारण रूप मे अनुमिति के लिए अपेक्षित होता है ।

नव्य नैयायिको[५९] ने अनुमिति के लिए व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान के अतिरिक्त "पक्षता" को भी अपेक्षित माना है । जिसके स्वरूप के सम्बन्ध मे उन लोगो मे महान् आपसी गृहकलह देखने को मिलता है । कुछ लोग यह कहते है कि जिस धर्मी मे साध्य का विधान किया जाता है अर्थात् जिसमे साध्य की अनुमिति की जाती है उसमे साध्य का सन्देह रहना अनुमाता के लिए नितान्त आवश्यक है। क्योकि अनुमाता उसी अपने सशय के निराकरणार्थ निश्चयात्मक अनुमिति के लिए प्रवृत्त होता है और जिसे साध्य का निश्चय रहता है वह, जहाँ जिसका निश्चय रहता है वहाँ उसकी अनुमिति करने के लिए प्रवृत्तिशील होता नही । उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि राम को यदि "पर्वत अग्नि वाला है या नही" इस प्रकार पर्वत मे आग का सन्देह रहता है तब वह निश्चय चाहता हुआ उक्त प्रकार व्याप्ति एव पक्षधर्मता का ज्ञान करके अनुमिति करता है और जब उसे यह निश्चय हो जाता है कि "पर्वत आग वाला है" तब उसके अनन्तर वह अनुमिति करने के लिए व्याप्ति और पक्षधर्मता को नही समझने जाता है। अत पक्षस्वरूप धर्मी मे साध्य का सशय है पक्षता और वह है अनुमिति के प्रति कारण ।

दूसरे कुछ लोगो का यहाँ कहना यह है कि यह कोई निश्चय नही कि साध्य के सशय रहने पर ही अनुमाता अनुमिति करता है। धनी व्यक्ति घर मे बहुत धन के होने पर भी धन चाहता हुआ उसके उपार्जन के लिए प्रवृत्त होता है यह देखा ही जाता है । ऐसे अपरिमित निदर्शनो से यह बात माननी ही होगी कि इच्छा बहुत प्रबल वस्तु है। वह यह नही सोचती कि मेरे विषय विद्यमान है, अत मै क्यो होऊँ ? अथवा क्यो इस व्यक्ति

(५९) "पक्षता न कारणमिति तु भ्रम ।" —पक्षता तत्त्वचिन्तामणि ।

को उसके लिए प्रवृत्त कराऊँ जो कि इसके पास विद्यमान ही है । इस परिस्थिति के अनुसार पक्ष मे साध्य का निश्चय हो जाने पर भी अनुमित्सा अर्थात् अनुमिति के लिए इच्छा लोगो को हो सकती है और उस अपनी इच्छा के अनुसार वे अनुमिति कर सकते है। अत अनुमिति के पहले साध्य का सशय सर्वत्र रहेगा ही यह नही कहा जा सकता। अत पक्ष मे होने वाले साध्य के सशय को पक्षतारूप से अनुमिति के प्रति कारण न मान कर सिषाधयिषा को अर्थात् पक्ष मे साध्य निर्णय की इच्छा को फलत अनुमित्सा को पक्षता के-रूप मे अनुमिति के प्रति कारण मानना चाहिए। इस प्रकार इच्छा को पक्षता के रूप मे अनुमिति के प्रति कारण मानने पर सन्देहस्थलीय अनुमिति का एव पक्ष मे साध्य का निश्चय रहते हुए भी इच्छा के अस्तित्व के कारण होने वाली अनुमिति का भी सम्पादन हो पाता है। इस इच्छा-पक्षतावाद के समर्थन मे यह भी एक युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि किसी धर्मी मे किसी वस्तु का सन्देह होने पर भी यदि उसकी अनुमिति की इच्छा किसी व्यक्ति को न हो तो वह उस धर्मी मे उसकी अनुमिति करता नही, यह अनुभवसिद्ध है। सशय को पक्षता मानने पर इच्छा के न होने पर भी अनुमिति होनी चाहिए जो कि होती नही। अत सशय को अनुमिति के प्रति पक्षतारूप मे कारण न मान कर इच्छा को ही पक्षता मानना चाहिए और उसे ही अनुमिति के प्रति कारण मानना चाहिए।

अन्य कुछ विवेचक इस पर अपना इस प्रकार मत व्यक्त करते है कि उक्त प्रकार साध्यसशय या अनुमित्सा को पक्षता मानना इसलिए उचित प्रतीत नही होता है कि परिस्थिति विशेष मे इन दोनो के न रहने पर भी अनुमिति होती हुई पायी जाती है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि राम घर मे सुषुप्त रहता है उसके लिए निद्रा का अधेरा व्याप्त रहता है। न उसे उस समय यह सन्देह रहता है कि "आकाश मेघाच्छन्न है या नही, और न उसे यह इच्छा ही रहती है कि "मै आकाश मे मेघाच्छन्नता का अनुमान करूँ" फिर भी जोरो से होने वाले मेघगर्जन को सुन कर अनायास वह यह अनुमिति करता हुआ पाया जाता है कि "आकाश मेघाच्छन्न हो गया है क्योकि मेघ का शब्द सुनाई दे रहा है"। यदि साध्य सशय या अनुमित्सा को पक्षता मान कर अनुमिति के लिए उसे आवश्यक माना जाय तो मेघगर्जन से उक्त परिस्थिति मे होने वाली अनुमिति हो नही सकती जो कि होती पायी ही जाती है। अत पक्ष मे होने वाले साध्यसशय का या "पक्ष मे साध्य की अनुमिति मुझे हो" इत्यादि इच्छा को पक्षता के रूप म अनुमिति के प्रति कारण मानना उचित नही। हाँ, उक्त प्रकार अनुमित्सा से विरहित सिद्धि के अर्थात् तादृश साध्यनिश्चय के अभाव को पक्षता के रूप मे अनुमिति का कारण अवश्य मानना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि अनुमाता को पक्ष मे साध्य का सशय या अनुमित्सा के रहने पर भी अनुमिति होती है और पक्ष मे साध्य का निश्चय रहने

पर भी अनुमित्सा होने पर अनुमिति होती है और अनुमित्सा यदि रहती नही किन्तु पक्ष मे प्रकृत साध्य का निश्चय रहता है तो अनुमाता को अनुमिति होती नही यह है वास्तविक परिस्थिति। इन सारी परिस्थितियो की सुरक्षा के लिए उचित उपाय यही हो सकता है कि "सिषाधयिषा के विरह से युक्त-सिद्धि के अभाव" को पक्षता[६०] माना जाय। पक्षता के इस अपेक्षित स्वरूप के अन्दर "सिषाधयिषा" का अर्थ प्रकृत पक्ष मे प्रकृत साध्य की अनुमिति की इच्छा समझना चाहिए और "सिद्धि" का अर्थ साध्य का निश्चय समझना चाहिए। तदनुसार फलितार्थ यह होता है कि "अनुमिति की इच्छा के अभाव से युक्त होने वाले साध्य निश्चय का अभाव" है पक्षता। पक्षता का यह स्वरूप मान लेने पर उक्त सारी स्थितियो के लिए समस्या हल हो जाती है। जहाँ साध्य का सशय रहेगा और अनुमित्सा भी रहेगी वहाँ अनुमिति इसलिए हो पायेगी कि वहाँ साध्य का सशयात्मक ही ज्ञान रहने के कारण साध्य का पक्ष मे निश्चयात्मक ज्ञान, जिसे कि "सिद्धि" शब्द से भी कहा जाता है उस सन्दिग्ध व्यक्ति को रहेगा नही अत साध्य निश्चयात्मक सिद्धि का सामान्याभाव वहाँ अवश्य रह जायेगा। जहाँ सामान्याभाव रहता है वहाँ विशेषाभाव रहता ही है। अत अनुमित्सा विरहयुक्त साध्यनिश्चय का अभावस्वरूप पक्षता वहाँ अवश्य रहेगी। इसलिए पक्षता वहाँ बन जायेगी, अत अनुमिति निर्विघ्न हो पायेगी।

जहाँ अनुमाता को साध्य का निश्चय भी रहेगा और अनुमित्सा भी रहेगी वहाँ भी अपेक्षित अनुमिति का सम्पादन हो पायेगा। क्योकि वहाँ का साध्यनिश्चय अनुमित्सा से ही युक्त रूप मे वहाँ रहेगा, अनुमित्सा-विरह-युक्त रूप मे नही। अत अनुमित्सा के अभाव से युक्त साध्यनिश्चय का अभाव जो कि पक्षता के रूप मे अनुमिति के लिए अपेक्षित माना गया है रहेगा ही। सुतरा अनुमिति के होने मे बाधा नही प्राप्त होगी। साध्यनिश्चय के वहाँ होते हुए भी उसका अभाव इसलिए वहाँ रह पाता है कि विशेष्य के रहते हुए भी विशेषण के न रहने पर विशेषणयुक्त रूप मे वह विशेष्य वहाँ रह नही पाता, विशिष्ट रूप मे उसका अभाव वहाँ भी रह जाता है, जहाँ कि केवल विशेष्य विद्यमान रहता है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि जहाँ श्याम विद्यमान है वहाँ भी यदि उसके हाथ मे डडा न हो, तो यह प्रतीति एव वाचिक प्रामाणिक व्यवहार होता ही है कि "दण्डधर श्याम यहाँ नही है"। क्योकि दण्डधर रूप मे श्याम का अस्तित्व वहाँ तभी सम्भव हो सकता जब कि श्याम के पास डडा होता। सो तो वहाँ रहता

(६०) सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभाव पक्षता।

—पक्षता तत्त्वचिन्तामणि।

नही कि यह कहा या समझा जा सके कि "यहाँ दण्डधर श्याम है" अत यह मानना ही पडता है कि यहाँ दण्डधर श्याम नही है। तद्वत् साध्यनिश्चय के रहते हुए भी वहाँ अनुमित्सा की विद्यमानता के कारण उक्त निश्चय का विशेषणीभूत "अनुमित्सा विरह" रहता नही। अत तादृश विशेषणयुक्त रूप मे साध्यनिश्चय का अस्तित्व वहाँ नही कहा जा सकता जहाँ कि अनुमित्सा और साध्य निश्चय इन दोनो का अस्तित्व हो। अत पक्षता की सम्पत्ति वहाँ भी हो सकने के कारण अनुमिति के होने मे कोई बाधा नही बतलायी जा सकती।

जहाँ केवल साध्य का निश्चय ही रहेगा पक्ष मे, और तादृश निश्चेता को सिषाधयिषा अर्थात् अनुमिति करने की इच्छा रहेगी नही, वहाँ अनुमिति की आपत्ति भी नही होगी। क्योकि अनुमित्सा न रहने के कारण उसका अभावात्मक विरहस्वरूप विशेषण भी रहेगा और उसका विशेष्य साध्यनिश्चयात्मक सिद्धि भी विद्यमान रहेगी। इसलिए तादृश स्थल मे सिषाधयिषा-विरहयुक्त सिद्धि ही रह जायेगी उसका अभाव रह नहीं पायेगा जो कि "पक्षता" के रूप मे अनुमिति के प्रति कारण माना गया है। कारण के न रहने पर कार्य का न होना स्वाभाविक ही है।

इस मतवाद के अभ्युपगम पक्ष मे जब प्रश्न यह एक उठ खडा होता है कि जहाँ ऐसी परिस्थिति होगी कि एक ही व्यक्ति के लिए एक ही समय एक ही विषय मे इन्द्रिय सन्निकर्षात्मक प्रत्यक्ष सामग्री भी विद्यमान रहेगी और वर्णित पक्षता आदि अनुमिति की सामग्री भी उपस्थित रहेगी वहाँ उस व्यक्ति को उस विषय का प्रत्यक्ष न होकर उस विषय मे अनुमिति ही क्यो न हो उठेगी ? यह तो कहा नहीं जा सकता कि उसी विषय मे प्रत्यक्ष की सामग्री के रहते हुए भी अनुमिति ही होती है। क्योकि यह अनुभव सिद्ध नही, सर्वथा अनुभव के विरुद्ध है। तब इस पक्ष से उत्तर यह दिया जाता है कि लोकानुभव के आधार पर एक प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना के द्वारा इस आपत्ति का निराकरण करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि समानविषयक अनुमिति के प्रति समानविषयक प्रत्यक्ष सामग्री का प्रतिबन्धक मानना चाहिए। प्रतिबन्धक के रहते हुए प्रतिबध्य कार्य का न होना लोकानुभव सिद्ध ही है। अत उक्त परिस्थिति मे अनुमिति की आपत्ति नही दी जा सकती। किन्तु अन्य कुछ विवेचकों ने ऐसा न मान कर प्रकृत विवेच्य पक्षता के स्वरूप का सगठन करके ही उक्त आपत्ति का निराकरण करना उचित है, यह बताया गया है। उनका कहना यह है कि अव्यवहित पूर्व वादी ने अनुमिति के प्रति कारण रूप मे स्वीकरणीय पक्षता का स्वरूप जहाँ यह बतलाया है कि "अनुमित्सा के अभाव मे युक्त साध्यनिश्चय का अभाव है" वहाँ उतना ही न कह कर पक्षता के स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार करना चाहिए कि 'अनुमित्सा के अभाव मे विशेषित जो साध्य का निश्चय एव प्रत्यक्ष की सामग्री अर्थात्

प्रत्यक्ष के प्रति कारण होने वालो का एक समुदाय, इन दोनो का अभाव है पक्षता" । पक्षता के इस प्रकार निर्वचन करने के अनन्तर उक्त प्रत्यक्ष-सामग्री के रहते हुए भी दी जाने वाली अनुमिति की आपत्ति इसलिए नही आपन्न हो पाती है कि जहाँ अनुमिति की भी सामग्री रहती है और प्रत्यक्ष की भी, और अनुमित्सा रहती नही, वहाँ अनुमित्सा के अभाव से युक्त प्रत्यक्ष की सामग्री ही रह जाती है अत अनुमिति के लिए अपेक्षित होने-वाला उस प्रत्यक्ष सामग्री का उक्त प्रकार अभाव मिल पाता नही । क्योकि किसी भाव के रहते हुए उसका अभाव रहता नही यह सभी प्राणियो को मालूम है । प्रत्यक्ष सामग्री के अभाव से घटित उक्त प्रकार पक्षता वहाँ न रह सकने के कारण अनुमिति की आपत्ति नहीं दी जा सकती । इस मतवाद मे साध्यनिश्चय मे जिस प्रकार अनमित्सा के अभाव को विशेषण बनाया गया है उसी प्रकार अनुमित्सा के अभाव को प्रत्यक्ष सामग्री का भी विशेषण पक्षता के शरीर के अन्दर इसलिए बनाया गया है कि जहाँ प्रत्यक्ष की सामग्री और अनुमिति की सामग्री, एक ही विषय के सम्बन्ध मे उपस्थित होती है । किन्तु उसके साथ व्यक्ति को अनुमित्सा अर्थात् अनुमिति करने की इच्छा भी रहती है तो वहाँ विद्यमान प्रत्यक्ष सामग्री अकिञ्चित्कर हो जाती है अर्थात् अपना काम कर नही पाती । क्योकि प्राणियो की प्रवृत्ति के लिए इच्छा सर्वाधिक प्राबल्य रखती है ।

इस प्रकार पक्षता के स्वरूप और उसकी, अनुमिति के प्रति मान्य कारणता के सम्बन्ध मे मतानैक्य की उपस्थिति पर चार्वाकीय-दृष्टिकोण इसके सम्बन्ध मे क्या हो सकता है ? इस प्रकार जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है । तो इसके सम्बन्ध मे ज्ञातव्य यह है कि स्वतन्त्र रूप से पक्षता को अनुमिति के प्रति कारण मानना उचित नही प्रतीत होता है । क्योकि पक्षधर्मता के ज्ञान को जब कि अनुमिति के प्रति कारण मानना ही है तब पक्षता की कारणता भी उसी कारणता मे गतार्थ हो जाती है । पक्षता का आश्रय ही तो पक्ष कहला सकता है ? "पक्षधर्मता" इसके अन्दर पक्ष का समावेश है ही अत जिसे भी क्यो न पक्षता माना जाय उसका आश्रय होने वाला ही होगा पक्ष और उस पक्ष मे रहना ही होगा पक्षवृत्तित्व अथवा पक्षधर्मता, जिसका ज्ञान अनुमिति के लिए सर्वमान्य रूप मे अपेक्षित है । ऐसी परिस्थिति मे स्वतन्त्र रूप से पक्षता को अनुमिति के प्रति कारण मानने का कोई प्रयोजन दिखाई नही देता । यदि यह कहा जाय कि "पर्वत आग वाला है क्योकि धूम वाला है" इस प्रकार अनुमान स्थल मे पक्षधर्मता ज्ञान का आकार होता है "पर्वत धूम वाला है" ऐसा । इस ज्ञान के अन्दर पर्वत स्वत विशेष्य रूप से भासता है पक्षता-युक्त रूप मे नहीं । अत यह नियमत नही कहा जा सकता कि पक्षता का प्रवेश पक्ष-धर्मता ज्ञान के अन्दर हो ही जायगा । अत पक्षता को अलग अनुमिति के प्रति कारण मानना चाहिए । तो इस पर यह भली-भाँति कहा जा सकता है कि अलग पक्षता को

अनुमिति के प्रति कारण मानने की अपेक्षा यही उचित होगा कि पक्षता के आश्रय के रूप में ज्ञात पर्वत आदि धर्मी मे हेतु के अस्तित्व को ही पक्षधर्मता माना जाय और उसी के ज्ञान को अनुमिति के लिए अपेक्षित माना जाय। क्योकि ऐसा मानने मे यह महान् लाघव प्राप्त होता है कि पक्षता और अनुमिति इन दोनो के बीच एक स्वतन्त्र कार्यकारण-भाव मानना पडता नही। और भी यहाँ ध्यान देने योग्य बात एक यह है कि जहाँ तक सशय या इच्छा को पक्षता मानने की बात की जाती थी वहाँ तक तो कथञ्चित् पक्षता की कारणता स्वतन्त्र कही भी जा सकती थी। परन्तु जब कि सिषाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धि के अभाव को पक्षता कहा जाने लगा तब तो ऐसा कहने वालो के द्वारा स्वय उसका स्वतन्त्र कारणत्व अपहृत हो गया। क्योकि साध्य का निश्चय जिसे ही सिद्धि-नाम से भी कहा जाता है अनुमिति के प्रति होता है प्रतिबन्धक। और प्रतिबन्धक का अभाव होता है सभी कार्यों के प्रति स्वतन्त्र रूप से कारण। ऐसी परिस्थिति मे जिस सिद्धि के अभाव को अनुमिति के प्रति स्वतन्त्र रूप से पक्षता नामकरणपूर्वक अनुमिति के प्रति कारण मानने की बात की जाती है, वह प्रतिबन्धक के अभाव रूप मे ही अनुमिति के प्रति कारण हो जाता है। फिर उसे स्वतन्त्र रूप से कारण मानने का आग्रह कैसे किया जा सकता? तीसरी बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि अनुमिति की विशेषता अन्य ज्ञानो से इसीलिए अन्य लोग मानते हैं कि यह ज्ञान लैङ्गिक अर्थात् लिङ्ग-जन्य होता है, और ज्ञान इस प्रकार लिङ्गज होते नही। किसी भी वस्तु को किसी भी वस्तु की लिङ्गता प्राप्त करने के लिए उसे वे लोग भी रूपत्रय से या रूपपञ्चक से उपपन्नता को ही अपेक्षित मानते हैं। ऐसी परिस्थिति मे पक्षता का विघटन अवश्य पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीनो रूपो के अन्दर किसी एक का, या अबाधितत्त्व और असत्प्रतिपक्षितत्त्व के अन्दर किसी एक का विघटन-स्वरूप मान्य होना चाहिए। विचार करने पर पक्षता के विघटन से यदि किसी का विघटन उक्त पाँच रूपो के अन्दर हो सकता है तो वह "पक्षसत्त्व का ही हो सकता है और किसी का नही। और यदि ऐसा मान लिया जाता है तो स्वय यह निर्णीत हो जाता है कि पक्षता "पक्षसत्त्व" का ही लिंग मे सम्पादन करके अनुमिति के लिए अपेक्षित होती है स्वत नही। ऐसी परिस्थिति मे भला कैसे पक्षता का स्वतन्त्र भाव से अनुमिति के प्रति कारण माना जाय? अत स्वतन्त्र भाव से अनुमिति के प्रति पक्षता को कारण नही मानना चाहिए।

लिङ्गगत रूप मे ज्ञेय रूप मे अपेक्षित पक्षसत्त्व के अन्दर भी किस पक्षता का समादर उचित कहा जायगा? इस प्रश्न के उत्तर मे चार्वाकीय-दृष्टिकोण से यहाँ मानना उचित प्रतीत होता है कि इच्छा-पक्षता का ही समादर उस रूप मे करना चाहिए। क्योकि इच्छा का प्राधान्य सर्वोपरि रूप मे सर्वमान्य है। परन्तु इच्छा का अर्थ इच्छायोग्यता

समझना होगा। अन्यथा सुपुप्त व्यक्ति को तीव्र मेघगर्जन से जग कर होने वाली आकाश-धर्मिक मेघानुमिति का सम्पादन कठिन ही रह जायगा। जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। लिंग मे ज्ञातव्य पक्षसत्त्व के घटक रूप मे अनुमित्सा-योग्यता को पक्षता मानने पर उक्त आकाशधर्मिक मेघानुमान इसलिए हो पाता है कि उस सुपुप्त व्यक्ति मे उस समय अनुमित्सा के न होने पर भी उसकी योग्यता का अस्तित्व कहा जा सकता है। और तदनुसार अनुमित्सा-विशेष्यत्व-योग्यता-स्वरूप पक्षता पक्षधर्म भी बन पायेगी। जिससे उसका नाम भी सचमुच सार्थक हो पायेगा। जिन लोगो ने यह कह कर इच्छा पक्षतावाद को उडा देना चाहा है कि योग्यता का निरूपण असम्भव है उनका कथन इसलिए उचित नही प्रतीत होता है कि शाब्दबोध स्थल मे जिस प्रकार बाधनिश्चय के अभाव को योग्यता माना जाता है उस प्रकार आत्मा मे बाधनिश्चय के अभाव को और पक्षता के धर्मी मे बाधनिश्चय की विशेष्यता के अभाव को अनुमित्सायोग्यता भली-भाँति कहा जा सकता है। क्योकि बाध निश्चय रहने पर अनुमित्सा भी नही हो सकती। जो व्यक्ति जिसके सम्बन्ध मे बाधनिश्चय रखता है वह उसे असम्भव समझता है, उसे वह चाहता भी नही। यदि इस पर यह कहा जाय कि तब तो पक्षता फलत अबाधितत्त्व का सम्पादक होगी ? तो इसके सम्बन्ध मे कहना यह होगा कि लिङ्ग मे उक्त रूपत्रय युक्तता ही अनुमिति के लिए अपेक्षित है, उक्त पञ्चरूपयुक्तता नही। बाधनिश्चय का अभाव अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक के अभाव रूप मे भले ही कारण हो, किन्तु लिङ्ग की लिंगता अर्थात् अनुमापकता के लिए उसकी अपेक्षा मान्य नही होनी चाहिए। क्योकि कोई किसीका अनुमापक होने के लिए व्याप्ति और पक्षधर्मता इन दोनो की ही अपेक्षा करता है। ये दोनो ही हेतु के बल माने जाते है। व्याप्ति और पक्षधर्मता के निश्चय के लिए हेतु मे पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीनो के ही ज्ञान अपेक्षित होते हैं और कुछ नही। क्योकि हेतु मे पक्षसत्त्व के समझने पर उसमे पक्षधर्मता ज्ञात हो जाती है और सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व के समझने पर उसमे साध्य की व्याप्ति अवगत हो जाती है। इस प्रकार उक्त तीन रूपो से ही जब कि लिंग बलवान् हो जाता है उसमे साध्य की सिद्धि के अनुकूल बल प्राप्त हो जाता है, तब उसमे अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व की कोई आवश्यकता नही रह जाती है।

अनुमिति प्रमा के सम्बन्ध मे एक मतभेद विवेचको मे यह भी पाया जाता है कि कुछ[61] लोग अनुमिति मे लिङ्ग से उपहित रूप मे लैङ्गिक का भान मानते थे। अर्थात् अनु-

(६१) केचित्तु यथाश्रुतपरतानिर्वाहाय लिंगोपधानमतमाश्रयन्ते साध्यव्याप्ये त्यादिना। —सामान्य निरुक्ति-गादाधरी।

अनुमिति के प्रति कारण मानने की अपेक्षा यही उचित होगा कि पक्षता के आश्रय के रूप मे ज्ञात पर्वत आदि धर्मी मे हेतु के अस्तित्व को ही पक्षधर्मता माना जाय और उसी के ज्ञान को अनुमिति के लिए अपेक्षित माना जाय। क्योकि ऐसा मानने मे यह महान् लाघव प्राप्त होता है कि पक्षता और अनुमिति इन दोनो के बीच एक स्वतन्त्र कार्यकारण-भाव मानना पडता नही। और भी यहाँ ध्यान देने योग्य बात एक यह है कि जहाँ तक संशय या इच्छा को पक्षता मानने की बात की जाती थी वहाँ तक तो कथञ्चित् पक्षता की कारणता स्वतन्त्र कही भी जा सकती थी। परन्तु जब कि सिषाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धि के अभाव को पक्षता कहा जाने लगा तब तो ऐसा कहने वालो के द्वारा स्वयं उसका स्वतन्त्र कारणत्व अपहृत हो गया। क्योकि साध्य का निश्चय जिसे ही सिद्धि-नाम से भी कहा जाता है अनुमिति के प्रति होता है प्रतिबन्धक। और प्रतिबन्धक का अभाव होता है सभी कार्यों के प्रति स्वतन्त्र रूप से कारण। ऐसी परिस्थिति मे जिस सिद्धि के अभाव को अनुमिति के प्रति स्वतन्त्र रूप से पक्षता नामकरणपूर्वक अनुमिति के प्रति कारण मानने की बात की जाती है, वह प्रतिबन्धक के अभाव रूप मे ही अनुमिति के प्रति कारण हो जाता है। फिर उसे स्वतन्त्र रूप से कारण मानने का आग्रह कैसे किया जा सकता? तीसरी बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि अनुमिति की विशेषता अन्य ज्ञानो से इसीलिए अन्य लोग मानते है कि यह ज्ञान लैङ्गिक अर्थात् लिङ्ग-जन्य होता है, और ज्ञान इस प्रकार लिङ्गज होते नही। किसी भी वस्तु को किसी भी वस्तु की लिङ्गता प्राप्त करने के लिए उसे वे लोग भी रूपत्रय से या रूपपञ्चक से उपपन्नता को ही अपेक्षित मानते है। ऐसी परिस्थिति मे पक्षता का विघटन अवश्य पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीनो रूपो के अन्दर किसी एक का, या अबाधितत्त्व और असत्प्रतिपक्षितत्त्व के अन्दर किसी एक का विघटन-स्वरूप मान्य होना चाहिए। विचार करने पर पक्षता के विघटन से यदि किसी का विघटन उक्त पाँच रूपो के अन्दर हो सकता है तो वह "पक्षसत्त्व का ही हो सकता है और किसी का नही। और यदि ऐसा मान लिया जाता है तो स्वयं यह निर्णीत हो जाता है कि पक्षता "पक्षसत्त्व" का ही लिंग मे सम्पादन करके अनुमिति के लिए अपेक्षित होती है स्वत नही। ऐसी परिस्थिति मे भला कैसे पक्षता का स्वतन्त्र भाव से अनुमिति के प्रति कारण माना जाय? अत स्वतन्त्र भाव से अनुमिति के प्रति पक्षता को कारण नही मानना चाहिए।

निगमन रूप मे ज्ञेय रूप मे अपेक्षित पक्षसत्त्व के अन्दर भी किस पक्षता का समादर उचित कहा जायगा? इस प्रश्न के उत्तर मे चार्वाकीय-दृष्टिकोण से यहाँ मानना उचित प्रतीत होता है कि इच्छा-पक्षता का ही समादर उस रूप मे करना चाहिए। क्योकि इच्छा का प्रामाण्य यथोचित रूप मे सर्वमान्य है। परन्तु इच्छा का अर्थ इच्छायोग्यता

समझना होगा। अन्यथा सुषुप्त व्यक्ति को तीव्र मेघगर्जन से जग कर होने वाली आकाश-धर्मिक मेघानुमिति का सम्पादन कठिन ही रह जायगा। जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। लिग मे ज्ञातव्य पक्षसत्त्व के घटक रूप मे अनुमित्सा-योग्यता को पक्षता मानने पर उक्त आकाशधर्मिक मेघानुमान इसलिए हो पाता है कि उस सुषुप्त व्यक्ति मे उस समय अनुमित्सा के न होने पर भी उसकी योग्यता का अस्तित्व कहा जा सकता है। और तदनुसार अनुमित्सा-विशेष्यत्व-योग्यता-स्वरूप पक्षता पक्षधर्म भी बन पायेगी। जिससे उसका नाम भी सचमुच सार्थक हो पायेगा। जिन लोगो ने यह कह कर इच्छा पक्षतावाद को उडा देना चाहा है कि योग्यता का निरूपण असम्भव है उनका कथन इसलिए उचित नही प्रतीत होता है कि शाब्दबोध स्थल मे जिस प्रकार बाधनिश्चय के अभाव को योग्यता माना जाता है उस प्रकार आत्मा मे बाधनिश्चय के अभाव को और पक्षता के धर्मी मे बाधनिश्चय की विशेष्यता के अभाव को अनुमित्सायोग्यता भली-भाँति कहा जा सकता है। क्योकि बाध निश्चय रहने पर अनुमित्सा भी नही हो सकती। जो व्यक्ति जिसके सम्बन्ध मे बाधनिश्चय रखता है वह उसे असम्भव समझता है, उसे वह चाहता भी नही। यदि इस पर यह कहा जाय कि तब तो पक्षता फलत अबाधितत्त्व का सम्पादक होगी ? तो इसके सम्बन्ध मे कहना यह होगा कि लिङ्ग मे उक्त रूपत्रय युक्तता ही अनुमिति के लिए अपेक्षित है, उक्त पञ्चरूपयुक्तता नही। बाधनिश्चय का अभाव अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक के अभाव रूप मे भले ही कारण हो, किन्तु लिङ्ग की लिंगता अर्थात् अनुमापकता के लिए उसकी अपेक्षा मान्य नही होनी चाहिए। क्योकि कोई किसीका अनुमापक होने के लिए व्याप्ति और पक्षधर्मता इन दोनो की ही अपेक्षा करता है। ये दोनो ही हेतु के बल माने जाते है। व्याप्ति और पक्षधर्मता के निश्चय के लिए हेतु मे पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीनो के ही ज्ञान अपेक्षित होते है और कुछ नही। क्योकि हेतु मे पक्षसत्त्व के समझने पर उसमे पक्षधर्मता ज्ञात हो जाती है और सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व के समझने पर उसमे साध्य की व्याप्ति अवगत हो जाती है। इस प्रकार उक्त तीन रूपो से ही जब कि लिंग बलवान् हो जाता है उसमे साध्य की सिद्धि के अनुकूल बल प्राप्त हो जाता है, तब उसमे अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व की कोई आवश्यकता नही रह जाती है।

अनुमिति प्रमा के सम्बन्ध मे एक मतभेद विवेचको मे यह भी पाया जाता है कि कुछ[६१] लोग अनुमिति मे लिङ्ग से उपहित रूप मे लैङ्गिक का भान मानते थे। अर्थात् अनु-

(६१) केचित्तु यथाश्रुतपरतानिर्वाहाय लिंगोपधानमतमाश्रयन्ते साध्यव्याप्ये त्यादिना। —सामान्य निरुक्ति-गादाधरी।

धूमहेतुक और अग्निसाध्यक अनुमितिस्थल मे "यह पर्वत वह्नि की व्याप्ति से युक्त होने वाले धूम से युक्त है" इस प्रकार, पूर्वज्ञान की अपेक्षा एक बृहदाकार ज्ञान होता है। और इसके अव्यवहित उत्तर ही "यह पर्वत आग वाला है" इस प्रकार निर्णयात्मक अनुमिति हो जाती है।

दूसरे कुछ लोग इस प्रक्रिया को पूर्ण रूप से मान्यता देते नही। वे परामर्श नामक ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानना सर्वथा व्यर्थ[६२] समझते है अत अपनी प्रक्रिया इस प्रकार बनाते है कि रसोई घर आदि स्थानो मे जिस व्यक्ति ने बारम्बार यह देख रखा है कि "जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ आग रहती ही है" तो इस प्रकार व्याप्ति का निश्चय रखने वाला व्यक्ति जब पर्वत से निकलती हुई अविच्छिन्न-मूल धूममाला को देखता है तो उस अनुभूत व्याप्ति का स्मरण होता है कि "धूम आग का व्याप्य है"। इसके अनन्तर ही उस व्यक्ति को अव्यवहित पूर्व हुए पर्वत मे धूम के प्रत्यक्ष और धूम मे हुए व्याप्ति-स्मरण के बल से यह निश्चयात्मक अनुमिति हो जाती है कि "यह पर्वत अग्नि वाला है"।

विवेचको का तीसरा दल यह कहता है कि अव्यवहित उक्त प्रक्रिया मे जो व्याप्ति-स्मरण को भी अनुमिति के प्रति अपेक्षणीयता बतलायी गयी है वह मेरे यहाँ मान्य नही है। इसके अनुसार ये अनुमिति के प्रजनन के सम्बन्ध मे यह प्रक्रिया उपस्थित करते है कि रसोई घर आदि स्थानो मे व्यक्ति प्रथमत धूम[६३] और आग के सामानाधिकरण्य का अनुभव करता है जिससे वह इस निश्चय पर उसी समय पहुँच जाता है कि "धूम वह्नि का व्याप्य है" इस अनुभव का वासनात्मक प्रभाव रह जाता है। अनन्तर जब कि वह व्यक्ति पर्वत से उठने वाली उक्त प्रकार धूममाला को देखता है तो वह उसका सुप्त धूमगत-अग्नि-व्याप्ति की वासना प्रबुद्ध हो उठती है, जग पडती है। जिसका प्रभाव यह होता है कि अतिपूर्व होने वाले धूमगत अग्नि व्याप्ति का अनुभव और वर्त्तमान धूमप्रत्यक्ष इन दोनो से ही "यह पवत आग वाला है" यह अनुमिति हो जाती है। मध्य मे "धूम आग का व्याप्य है" इस प्रकार स्मरणात्मक ज्ञान की अपेक्षा अनुमिति को होती नही। अति पूर्व सम्पन्न व्याप्ति-अनुभव और वर्तमान धूमप्रत्यक्ष इन दोनो से ही अनुमित हो जाती है।

अनुमिति की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे इस प्रकार वैमत्य-वर्णन के अनन्तर चार्वाकीय-

(६२) ननु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति ज्ञान विनाऽपि यत्र पर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्ष ततो वह्निव्याप्यो धूम इति स्मरण तत्र ज्ञानद्वयादेवानुमितेर्दर्शनात् • ।

——न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, अनुमानखण्ड ।

(६३) अनुमितिकरण च व्याप्तिज्ञानम्। तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापार। नतुतृतीय-लिंगपरामर्शोऽनुमितौ करणम्। तस्यानुमितिहेतुत्वासिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात।

——वेदान्त-परिभाषा, अनुमान-परिच्छेद ।

धूमहेतुक और अग्निसाध्यक अनुमितिस्थल मे "यह पर्वत वह्नि की व्याप्ति से युक्त होने वाले धूम से युक्त है" इस प्रकार, पूर्वज्ञान की अपेक्षा एक बृहदाकार ज्ञान होता है। और इसके अव्यवहित उत्तर ही "यह पर्वत आग वाला है" इस प्रकार निर्णयात्मक अनुमिति हो जाती है।

दूसरे कुछ लोग इस प्रक्रिया को पूर्ण रूप से मान्यता देते नही। वे परामर्श नामक ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानना सर्वथा व्यर्थ[६२] समझते है अत अपनी प्रक्रिया इस प्रकार बनाते है कि रसोई घर आदि स्थानो मे जिस व्यक्ति ने बारम्बार यह देख रखा है कि "जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ आग रहती ही है" तो इस प्रकार व्याप्ति का निश्चय रखने वाला व्यक्ति जब पर्वत से निकलती हुई अविच्छिन्न-मूल धूममाला को देखता है तो उस अनुभूत व्याप्ति का स्मरण होता है कि "धूम आग का व्याप्य है"। इसके अनन्तर ही उस व्यक्ति को अव्यवहित पूर्व हुए पर्वत मे धूम के प्रत्यक्ष और धूम मे हुए व्याप्ति-स्मरण के बल से यह निश्चयात्मक अनुमिति हो जाती है कि "यह पर्वत अग्नि वाला है"।

विवेचको का तीसरा दल यह कहता है कि अव्यवहित उक्त प्रक्रिया मे जो व्याप्ति-स्मरण को भी अनुमिति के प्रति अपेक्षणीयता बतलायी गयी है वह मेरे यहाँ मान्य नही है। इसके अनुसार ये अनुमिति के प्रजनन के सम्बन्ध मे यह प्रक्रिया उपस्थित करते है कि रसोई घर आदि स्थानो मे व्यक्ति प्रथमत धूम[६३] और आग के सामानाधिकरण्य का अनुभव करता है जिससे वह इस निश्चय पर उसी समय पहुँच जाता है कि "धूम वह्नि का व्याप्य है" इस अनुभव का वासनात्मक प्रभाव रह जाता है। अनन्तर जब कि वह व्यक्ति पर्वत से उठने वाली उक्त प्रकार धूममाला को देखता है तो वह उसका सुप्त धूमगत-अग्नि-व्याप्ति की वासना प्रबुद्ध हो उठती है, जग पडती है। जिसका प्रभाव यह होता है कि अतिपूर्व होने वाले धूमगत अग्नि व्याप्ति का अनुभव और वर्त्तमान धूमप्रत्यक्ष इन दोनो से ही "यह पर्वत आग वाला है" यह अनुमिति हो जाती है। मध्य मे "धूम आग का व्याप्य है" इस प्रकार स्मरणात्मक ज्ञान की अपेक्षा अनुमिति को होती नही। अति पूर्व सम्पन्न व्याप्ति-अनुभव और वर्तमान धूमप्रत्यक्ष इन दोनो से ही अनुमित हो जाती है।

अनुमिति की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे इस प्रकार वैमत्य-वर्णन के अनन्तर चार्वाकीय-

(६२) ननु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति ज्ञान विनाऽपि यत्र पर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्ष ततो वह्निव्याप्यो धूम इति स्मरण तत्र ज्ञानद्वयादेवानुमितेर्दर्शनात् ॰ ।

——न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, अनुमानखण्ड ।

(६३) अनुमितिकरण च व्याप्तिज्ञानम्। तत्सस्कारोऽवान्तरव्यापार। नतुतृतीय-लिगपरामर्शोऽनुमितौ करणम्। तस्यानुमितिहेतुत्वासिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात।

——वेदान्त-परिभाषा, अनुमान-परिच्छेद ।

होती है। जैसे "पर्वत अग्नि वाला है क्योकि धूम वाला है" इस अनुमान स्थल मे पर्वत, होता है पक्ष। क्योकि अग्निस्वरूप साध्य की अनुमिति उसी मे की जाती है। सपक्ष वह कहलाता है जिसमे कि प्रकृत साध्य का निश्चयात्मक ज्ञान पहले से ही विद्यमान होता है। उक्त अनुमिति स्थल मे रसोई घर आदि को सपक्ष समझा जा सकता है। क्योकि साध्यभूत आग का निश्चय उस व्यक्ति को, जो कि पर्वत मे उठते हुए धूम को देख कर अग्नि का अनुमान करता है, हुआ होता है। विपक्ष वह कहलाता है जहाँ साध्य के अभाव का सर्वथा निश्चय हो। उक्त अनुमान स्थल मे जलाशय आदि होते है विपक्ष। क्योकि आग के अभाव का निश्चय वहाँ प्रत्येक अभ्रान्त व्यक्ति को होता ही है। एतदतिरिक्त "साध्य" वह कहलाता है जिसकी अनुमिति अनुमित्सु व्यक्ति पक्ष मे करता है। और "हेतु" अथवा "लिंग" वह कहलाता है जो कि पक्ष मे साध्य का साधक होता है। अर्थात् अनुमित्सु व्यक्ति जिसे साध्य का व्याप्य एव पक्ष मे रहने वाला समझ कर उसके सहारे प्रकृत पक्ष मे उसके प्रति व्यापक होने वाले साध्य की अनुमिति करता है वह कहलाता है हेतु या लिंग। "पर्वत अग्नि वाला है क्योकि धूम वाला है" इस अनुमान स्थल मे आग होती है साध्य और धूम होता है हेतु, लिंग अर्थात् साधक।

हेतु व्याप्य रूप से गृहीत होने पर उससे अनुमिति होती है यह बात बतलायी जा चुकी है। व्याप्य का अर्थ है व्याप्ति का आश्रय और व्याप्ति क्या है? इस प्रश्न पर पूर्ण रूप से विवेचन किया जा चुका है। केवल इस सम्बन्ध मे अधिक यह और समझ लेना चाहिए कि जहाँ व्यतिरेक सहचार का ज्ञान होता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ साध्य का अभाव है वहाँ-वहाँ हेतु का भी अभाव है इस प्रकार साध्य का अभाव और हेतु का अभाव इन दोनो मे व्याप्य-व्यापकभाव गृहीत होता है, वहाँ भी—उन दोनो अभावो के प्रतियोगी साध्य और हेतु इन दोनो के बीच अन्वय–व्याप्य-व्यापक-भाव समझ कर ही, अर्थात् वहाँ के हेतु मे वहाँ के साध्य की उक्त प्रकार अन्वय-व्याप्तिज्ञान करके ही अनुमिति होती है। अत अर्थापत्ति को प्रमा एव प्रमाण न मान कर उस स्थल मे व्यतिरेकी अनुमान मानने वालो के दृष्टिकोण मे व्यतिरेकी होने वाला अनुमान भी अन्वयी अनुमान ही बन जाता है। केव-लान्वयी अनुमान की अमान्यता पहले बतलायी जा चुकी है और अभी बतलाये गये मार्ग से केवल व्यतिरेकी अनुमान भी मान्य नही हो पाता। अत अनुमान का कोई प्रभेद अर्थात् अवान्तर विभाग चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे मान्य नही।

इस प्रकार विस्तृत-भाव से अनुमितिके सम्बन्ध मे विचार करने के अनन्तर इस सम्बन्ध मे अब ज्ञातव्य यह है कि यह अनुमिति भी चार्वाकीय-दृष्टिकोण से स्वतन्त्र प्रमिति नही है। यह भी प्रत्यक्ष का ही एक प्रभेद है। अनुमिति कैसे प्रत्यक्ष हो, एव कहला सकती है? इस जिज्ञासा की निवृत्ति प्रात्यक्षिक विवेचन से हो जायेगी।

होती है। जैसे "पर्वत अग्नि वाला है क्योकि धूम वाला है" इस अनुमान स्थल मे पर्वत, होता है पक्ष। क्योकि अग्निस्वरूप साध्य की अनुमिति उसी मे की जाती है। सपक्ष वह कहलाता है जिसमे कि प्रकृत साध्य का निश्चयात्मक ज्ञान पहले से ही विद्यमान होता है। उक्त अनुमिति स्थल मे रसोई घर आदि को सपक्ष समझा जा सकता है। क्योकि साध्यभूत आग का निश्चय उस व्यक्ति को, जो कि पर्वत मे उठते हुए धूम को देख कर अग्नि का अनुमान करता है, हुआ होता है। विपक्ष वह कहलाता है जहाँ साध्य के अभाव का सर्वथा निश्चय हो। उक्त अनुमान स्थल मे जलाशय आदि होते है विपक्ष। क्योकि आग के अभाव का निश्चय वहाँ प्रत्येक अभ्रान्त व्यक्ति को होता ही है। एतदतिरिक्त "साध्य" वह कहलाता है जिसकी अनुमिति अनुमित्सु व्यक्ति पक्ष मे करता है। और "हेतु" अथवा "लिंग" वह कहलाता है जो कि पक्ष मे साध्य का साधक होता है। अर्थात् अनुमित्सु व्यक्ति जिसे साध्य का व्याप्य एव पक्ष मे रहने वाला समझ कर उसके सहारे प्रकृत पक्ष मे उसके प्रति व्यापक होने वाले साध्य की अनुमिति करता है वह कहलाता है हेतु या लिंग। "पर्वत अग्नि वाला है क्योकि धूम वाला है" इस अनुमान स्थल मे आग होती है साध्य और धूम होता है हेतु, लिंग अर्थात् साधक।

हेतु व्याप्य रूप से गृहीत होने पर उससे अनुमिति होती है यह बात बतलायी जा चुकी है। व्याप्य का अर्थ है व्याप्ति का आश्रय और व्याप्ति क्या है? इस प्रश्न पर पूर्ण रूप से विवेचन किया जा चुका है। केवल इस सम्बन्ध मे अधिक यह और समझ लेना चाहिए कि जहाँ व्यतिरेक सहचार का ज्ञान होता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ साध्य का अभाव है वहाँ-वहाँ हेतु का भी अभाव है इस प्रकार साध्य का अभाव और हेतु का अभाव इन दोनो मे व्याप्य-व्यापकभाव गृहीत होता है, वहाँ भी—उन दोनो अभावो के प्रतियोगी साध्य और हेतु इन दोनो के बीच अन्वय–व्याप्य-व्यापक-भाव समझ कर ही, अर्थात् वहाँ के हेतु मे वहाँ के साध्य की उक्त प्रकार अन्वय-व्याप्तिज्ञान करके ही अनुमिति होती है। अत अर्थापत्ति को प्रमा एव प्रमाण न मान कर उस स्थल मे व्यतिरेकी अनुमान मानने वालो के दृष्टिकोण मे व्यतिरेकी होने वाला अनुमान भी अन्वयी अनुमान ही बन जाता है। केवलान्वयी अनुमान की अमान्यता पहले बतलायी जा चुकी है और अभी बतलाये गये मार्ग से केवल व्यतिरेकी अनुमान भी मान्य नही हो पाता। अत अनुमान का कोई प्रभेद अर्थात् अवान्तर विभाग चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे मान्य नही।

इस प्रकार विस्तृत-भाव से अनुमितिके सम्बन्ध मे विचार करने के अनन्तर इस सम्बन्ध मे अब ज्ञातव्य यह है कि यह अनुमिति भी चार्वाकीय-दृष्टिकोण से स्वतन्त्र प्रमिति नही है। यह भी प्रत्यक्ष का ही एक प्रभेद है। अनुमिति कैसे प्रत्यक्ष हो, एव कहला सकती है? इस जिज्ञासा की निवृत्ति प्रात्यक्षिक विवेचन से हो जायेगी।

यह आपका निर्वचन तो आपकी प्रात्यक्षिक-प्रक्रिया के अनुरूप नही हो पा रहा है ? क्योकि[६५] इस आपके प्रत्यक्ष के निर्वचन मे आत्मा और मन के बीच अपेक्षित रूप से मान्य सन्निकर्ष और मन तथा आँख आदि इन्द्रियो के बीच अपेक्षित रूप से मान्य सन्निकर्ष की चर्चा आपके प्रत्यक्ष के इस निर्वचन मे हो नही पायी है। अत या तो आपका यह प्रत्यक्ष का निर्वचन अपूर्ण है या वर्णित आपकी प्रत्यक्ष-प्रक्रिया ही गलत है। तो इसके उत्तर मे नैयायिक लोग कहते यह हैं कि—न हमारी प्रत्यक्ष की प्रक्रिया गलत है और न प्रत्यक्ष का उक्त निर्वचन ही अधूरा है[६६]। क्योकि किसी वस्तु के निर्वचन और उसकी जनन-प्रक्रिया इन दोनो मे पूरी समानता हो, यह अपेक्षित नही। यत दोनो के प्रयोजन विभिन्न होते है। निर्वचन का प्रयोजन जहाँ केवल उस वस्तु का परिचय कराना होता है, प्रक्रिया-वर्णन का प्रयोजन वहाँ उस जिज्ञासा की निवृत्ति होती है जो कि लोगो के मन मे इस प्रकार उठा करती है कि यह वस्तु कैसे और किन उपायो से अर्थात् किन साधनो से, तथा कैसे उत्पन्न होती है ? निर्वचनकर्त्ता की दृष्टि विशेषत उसी ओर आकृष्ट होती है जो कि उस वस्तु का असाधारण-धर्म, असाधारण स्वभाव हुआ करता है। क्योकि परिचेय वस्तु का ठीक स्वरूप-परिचय उसी से प्राप्त हो पाता है। इसी वस्तुस्थिति के अनुसार प्रत्यक्ष के निर्वचन मे केवल इतना ही कहा गया है कि "इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पैदा होने वाला ज्ञान होता है प्रत्यक्ष"। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष मे यह विशेषता है कि वह ज्ञानो के अन्दर प्रत्यक्ष के प्रति ही कारण होता है अनुमिति आदि ज्ञानो के प्रति नही, अत प्रत्यक्ष के प्रति वह असाधारण रूप से कारण होता है। इसलिए उससे उत्पन्न होने वाला होना यह प्रत्यक्ष का ही असाधारण स्वभाव होता है, औरो का नही। अत इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न कह कर ही प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप-परिचय दिया गया है। इन्द्रिय और अर्थ के बीच होने वाले सन्निकर्ष की तरह आत्मा और मन के अन्दर होने वाले सन्निकर्ष की परिस्थिति नही है, क्योकि वह केवल प्रत्यक्ष के लिए ही असाधारण रूप से अपेक्षित न होकर सारे ज्ञान एव इच्छा, प्रयत्न आदि के लिए साधारण रूप से अपेक्षित होता है। अत तज्जन्यता को प्रत्यक्ष का असाधारण स्वरूप नही कहा जा सकता। जिससे कि प्रत्यक्ष के निर्वचन मे उसे भी स्थान दिया जा सके। इसके अनन्तर जब उक्त प्रत्यक्षनिर्वचनवादी नैयायिको के समक्ष यह शका उपस्थित की जाती है कि नैयायिको के इस प्रत्यक्ष सम्बन्धी निर्वचन के अनुसार अपने प्रत्यक्ष-प्रक्रिया

(६५) न तर्हीदानीमिद भवति, आत्मा मनसा सयुज्यवते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति। —न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्य, प्रत्यक्ष सूत्र।

(६६) नेद कारणावधारणम्, एतावत्प्रत्यक्षकारणमिति। किन्तु विशिष्टकारणवचनमिति। —न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्य।

अन्दर कुछ लोगो का कहना यह है, कि यह निर्वचन समग्र प्रत्यक्षो का निर्वाचक नही है। क्योकि जगत्कर्त्ता परमेश्वर जो समग्र जगत् को, यहाँ तक कहिये कि प्रत्येक अणु-परमाणु तक को प्रत्यक्ष रूप मे देखता है, तत्कर्तृक उस समग्र वस्तु विषयक प्रत्यक्ष के लिए यह निर्वचन मान्य नही हो सकता। क्योकि शरीर रहित परमेश्वर से किया जाने वाला समग्र वस्तु का प्रत्यक्ष तो विषय के साथ होने वाले आँख आदि किसी भी इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न नही हो सकता ? न तो परमेश्वर को कोई इन्द्रिय है और न उनका नित्य ज्ञान किसी भी कारण से उत्पन्न होता है। ऐसी परिस्थिति मे परमेश्वर-कर्त्तृक उस प्रत्यक्ष मे "इन्द्रिय और अर्थ अर्थात् दृश्य वस्तु इन दोनो के बीच होने वाले सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है प्रत्यक्ष" यह निर्वचन लागू नही होता। इसलिए यदि ईश्वरकर्तृक और जीवकर्तृक द्विविध प्रत्यक्ष का एक अनुगत निर्वचन अपेक्षित हो तो प्रत्यक्ष का निर्वचन यह समझना चाहिए कि 'जिस ज्ञान का करण, ज्ञान न हो, वह ज्ञान कहलाता है प्रत्यक्ष"।[६७] इस कथन का तात्पर्य यह है कि अनुमितिज्ञान के प्रति व्याप्तिज्ञान और उपमिति ज्ञान के प्रति उपमान और उपमेय का सादृश्य-ज्ञान और स्मरण-ज्ञान के प्रति अनुभवज्ञान मे होते है करण। अत ये प्रमितियाँ ज्ञान को ही अपने करणरूप मे वरण करने वाली होती है, वरण नही करनेवाली नही। अत अवशिष्ट एक प्रत्यक्ष ही ऐसा रह जाता है जो कि इन्द्रिय को करण रूप से वरण करने के कारण ज्ञानकरणक न हो कर "ज्ञान न हो करण जिसका" ऐसा होता है। अत सार्वत्रिक प्रत्यक्ष का निर्वचन इसे ही समझना चाहिए। मन को शरीर का ही एक अवयव न मान कर एक स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाले नैयायिक लोग भी मन को इन्द्रिय अवश्य मानते है। यह इसलिए कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्षता की मान्यता पक्ष मे, सुख या दु ख का प्रत्यक्ष, इच्छा या प्रयत्न का प्रत्यक्ष, आँख आदि से जनित न होने के कारण, इन्द्रियजन्य कैसे हो पायेगा ? यदि मन को भी इन्द्रिय न माना जाय ? मन को भी आँख आदि की तरह इन्द्रिय मान लेने पर तज्जनित होने के कारण "मै सुखी हूँ", "मै दुखी हूँ" इत्यादि प्रत्यक्ष मे उक्त प्रत्यक्ष का निर्वचन लागू हो जाता है।

नैयायिक लोग आँख आदि इन्द्रियो को भी शरीर का अवयव मानते नही, शरीर से सयोगशील द्रव्य मानते है। कर्मेन्द्रियो को वे मान्यता ही नही देते। ज्ञानेन्द्रियो के अन्दर मन को छोड कर आँख आदि सभी इन्द्रियो को नैयायिक लोग भौतिक मानते है। जिनके अन्दर आँख को तेज और कान को आकाश, नाक को पार्थिव तो रसना को अर्थात् जिह्वा को जल मानते है ? चार्वाकीय दृष्टिकोण मे तो मन ही केवल एक इन्द्रिय है यह बात पहले कही जा चुकी है। आँख के सम्बन्ध मे नैयायिको का कहना है कि जिस अक्षिपात्रस्थित

(६७) ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्। —तर्कसग्रह।

मध्यकृष्ण श्वेत-पिण्ड को लोग आँख समझते है सचमुच वह आँख नही है। किन्तु उससे निकल कर द्रष्टव्य तक जाने वाली अदृश्य रश्मियाँ है आँख। क्योकि ऐसा मानने पर ही उसका द्रष्टव्य विषय के साथ सन्निकर्षात्मक सम्पर्क स्थापित हो सकता है। ऐसा मानने पर अति महान् पर्वत आदि दृश्यो का प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? क्योकि वह ऋजुरेख रश्मि जिसे नैयायिक लोग आँख मानते है सारे पर्वतो को तो व्याप्त कर पायेगी नही ? इसके उत्तर मे नैयायिक विवेचको ने यह कहा है कि दीप-केन्द्र से निर्गत उसकी प्रकाशधारा के समान ये नयनरश्मियाँ प्रसृमर होती है अर्थात् फैलने वाली होती है, अत केन्द्र स्थान से निर्गमन के समय ऋजुरेख होने पर भी उन्नत नासिकास्थि के आगे ज्यो-ज्यो बढती जाती है त्यो-त्यो फैलती जाती है। अत बडी-से-बडी वस्तु भी उन नयनभूत रश्मियो के द्वारा व्याप्त हो पाती है। इसी का फल यह होता है कि उस बडी-से-बडी वस्तु को भी देखा जा सकता है। हवा के झकोरे से वह नयनरश्मि दीपशिखा की तरह बुत क्यो न जाती ? इस प्रश्न के उत्तर मे नैयायिक लोग यह कहते है कि हवा के वेग से उस नयनरश्मि का वेग कही अधिक होता है इसलिए वेगपूर्वक चलती हुई हवा से उसकी गति मे उसकी अग्रसरता मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होती नही। न वह बुतती और न वह दीपशिखा के समान कम्पन प्राप्त करती। सवेग चन्द्र-सूर्यरश्मियो मे यह बात पायी ही जाती है कि केवल वायु से विताडित होकर कम्पनशील होती नही। आँख के सम्बन्ध मे नैयायिको ने इस पर भी विस्तृत भाव से विचार किया है कि एक व्यक्ति को आँख एक ही होती है, या दो होती है ? उन्होने अपने तर्कपूर्ण विचार के द्वारा बौद्ध-सिद्धान्त के विरुद्ध यह स्थिर किया है कि आखे दो होती है, एक नही। कोई काना हो जाय, एक आँख उसकी नष्ट हो जाय यह बात दूसरी है। किन्तु स्वस्थ चक्षुष्क व्यक्तियो को आँखे दो ही होती है। कान और नाक के सम्बन्ध मे इस प्रकार विचार यद्यपि उन्होने नही किया है फिर भी आख पर किये गये विचार मे नाक और कान के सम्बन्ध मे भी उनका विचार व्यक्त-सा समझा जा सकता है।

उत्पन्न होने वाला शब्द श्रोता को सुनाई देता है। गन्ध, रस और स्पर्श इनके सम्बन्ध मे नैयायिको की धारणा यह है कि ये अपने गतिशील आश्रय द्रव्य के साथ, मानो गतिशील अपने आश्रय द्रव्यात्मक वाहन पर आरूढ होकर, अपने-अपने ग्राहक इन्द्रिय नाक, जिह्वा और त्वक् इन इन्द्रियो के पास आते है। जहाँ इन इन्द्रियो के द्वारा मन को मध्य मे रख कर आत्मा को भी विषयो का सम्पर्क स्थापित हो जाता है अत आत्मा को इन विषयो का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हो जाता है।

अपने-अपने विषयो के साथ होने वाले इन्द्रिय-सम्पर्क के सम्बन्ध मे नैयायिको का कहना यह है कि ग्राह्यविषय और ग्राहक-इन्द्रियाँ इनके बीच होने वाले सम्बन्ध को जो कि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के लिए अत्यावश्यक होते है प्रथमत दो भागो मे विभक्त समझना चाहिए यथा—लौकिक और अलौकिक। उक्त सम्बन्ध को वे लोग अपने शब्दो मे "सन्निकर्ष" कहते हैं जिसका भी अर्थ सम्बन्ध ही होता है। तदनुसार नैयायिको के घर मे इन्द्रिय और विषय के बीच होने वाले प्रत्यक्षजनक सम्बन्ध लौकिक सन्निकर्ष और अलौकिक सन्निकर्ष इस प्रकार दो होते है। लौकिक सन्निकर्षों को वे पुन छह भागो मे विभक्त मानते है यथा[६८]—सयोग, सयुक्त-समवाय, सयुक्त-समवेत-समवाय, समवाय और समवेत-समवाय तथा विशेष्य-विशेषण-भाव। यहाँ का यह विवेचन नैयायिक और वैशेषिक दोनो दार्शनिको के लिए समान रूप से मान्य है। तदनुसार ये दोनो दार्शनिक प्रत्यक्षग्राह्य वस्तुओ के अन्दर द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य तथा अभाव इन पाँचो के ग्राहक रूप मे आँख, त्वक् और मन को ही मान्यता देते है अन्य नाक आदि इन्द्रियो को नही। और नाक, कान तथा जिह्वा इन्हें केवल गुण, सामान्य और अभाव इन विषयो का ग्राहक मानते है। मन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सबका ग्राहक होता है। इसके अनुसार सयोग सन्निकर्ष साक्षात् रूप मे आँख, त्वक् और मन इनके लिए ही सन्निकर्ष हो पाता है औरो के लिए नही। आगे विद्यमान किसी भी द्रव्यात्मक दृश्य के साथ आँख का सयोग होने पर उस दृश्य द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है यदि वह दृश्य अतीन्द्रिय न हो। सामने विद्यमान पेड, पौधे आदि सभी स्थूल द्रव्य आँख से सयोग-सन्निकर्ष प्राप्त करने के कारण ही आँख से देखे जा पाते है। द्रव्यगत गुण क्रिया और सामान्य इनका प्रत्यक्ष होता है "सयुक्त समवाय" सन्निकर्ष से। जैसे फूल मे होने वाले रूप, रस आदि गुण एव फूल मे होने वाले कम्पन तथा फूल मे रहने वाले "पुष्पत्व" सामान्य का प्रत्यक्ष सयुक्त-समवाय सन्निकर्ष से होता है।

(६८) द्रव्यग्रहस्तु सयोगात् सयुक्त—समवायत
द्रव्येषु समवेताना, तथा तत्समवायत ।
.. । —भाषापरिच्छेद, प्रत्यक्षपरिच्छेद ।

होगा तो वहाँ "सयुक्त-समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष" काम मे आयेगा। क्योकि आँख से सयुक्त होगा फूल, उसमे समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण समवेत होगा रूप और उसमे विशेषण होगा रसाभाव। जब कि "पुष्परूपत्व रसाभाव वाला है" ऐसा प्रत्यक्ष किया जाय तो वहाँ "सयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता" सन्निकर्ष काम मे लाया जाता है। क्योकि आँख से सयुक्त होता है पुष्प, उसमे समवेत होता है उसका रूप, और उस रूप मे समवेत होता है रूपत्व, जिसमे ग्राह्य रसाभाव विशेषण होता है। "शब्द रूपाभाव वाला है" इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थल मे "समवेत, विशेषणता" सन्निकर्ष काम देता है। क्योकि उक्त पद्धति से कान मे समवेत होता है शब्द और उसमे विशेषण होता है रूपाभाव। "शब्दत्व रूपाभाव वाला है" इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थल मे "समवेत-समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष" उपयोग मे आता है। क्योकि कान मे समवेत होता है शब्द और उसमे समवेत होता है शब्दत्व एव उस शब्दत्व मे विशेषण होता है रूपाभाव।

इस प्रकार नैयायिक सम्मत "विशेषणभाव" अर्थात् विशेषणता सन्निकर्ष के उपयोग को उदाहरण द्वारा समझने के अनन्तर विशेष्यता सन्निकर्ष की उपयोगिता उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझनी चाहिए कि "फूल मे भ्रमर का अभाव है" इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थल मे "सयुक्त-विशेष्यता सन्निकर्ष" कार्यकारी होता है। क्योकि आँख से सयुक्त होता है फूल और उसका विशेष्य होता है भ्रमर का अभाव। यदि "फूल के रूप मे रसाभाव है" इस प्रकार प्रत्यक्ष कर्त्तव्य होगा तो वहाँ "सयुक्त-समवेत-समवेत-विशेष्यता" सन्निकर्ष काम मे आयेगा। क्योकि आँख से सयुक्त होगा फूल, उसमे समवेत होगा रूप और उसका विशेष्य होगा रस का अभाव। यदि "पुष्प-रूपत्व मे रसाभाव है" इस प्रकार प्रत्यक्ष कर्त्तव्य होगा तो कार्यकारी होगा "सयुक्त-समवेत-समवेत-विशेष्यता" सन्निकर्ष। क्योकि आँख से सयुक्त होगा फूल, उसमे समवेत होगा रूप और उसमे समवेत होगा रूपत्व, जिसका विशेष्य होगा रसाभाव। "शब्द मे रूप का अभाव है" इस तरह के प्रत्यक्ष स्थल मे "समवेत-विशेष्यता" सन्निकर्ष काम आयेगा। क्योकि कान मे समवेत होगा शब्द और उसका विशेष्य होगा रूप का अभाव। जब कि "शब्दत्व मे रूप का अभाव है" इस प्रकार प्रत्यक्ष किया जायगा, तब सन्निकर्ष होगा "समवेत-समवेत-विशेष्यता"। क्योकि कान मे समवेत होगा शब्द और उसमे समवेत होगा शब्दत्व, एव उसका विशेष्य होगा रूप का अभाव। इसी प्रकार अन्यत्र भी न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण से अभावग्राहक सन्निकर्ष को समझना होगा। इन सन्निकर्षो को चुनते समय इस ओर नही ध्यान देना चाहिए कि ग्राह्य अभाव, है किसका ? वरन् ध्यान देना चाहिए उसके आधार की ओर। जैसा कि वतलाया जा चुका है कि द्रव्य मे किसी के अभाव का यदि प्रत्यक्ष किया जाय तो "सयुक्त-विशेषणता" सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का जनक होगा इत्यादि।

के लिए मान्य होती है। क्योकि उस अश मे उक्त स्मरणात्मक-ज्ञानस्वरूप सन्निकर्ष एक प्रकार अलौकिक सन्निकर्ष होता है।

यहाँ जब कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करते है कि उक्त परिस्थिति मे सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से भी तो काम लिया जा सकता है? उसके सहारे भी तो सुगन्ध का उक्त प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्पन्न किया जा सकता है? क्योकि जिस सुगन्ध के स्मरण को ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष कहा जा रहा है उसे सुगन्ध के स्मरण के समान सुगन्धत्व का भी स्मरण कहा जा सकता है? कहने का तात्पर्य यह होता है कि सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष और ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष इन दोनो के अन्दर अन्तर यही होता है कि सामान्यलक्षण के उदाहरण स्थल मे धर्म का ज्ञान धर्मी के लिए सन्निकर्ष होता है। जैसे पुष्पत्व का ज्ञान सारे पुष्पो के लिए सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष होता है और ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष स्थल मे प्रत्यक्ष से अव्यव-हित पूर्व मे रहने वाला उसी वस्तु का ज्ञानान्तर उसके अव्यवहित उत्तर होने वाले उसी वस्तु के प्रत्यक्ष के प्रति सन्निकर्ष रूप से अपेक्षित होता है। जैसे प्रकृत दृष्टान्त स्थल मे सुगन्ध के ही प्रत्यक्ष के प्रति सुगन्ध का ही स्मरण सन्निकर्ष होता है।

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष मे इस प्रकार अन्तर के होते हुए भी प्रकृत सुगन्धस्मरणस्वरूप ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष को ही सामान्यलक्षण सन्निकर्ष भी इसलिए कहा जा पाता है कि उक्त सुगन्ध के स्मरण मे सुगन्ध केवल विषय न बन कर सुगन्धत्व धर्मयुक्त रूप मे ही विषय बनती हैं। अत सुगन्ध के स्मरण को सुगन्धत्व का भी स्मरण मानना ही होगा। फलत उस सुगन्धत्व के स्मरण को सुगन्ध के प्रत्यक्ष के लिए भलीभाँति सामान्यलक्षण सन्निकर्ष कहा जा सकता है। फिर सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से ही "यह फूल सुगन्धित है" इस प्रकार होने वाली प्रत्यक्ष की सम्पत्ति क्यो न मान ली जाय? ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष क्यो माना जाय?

तो इसके उत्तर मे ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष वादी यह कहते है कि हाँ, सुगन्ध का प्रत्यक्ष यहाँ इस दृष्टिकोण से सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से भी होता हुआ दिखाई देता है। परन्तु जैसे सन्निकर्षभूत सुगन्ध स्मरण को सुगन्धत्व का भी स्मरण कहा जा रहा है तैसे "यह फूल सुगन्धित है" इस कार्यभूत प्रत्यक्ष को सुगन्ध के प्रत्यक्ष की तरह सुगन्धत्व का भी प्रत्यक्ष कह सकते हैं। क्योकि इस प्रत्यक्ष मे भी सुगन्ध मात्र ही विषय न होकर सुगन्धत्व भी सुगन्ध के अश मे विशेषण रूप से विषय होगा ही। ऐसी परिस्थिति मे सुगन्धत्व, सुगन्ध और फूल तीनो का विषयीकरण उक्त प्रकार प्रत्यक्ष स्थल मे सम्पादनीय होगा। फूल के साथ तो आँख का सयोगात्मक लौकिक ही सन्निकर्ष होगा और सुगन्ध के साथ उक्त युक्ति से सुगन्धत्व-स्मरणात्मक सामान्यलक्षण सन्निकर्ष भी कहा जा सकता है। परन्तु सुगन्धत्व का प्रत्यक्षीकरण ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के विना कथमपि सम्भव नही हो सकता। आँख

जन्य, ज्ञानलक्षणाजन्य और योगज इस प्रकार तीन प्रभेदो मे विभक्त समझना चाहिए। इन तीनो प्रभेदो के अन्दर प्रथम सामान्यलक्षणज प्रत्यक्ष को भी फिर घ्राणज, रासज चाक्षुप, श्रावण और मानस इन छ प्रभेदो मे विभक्तता होती है। इसी प्रकार ज्ञानलक्षणज प्रत्यक्ष को भी इन्ही छ प्रभेदो मे विभक्त समझना उचित होगा। योगज ज्ञान इस प्रकार इन छ प्रभेदो मे विभक्त नही होगा। क्योकि योगिज्ञान को योगज प्रत्यक्ष मानना ही अधिक सगत होगा। यत योगियो के लिए मनोबल ही सर्वाधिक महत्त्वास्पद मान्य है। यदि यह माना जाय कि योगी अपनी अमोघ इच्छा के अनुसार नाक आदि इन्द्रियो से भी विषयो का ग्रहण करेगा योगज धर्म के सहारे, तब योगज प्रत्यक्ष को भी घ्राणज आदि उक्त छ प्रभेदो मे विभक्त समझना होगा। इसके अनन्तर सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दो प्रभेदो मे सारे वर्णित प्रत्यक्षप्रभेदो का विभाजन समझना चाहिए।

निर्विकल्पक ज्ञान की परिभाषा[७४] यह है कि जिस ज्ञान के अन्दर अनेक वस्तुओ के बीच होने वाले सम्बन्ध का विषयीकरण न हो, वह ज्ञान कहलाता है निर्विकल्पक। जिस ज्ञान मे विपय कोई एक ही हो वह कहलाता है निर्विकल्पक। यह परिभाषा निर्विकल्पक की बनायी नही जा सकती। क्योकि निर्विकल्पक ज्ञान असम्बद्ध भाव से एकाधिक को भी विषय कर सकता है। बौद्धीय-दृष्टिकोण से निर्विकल्पक की वह भी परिभाषा सम्भव होती है कि एकमात्र को विषय करने वाला ज्ञान होता है निर्विकल्पक। क्योकि वे यदि एक ज्ञान मे एकाधिक का विषयीकरण मानेगे तो अन्तत उन अनेक विषयो मे एक ज्ञान, या तादृश ज्ञान-विषयत्व ही सम्बन्ध स्थापित हो जायगा जिसे बौद्धीय-दृष्टिकोण के लिए सह्य नही कहा जा सकेगा। यह इसलिए कि वे लोग निर्विकल्पक ज्ञान का विषय स्वलक्षण को ही मानते है और स्वलक्षण उनके सिद्धान्त के अनुसार वे ही कहलाते है जिन्हें औरो से किसी प्रकार का सम्पर्क न हो। नैयायिक लोग इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को भी साख्य आदि दर्शनो की तरह आँख आदि इन्द्रियो का धर्म नही मानते। क्योकि न्यायसिद्धान्त मे ज्ञाता केवल आत्मा ही है। सविकल्पक हो या निर्विकल्पक सभी ज्ञान आत्मा मे ही उत्पन्न होने वाले माने जाते है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की मान्यता नैयायिक लोग इस युक्ति के सहारे स्थिर करते है कि सविकल्पक ज्ञान नियमत विशिष्ट-विषयक हुआ करता है। अर्थात् अनेक विषय सम्बद्ध रूप मे, फलत मिलित रूप मे, उसके विपय हुआ करते है। सम्बद्ध अथवा मिलित का अभिप्रेत अर्थ होता है एक युक्त अपर। अर्थात् एक से विशेषित दूसरा। इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान मे नियमत विशिष्ट ही विषय होने के कारण उसके

(७४) ज्ञान यन्निर्विकल्पाख्य तदतीन्द्रियमिष्यते।
प्रकारतादिशन्य हि सम्बन्धानवगाहि तत्॥ —भाषा परिच्छेद।

का लौकिक-सन्निकर्ष जब कि सुगन्ध के साथ भी नहीं है तब सुगन्धत्व के साथ उसके होने की सम्भावना ही कैसे की जा सकती ? सुगन्धत्व के प्रत्यक्षीकरणार्थ सामान्यलक्षण सन्निकर्ष की भी उपस्थिति इसलिए नहीं कही जा सकती कि सुगन्धत्व के प्रत्यक्षीकरण के लिए सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष सुगन्धत्व-ज्ञान को ही माना जा सकता। क्योंकि[७२] धर्म का ही ज्ञान धर्मी के प्रत्यक्षीकरणार्थ सामान्यलक्षण सन्निकर्ष होता है। वर्तमान सुगन्ध का स्मरण सुगन्ध और सुगन्धत्व इन दोनो को ही विषय रूप से ग्रहण कर पाता है, सुगन्धत्वत्व का नहीं। ऐसी परिस्थिति मे कैसे उस सुगन्ध-स्मरण को सुगन्धत्व के प्रत्यक्षीकरण के लिए सामान्यलक्षण सन्निकर्ष कहा जाय ? उस सुगन्ध-स्मरण को सुगन्धत्व के प्रत्यक्षीकरण के लिए इसलिए ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष माना जा सकता है कि "यह फूल सुगन्धित है" इस प्रत्यक्ष स्थल मे सुगन्धत्व का विषयीकरण अन्य सन्निकर्ष से हो नही पाता है, और उसका होना उचित है, अनुभव सिद्ध है। सम्पाद्य प्रत्यक्ष और सम्पादक ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष इन दोनो की समानविषयता का नियम बतलाया ही जा चुका है। तदनुसार वह सौरभत्व[७३] का स्मरण जिसे सौरभ-स्मरण भी कहा जा सकता है सुगन्धत्व का प्रत्यक्ष करा सकता है। अत ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष की मान्यता अनिवार्य है।

इस प्रकार किये जाने वाले विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नैयायिक लोगो ने सामान्यलक्षण सन्निकर्षो की मान्यता दिखला कर प्रत्यक्ष के लिए देश और काल की दूरी की बाधकता का खण्डन किया है और ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष को मान्यता देकर ससार के सारे पदार्थों को प्रत्यक्ष योग्य ठहराया है और साथ ही इन्द्रियगत विषय-नियम का भी खण्डन किया है। सभी विषयो को सभी इन्द्रिय का विषय बतलाया है।

अलौकिक-सन्निकर्षों के अन्दर तृतीय मानते है नैयायिक लोग योग-विशेषजनित पुण्य को। इसकी भी यह विचित्र अलौकिकता नैयायिको के दृष्टिकोण मे है, कि इस सन्निकर्ष के सहारे भी कोई व्यक्ति सारी वस्तुओ का प्रत्यक्ष कर सकता है। उसके लिए, न देखे जाने के कारण कोई भी वस्तु अदृश्य या अदृष्ट होती नही। प्रत्यक्ष को घ्राणज, रासन, चाक्षुष, श्रावण और मानस इस प्रकार विभक्त करते हैं। इन प्रत्यक्षो को लौकिक सन्निकर्षज और अलौकिक सन्निकर्षज इस प्रकार दो भागो मे फिर विभक्त किया जा सकता है। लौकिक सन्निकर्षजन्य उक्त प्रत्यक्षो को फिर सयोग-सन्निकर्षज, सयुक्त-समायसन्निकर्षज आदि रूप से विभक्त किया जा सकता है। अलौकिक-सन्निकर्षज प्रत्यक्ष को सामान्यलक्षणा-

(७२) आसत्तिराश्रयाणा तु सामान्यज्ञानमिष्यते। —भाषा परिच्छेद।

(७३) यद्यपि सामान्यलक्षणया सौरभस्य भान सम्भवति तथापि सौरभत्वस्य भान ज्ञानलक्षणया। —न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।

जन्य, ज्ञानलक्षणाजन्य और योगज इस प्रकार तीन प्रभेदो मे विभक्त समझना चाहिए। इन तीनो प्रभेदो के अन्दर प्रथम सामान्यलक्षणज प्रत्यक्ष को भी फिर घ्राणज, रासज चाक्षुप, श्रावण और मानस इन छ प्रभेदो मे विभक्तता होती है। इसी प्रकार ज्ञानलक्षणज प्रत्यक्ष को भी इन्ही छ प्रभेदो मे विभक्त समझना उचित होगा। योगज ज्ञान इस प्रकार इन छ प्रभेदो मे विभक्त नही होगा। क्योकि योगिज्ञान को योगज प्रत्यक्ष मानना ही अधिक सगत होगा। यत योगियो के लिए मनोबल ही सर्वाधिक महत्त्वास्पद मान्य है। यदि यह माना जाय कि योगी अपनी अमोघ इच्छा के अनुसार नाक आदि इन्द्रियो से भी विषयो का ग्रहण करेगा योगज धर्म के सहारे, तब योगज प्रत्यक्ष को भी घ्राणज आदि उक्त छ प्रभेदो मे विभक्त समझना होगा। इसके अनन्तर सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दो प्रभेदो मे सारे वर्णित प्रत्यक्षप्रभेदो का विभाजन समझना चाहिए।

निर्विकल्पक ज्ञान की परिभाषा[७४] यह है कि जिस ज्ञान के अन्दर अनेक वस्तुओ के बीच होने वाले सम्बन्ध का विषयीकरण न हो, वह ज्ञान कहलाता है निर्विकल्पक। जिस ज्ञान मे विपय कोई एक ही हो वह कहलाता है निर्विकल्पक। यह परिभाषा निर्विकल्पक की बनायी नही जा सकती। क्योकि निर्विकल्पक ज्ञान असम्बद्ध भाव से एकाधिक को भी विषय कर सकता है। बौद्धीय-दृष्टिकोण से निर्विकल्पक की वह भी परिभाषा सम्भव होती है कि एकमात्र को विपय करने वाला ज्ञान होता है निर्विकल्पक। क्योकि वे यदि एक ज्ञान मे एकाधिक का विषयीकरण मानेगे तो अन्तत उन अनेक विषयो मे एक ज्ञान, या तादृश ज्ञान-विषयत्व ही सम्बन्ध स्थापित हो जायगा जिसे बौद्धीय-दृष्टिकोण के लिए सह्य नही कहा जा सकेगा। यह इसलिए कि वे लोग निर्विकल्पक ज्ञान का विषय स्वलक्षण को ही मानते है और स्वलक्षण उनके सिद्धान्त के अनुसार वे ही कहलाते है जिन्हे औरो से किसी प्रकार का सम्पर्क न हो। नैयायिक लोग इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को भी साख्य आदि दर्शनो की तरह आँख आदि इन्द्रियो का धर्म नही मानते। क्योकि न्यायसिद्धान्त मे ज्ञाता केवल आत्मा ही है। सविकल्पक हो या निर्विकल्पक सभी ज्ञान आत्मा मे ही उत्पन्न होने वाले माने जाते है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की मान्यता नैयायिक लोग इस युक्ति के सहारे स्थिर करते है कि सविकल्पक ज्ञान नियमत विशिष्ट-विपयक हुआ करता है। अर्थात् अनेक विषय सम्बद्ध रूप मे, फलत मिलित रूप मे, उसके विपय हुआ करते है। सम्बद्ध अथवा मिलित का अभिप्रेत अर्थ होता है एक युक्त अपर। अर्थात् एक से विशेषित दूसरा। इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान मे नियमत विशिष्ट ही विषय होने के कारण उसके

(७४) ज्ञान यन्निर्विकल्पाख्य तदतीन्द्रियमिष्यते।
प्रकारतादिशून्य हि सम्बन्धानवगाहि तत्॥ —भाषा परिच्छेद।

प्रति कारण रूप मे विशेषण के ज्ञान की आवश्यकता मान्य होगी। क्योंकि विशेषण को जाने बिना कोई भी व्यक्ति उस विशेषण से विशेषित रूप मे किसी और वस्तु को किसी भी प्रकार समझता नही। जो व्यक्ति भला सुगन्ध का ही ज्ञान नही रखता वह "यह फूल सुगन्ध-युक्त है" इस प्रकार सुगन्ध से विशेषित रूप मे फूल को कैसे समझ सकता ?

इस प्रकार विशिष्ट बुद्धि के लिए विशेषण-ज्ञान की आवश्यकता स्थिर होने पर सविकल्पकात्मक विशिष्ट ज्ञान के लिए अपेक्षित होने वाले विशेषण-ज्ञान को भी यदि सविकल्पक ही माना जाय अर्थात् विशिष्ट ज्ञान ही माना जाय तो उसके लिए भी विशेषण-ज्ञान की आवश्यकता उसी प्रकार अनिवार्य होगी जिस प्रकार प्रथम विशिष्ट ज्ञान के सम्पादनाथ इस विशेषण-ज्ञान की आवश्यकता हुई थी। यदि विशेषण-ज्ञानात्मक विशिष्ट बुद्धि के लिए भी तृतीय विशेषण-ज्ञान की मान्यता होगी तो इसी प्रकार आगे-आगे सविकल्पकात्मक नये-नये विशेषण-ज्ञान की मान्यता बढती जायगी। इस प्रकार जो विशेषण-ज्ञान की सविकल्पक धारा बह चलेगी उसका कही भी अन्त नही हो पायेगा। जिसका कुफल यह होगा कि किसी भी एक वस्तु का "इदमित्थम्" रूप मे निर्णयात्मक ज्ञान किसी को हो नही पायेगा। परन्तु परिस्थिति ऐसी है नही लोगो को विभिन्न विषयो के सम्बन्ध मे निर्णयात्मक ज्ञान होता है जिसके आधार पर वे अपने जीवनपथ पर अग्रसर भी होते हैं और उन्हे सफलता भी मिलती हुई पायी जाती है। अत इस वस्तुस्थिति के अनुसार यह मानना ही होगा कि विशिष्ट बुद्धिस्वरूप सविकल्पक ज्ञान के लिए पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार अपेक्षित होने वाले विशेषण-ज्ञान को सविकल्पक न मान कर निर्विकल्पक माना जाय। निर्विकल्पक मानने पर उक्त अनवस्था इसलिए स्वत बारित हो जाती है कि अपेक्षित विशिष्टबुद्धि के लिए अपेक्षित होने वाले प्रथम विशेषण-ज्ञान मे कोई विशेषणरूप से विषय ही प्रतीत होता है नही जिसके लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा आवश्यक हो। इस निर्विकल्पक ज्ञान की मान्यता चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे होगी नही यह बात वहाँ विस्तृत रूप से बतलायी जायेगी जहाँ प्रत्यक्ष की सिद्धान्त-प्रक्रिया का वर्णन किया जायगा।

सविकल्पक ज्ञान का स्वरूप नैयायिक लोग ठीक निर्विकल्पक के विपरीत बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जिस ज्ञान के अन्दर अनेक वस्तुएँ आपस मे मिलित रूप मे, फलत विशिष्ट रूप मे विषय हो उसको कहा जाता है सविकल्पक। इच्छा और प्रवृत्ति के लिए यही ज्ञान अपेक्षित हुआ करता है। विशिष्ट ज्ञान होने के कारण इसके प्रति विशेषण के ज्ञान की आवश्यकता होती है यह बात अभी निर्विकल्पक की चर्चा करते हुए कही जा चुकी है। नैयायिक लोग अनुमिति आदि सारे ज्ञानो को तो नियमत सविकल्पक ही मानते हैं। किसी-किसी ने पदो से निर्विकल्पक स्मरण भी माना है, परन्तु अधिकतर नैयायिक उसे मान्यता देते नही। अत पदो से निर्विकल्पक स्मरण की मान्यता नगण्य है। लौकिक

प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति इन्द्रिय-अर्थ-सन्निकर्ष के समान विषयगत महत्त्व एव आलोक के सयोग को भी कारण मानते है। उनका कहना यह है कि पार्थिव, जलीय आदि परमाणुओ-को कोई इसलिए नही देख पाता है कि उनमे महत्त्व अर्थात् बडा परिमाण होता नही। अँधेरे मे घडे आदि विद्यमान होते हुए भी देखे इसलिए नही जा पाते कि आलोक का अर्थात् प्रकाश का सयोग उस समय उनमे होता नही। द्रव्यो के अन्दर उन्ही द्रव्यो का प्रत्यक्ष अधिकतर नैयायिक मानते है जिनमे उद्भूत रूप का अर्थात् प्रकट रूप का सम्बन्ध हुआ करता है। इसी मान्यता के आधार पर वे वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष को अर्थात् त्वक् इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष को भी वे मानते नही। शब्द और स्पर्श आदि के आधार पर उसका अनुमान ही मानते है। परन्तु परवर्ती नैयायिको ने इसका समर्थन नही किया है। उनका कहना इस सम्बन्ध मे यह है कि सारे द्रव्यो के प्रत्यक्ष के प्रति रूप को कारण मानना उचित नही कहा जा सकता। और यह भी उचित नही कहा जा सकता कि वायु का बिलकुल प्रत्यक्ष ही नही होता। क्योकि हवा के चलने पर लोग इस प्रकार अनुभव किया ही करते है कि "मै वायु का स्पर्श कर रहा हूँ" अत द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए उस द्रव्य मे उद्भूत रूप की अपेक्षा और द्रव्य के स्पार्शन प्रत्यक्ष के लिए अर्थात् त्वक् इन्द्रिय से किये जाने वाले प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत स्पर्श की अपेक्षा मान्य है। वायु के अन्दर रूप के न होने के कारण उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष तो नही होता है परन्तु स्पर्श तो उसमे प्रगट ही है, इसलिए उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष होता ही है। नैयायिको के समक्ष जब प्रश्न यह उपस्थित किया जाता है कि न्यायमत मे आत्मा तो व्यापक है अत मन कही भी शरीर मे क्यो न रहे उसके साथ आत्मा का सयोग बना ही रहेगा। ऐसी परिस्थिति मे सोते समय भी आत्मा का या सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वक्षण मे होने वाले ज्ञान आदि आत्मधर्म का प्रत्यक्ष होता नही क्यो ? तो इसके उत्तर मे वे लोग यह बतलाते है कि पुरीतत् नामक शरीरान्तर्गत नाडी के बाहर होने वाला ही आत्मा और मन का सयोग ज्ञान के प्रति कारण रूप से मान्य है। सोते समय मन उस पुरीतत् नामक नाडी के अन्दर रहता है, अत आत्मा और मन का पुरीतत् नाडी के बाहर होने वाला योग सोते समय हो पाता नही इसलिए उस समय किसी प्रकार का ज्ञान हो पाता नही। उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि मन जब उक्त पुरीतत् नामक नाडी के बिलकुल बाहर रहता है तब प्राणियो की जाग्रत् अवस्था होती है और जब मन उस नाडी के मुख मे प्रविष्ट होता रहता है, प्रविष्ट हुआ नही रहता, तब प्राणियो को स्वप्न अवस्था होती है और जब पूर्ण रूप से मन उस नाडी मे प्रवेश कर जाता है तब होती है सुषुप्ति अवस्था। इसलिए सुषुप्तिकाल मे होने वाला आत्मा और मन का सयोग वैसा होता नही जैसा कि वह ज्ञानोत्पत्ति के लिए अपेक्षित होता है। सुतरा उक्त प्रकार ज्ञान के आपत्ति का प्रश्न नही उठाया जा सकता। जब नैयायिको के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि जब घडे

के अन्दर न वुतने वाले प्रकाश को रख कर उसे ऊपर से ढँक कर अँधेरे मे रख दिया जाता है तब भी उस घडे का चाक्षुप प्रत्यक्ष क्यो नही होता तो इसके उत्तर मे वे लोग कहते यह हैं कि आँख का सयोग जिसे कि द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष रूप मे अपेक्षित वतलाया गया है, दृश्य वस्तु के जिस प्रदेश मे हो वहाँ ही प्रकाश का भी सयोग होना प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित हुआ करता है। उक्त परिस्थिति मे वैसा होता नही, अत प्रत्यक्ष की प्रदत्त आपत्ति सगत नही कही जा सकती। नैयायिक एव वैशेपिक लोग द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनो को "सत्" कहते हैं इसलिए उसमे वे लोग घडे मे घटत्व, कपडे मे पटत्व, आदि की तरह द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनो पदार्थों मे एक सत्त्व या सत्ता नामक जाति मानते हैं और इस सत्ता का सार्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष मानते हैं। अर्थात् उस सत्ता को सभी इन्द्रियो से प्रत्यक्ष किया जा सकता है, ऐसा वे लोग मानते हैं। चार्वाक-सिद्धान्त मे सामान्य नामक कोई अतिरिक्त पदार्थ मान्य नही यह आगे विवेचन करके सिद्ध किया जायगा तदनुसार चार्वाक-सिद्धान्त मे ऐसी बात मान्य नही है। कुछ पशु और पक्षी अँधेरे मे ही कैसे देख पाते हैं? क्योकि बाहरी प्रकाश तो वहाँ रहता नही? इस प्रश्न का उत्तर नैयायिक लोग यह देते हैं कि ऐसे पशु-पक्षियो के लिए प्रत्यक्षार्थ जितना प्रकाश अपेक्षित होता है उतना प्रकाश उनकी आँख मे ही रहता है इसलिए उन्हे बाहरी प्रकाश की अपेक्षा होती नही। इस न्याय-सम्मत प्रत्यक्ष-प्रक्रिया से चार्वाकीय प्रत्यक्षप्रक्रिया का कितना सामजस्य है और कितना असामजस्य, यह आगे स्पष्ट हो जायेगा।

चार्वाक दृष्टि से खण्डनीय वेदान्तसम्मत प्रत्यक्ष-प्रक्रिया

उक्त न्यायमतसिद्ध प्रत्यक्ष की प्रक्रिया से शाङ्कर-अद्वैत-वेदान्तियो की प्रत्यक्ष की प्रक्रिया बिलकुल अलग है। वे कहते हैं कि इन्द्रियो के अन्दर जो इन्द्रियाँ द्रष्टव्य विषय तक जाने वाली हैं जैसे आँखे, वे शरीरस्थित अन्त करण के द्रष्टव्य विषय तक पहुँचने के लिए उसी प्रकार अपेक्षित होती हैं जैसे जलाशय से खेत तक जल के पहुँचने के लिए नाली। जलाशय से जल जिस प्रकार नाली के द्वारा खेत तक पहुँच कर खेत यदि त्रिकोण-आकारक रहता है तो वह जल भी वैसा ही आकार वाला हो जाता है और यदि खेत चतुष्कोण आकारयुक्त रहता है तो वहाँ गया वह जलाशय का जल भी चतुष्कोण हो जाता है,[७५] उसी प्रकार अन्त-करण भी आँख के सहारे वहाँ, जहाँ कि द्रष्टव्य विषय रहता है, जाकर विषय का ही आकार धारण कर लेता है। फलत वह द्रष्टव्य वस्तु स्वच्छ अन्त करण के लेप से लिप्त हो जाती

(७५) तत्र यथा तडागोदक छिद्रान्निर्गत्य, कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्यकार भवति। —वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।

है। इसका फल यह होता है कि अस्वच्छ दीवार आदि पर भी जल छिडक देने पर या रङ्गदार पालिश कर देने पर जैसे निकटवर्त्ती वस्तु का प्रतिबिम्व पडता है, तैसे उस स्वच्छ अन्त-करण से लिप्त द्रष्टव्य वस्तु पर स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पडता है। वही प्रतिबिम्ब चैतन्य कहलाता है प्रत्यक्ष। उसीसे द्रष्टव्य घट-पट आदि वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। आँखस्वरूप नाली के भीतर से द्रष्टव्य वस्तु तक जाते हुए अन्त करण को वे लोग कहते "वृत्ति"। इस वृत्ति का काम वे लोग यह बतलाते है कि उस द्रष्टव्य विषय पर एक अज्ञान का आवरण पहले से पडा रहता है जिसके कारण प्रकाशस्वरूप आत्मा का उसके साथ सम्पर्क नही हो पाता है। इसलिए उस वृत्तिलेप के पहले उस द्रष्टव्य वस्तु का प्रत्यक्षीकरणात्मक प्रकाशन होता नही। वृत्ति के द्वारा उक्त अज्ञानात्मक आवरण के नष्ट या अपसारित हो जाने पर, अथवा उस वृत्ति के द्वारा उस द्रष्टव्य वस्तु के स्वच्छ हो जाने पर, उसमे प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की योग्यता आ जाने पर उस द्रष्टव्य के साथ प्रकाशा-त्मक चैतन्यघन आत्मा का प्रकाशनोपयोगी सम्पर्क होता है। इसलिए तब तक उस द्रष्टव्य वस्तु का प्रत्यक्ष नही हो पाता है और इसीलिए उक्त प्रकार वृत्ति की तथा उसके वाहक नाली के रूप मे आँख की अपेक्षा चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए होती है। नाक, जिह्वा और त्वक् इन इन्द्रियो से गन्ध, रस और स्पर्श के प्रत्यक्ष स्थल मे तत्तत् इन्द्रियो के निकट विषय के आने पर इन्द्रियो के निकट अग्र भाग मे वे विषय अपनी-अपनी ग्राहक इन्द्रियो के सहारे निर्गत अन्त करण का उक्त प्रकार स्वच्छलेप प्राप्त करते हैं। अत इन्द्रियो से होने वाले विषय प्रत्यक्ष के लिए अन्त करण को अधिक दूर नही जाना पडता है फिर भी अन्त-करण स्वस्थान से चल कर निकटवर्त्ती विषय को अपने स्वच्छ लेप से लिप्त अवश्य करता है। अन्यथा उक्त प्रक्रिया के अनुसार उनका प्रत्यक्षीकरण हो नही सकता है। कान से होने वाले शब्द श्रवण स्थल मे वेदान्ती लोग नैयायिको की तरह कान तक शब्द की उपस्थिति नही मानते। उनका कहना इस सम्बन्ध मे यह है कि जहाँ शब्द उत्पन्न होता है वहाँ तक कान की ही गति होती है। अत फलत आँख से होने वाले प्रत्यक्ष और कान से होने वाले प्रत्यक्ष मे प्रक्रिया की अधिक समता होती है। वेदान्तियो का कहना है कि कान के आकाश होने पर भी उसका शब्द-स्थान तक गमन इसलिए सम्भव हो पाता है कि आकाश स्वत व्यापक होने पर भी कर्णपिण्ड-सम्पृक्त रूप मे सीमित हो जाता है। शब्द कान तक नही आता। किन्तु कर्णेन्द्रिय ही वहाँ तक जाती है इसके सम्बन्ध मे वे लोग प्रमाण यह उपस्थित करते हैं कि "शब्द मुझसे सुना गया" इस प्रकार अनुभव श्रोता लोग किया करते है। इससे मालूम यह होता है कि शब्द यथास्थान ही रहता है।

वेदान्त-सिद्धान्त मे प्रत्यक्ष के चार प्रभेद मान्य होते है। प्रथम प्रत्यक्ष तो वह ब्रह्म अर्थात् आत्मा है जिसका प्रतिबिम्बन प्रदर्शित प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे बतलाया गया है।

दूसरा साक्षी-प्रत्यक्ष और तीसरा प्रत्यक्ष है उक्त इन्द्रिय के द्वारा होने वाली अन्त करण की वृत्ति और चतुर्थ प्रत्यक्ष होता है प्रत्यक्षी क्रियमाण घडा आदि द्रष्टव्य विषय। आत्मा या ब्रह्म प्रत्यक्षात्मक नित्य ज्ञान है इसके सम्बन्ध मे वे लोग उपनिषद् को प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं। साथ ही इसलिए भी उसे प्रत्यक्ष बतलाते हैं कि उनके सिद्धान्त मे आत्मा चैतन्य होने के कारण स्वप्रकाश है। ऐसी परिस्थिति मे नित्य विज्ञान को ही अद्वैत तत्त्व मानने वाले के लिए प्रत्यक्ष से बढ कर स्वप्रकाश और कौन मिल सकता ? इसलिए भी वे लोग ब्रह्मस्वरूप आत्मा को अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्षस्वरूप मानते हैं। साक्षी को प्रत्यक्ष इसलिए माना जाता है कि अन्त करण और उसके धर्म ज्ञान सुख, दु ख आदि, इनका प्रकाशन अर्थात् विषयीकरण अन्त करण की वृत्तियो द्वारा हो सकता नही। क्योकि एक ही वस्तु ग्राह्य और ग्राहक दोनो कोटियो मे एकदा आ सकती नही। लौकिक दृष्टान्त के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि अन्त करण या उसकी वृत्ति के द्वारा सीमित प्रकाशात्मक चैतन्य से अन्त करण के धर्म, ज्ञान, इच्छा आदि का विषयीकरण अर्थात् प्रत्यक्षीकरण उसी प्रकार असम्भव है जैसे किसी घडे के अन्दर बरते हुए बल्ब को रख कर ऊपर से घडे के मुँह को बन्द करके यदि अँधेरे मे रख दिया जाय तो उस अन्त प्रकाश से घडे का प्रत्यक्ष होगा नही। किन्तु उस घडे के अन्दर एक-दो जगह छोटा भी छिद्र कर दिया जाय तो उसके सहारे वह आबद्ध प्रकाश उस घडे से बाहर होकर घडे के निकट अस्तित्व रखता हुआ उस घडे का प्रकाशन कर देगा। उस निर्गत किन्तु घडे के निकट विद्यमान प्रकाश से उस घडे का प्रत्यक्षीकरण हो ही जाता है। इसी प्रकार अन्त करण या उसकी वृत्ति मे आबद्ध प्रकाशात्मक चैतन्य से, अन्त करण से तत्त्वत अभिन्न होने वाले ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि का प्रत्यक्षीकरण अन्त करण या उसकी वृत्ति मे सर्वथा आबद्ध जीवात्मा या प्रमाण इन दोनो से सम्भव नही हो पाता। किन्तु प्राणियो को अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि का पता चलता ही है। लोग यह समझते ही हैं कि "मुझे ज्ञान हुआ है", "मुझे इच्छा हुई है", "मुझे प्रयत्न हुआ है"। अत यह मानना पडता है कि अन्त करण से अनाबद्ध फलत उसके द्वारा असीमितीकृत किन्तु उससे उपहित अर्थात् उसके निकटवर्ती अनावृत चैतन्य से अन्त करण एव उसके धर्म, ज्ञान, इच्छा आदि का प्रकाशन होता है। यह अन्त करण एव उसके धर्मों का प्रकाशक चैतन्य तत्त्वत अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार शुद्ध व्यापक आत्मचैतन्यस्वरूप ही होने पर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से थोडा उससे विलक्षण अवश्य प्रतीत होगा। क्योकि इस प्रकृत चैतन्य को कहना पडता है अन्त करण से उपहित चैतन्य। साराश यह है कि उस सर्वव्यापक महा चैतन्यस्वरूप ब्रह्म या आत्मा को किसी के या किसी से उपहित कहना एक प्रकार से उसे अङ्कित-सा, चिह्नित-सा होना कहा जायेगा, जो कि उस निर्विकार [illegible]क एकरस महाप्रकाशात्मक चैतन्य के लिए अनुचित ही नही, असङ्गत होगा। अत

प्रकृत अन्त करणोपहित चैतन्य को तत्त्वत कूटस्थ चैतन्य होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि-कोण से उस महाचैतन्यात्मक ब्रह्म से कुछ अलग मानना वेदान्तियो के लिए आवश्यक हो जाता है। प्रदर्शित अन्त करणोपहित चैतन्य को जीवात्मा या प्रमाण इसलिए नही कहा जा सकता कि वे दोनो होते है सर्वथा अन्त करण एव उसकी वृत्ति से कवलित, आवद्ध, उदराभ्यन्तरीकृत। किन्तु यह साक्षी चैतन्य अन्त करण के निकट होता हुआ भी उससे कवलीकृत नही होता। क्योकि ऐसा होने पर इसकी मान्यता का प्रयोजन सम्पन्न नही हो पायेगा, यह प्रदर्शित घटलट्टू दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार और इसी दृष्टिकोण से वेदान्ती लोग "साक्षी प्रत्यक्ष" को भी मान्यता देते है। यहाँ जो इस प्रकार साक्षी प्रत्यक्ष का परिचय दिया गया उसे "जीवसाक्षी" से सम्पृक्त समझना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि वेदान्ती लोग साक्षी को जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी इस प्रकार दो प्रभेदो मे विभक्त मानते है। ईश्वरसाक्षी की भी मान्यता प्रदर्शित युक्ति से ही स्थिर होती है। जैसे अन्त की परिस्थितियो के प्रकाशनार्थ उससे अकवलित किन्तु उससे उपहित फलत नैकटचापन्न जीवसाक्षी मान्य होता है उसी प्रकार मायागत शक्तियो का, उसके स्वभावो का प्रकाशन माया की परिधि मे सर्वथा आवद्ध ईश्वर से सम्भव नही हो सकता। और व्यापक चैतन्यात्मक ब्रह्म को उस मायागत स्वभाव के प्रकाशन कार्य मे सलग्न इसलिए नही किया जा सकता कि ऐसा जानने पर उसकी निर्लेपता पर आँच आने का भय रहता है। अत माया से अनावद्ध किन्तु उससे उपहित अर्थात् उससे नैकटचा-पन्न ईश्वरसाक्षी भी मान्य होता है वेदान्त-सिद्धान्त मे। ये दोनो प्रकार के साक्षी अव-च्छिन्न अर्थात् सीमित चैतन्य और अनवच्छिन्न अर्थात् सर्वथा असीम चैतन्य के बीच एक कडी का काम देते है, जिससे जीव और ब्रह्म एव ईश्वर और ब्रह्म इन दोनो की अभिन्नता भी सुरक्षित होती है एव स्पष्टीकृत होती है। इन दोनो उपहित चैतन्यो को साक्षी इस दृष्टि-कोण से वेदान्ती लोग कहते है कि इन दोनो ही उपहित चैतन्यो की परिस्थिति ठीक लौकिक घटनास्थलीय साक्षी की तरह होती है। दाण्डिक दृष्टि मे विवादस्थलीय साक्षी भी ऐसा ही होता है कि प्रस्तुत घटना से वह भी अपने को लिप्त नही समझता और लोग भी उसे उससे लिप्त नही समझते। किन्तु उस विवादास्पद घटना से विलकुल उसे उस प्रकार असम्पृक्त भी नही कहा जा सकता जिस प्रकार कि किसी और व्यक्ति को, जिसने उस घटना को विलकुल देखा न हो। क्योकि साक्षी को उस घटना का नैकटच अवश्य प्राप्त हुआ रहता है। उस घटना से एक प्रत्यक्ष-ज्ञानात्मक सम्वन्ध अवश्य उसे रहता है। अन्यथा वह साक्षी नही माना जा सकता। और माना जाता भी नही। इन दोनो प्रकार वर्णित उपहित चैतन्यात्मक साक्षी की परिस्थिति ठीक इसी प्रकार की होती है। वह न अन्त-करण, या माया, या उनके स्वभावो मे जीव और ईश्वर की तरह आवद्ध रहता है और न

दूसरा साक्षी-प्रत्यक्ष और तीसरा प्रत्यक्ष है उक्त इन्द्रिय के द्वारा होने वाली अन्त करण की वृत्ति और चतुर्थ प्रत्यक्ष होता है प्रत्यक्षी क्रियमाण घडा आदि द्रष्टव्य विषय। आत्मा या ब्रह्म प्रत्यक्षात्मक नित्य ज्ञान है इसके सम्बन्ध मे वे लोग उपनिषद् को प्रमाणरूप से उपस्थित करते है। साथ ही इसलिए भी उसे प्रत्यक्ष बतलाते है कि उनके सिद्धान्त मे आत्मा चैतन्य होने के कारण स्वप्रकाश है। ऐसी परिस्थिति मे नित्य विज्ञान को ही अद्वैत तत्त्व मानने वाले के लिए प्रत्यक्ष से बढ कर स्वप्रकाश और कौन मिल सकता ? इसलिए भी वे लोग ब्रह्मस्वरूप आत्मा को अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्षस्वरूप मानते है। साक्षी को प्रत्यक्ष इसलिए माना जाता है कि अन्त करण और उसके धर्म ज्ञान सुख, दु ख आदि, इनका प्रकाशन अर्थात् विषयीकरण अन्त करण की वृत्तियो द्वारा हो सकता नही। क्योकि एक ही वस्तु ग्राह्य और ग्राहक दोनो कोटियो मे एकदा आ सकती नही। लौकिक दृष्टान्त के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि अन्त करण या उसकी वृत्ति के द्वारा सीमित प्रकाशात्मक चैतन्य से अन्त करण के धर्म, ज्ञान, इच्छा आदि का विषयीकरण अर्थात् प्रत्यक्षीकरण उसी प्रकार असम्भव है जैसे किसी घडे के अन्दर बरते हुए बल्ब को रख कर ऊपर से घडे के मुँह को बन्द करके यदि अँधेरे मे रख दिया जाय तो उस अन्त प्रकाश से घडे का प्रत्यक्ष होगा नही। किन्तु उस घडे के अन्दर एक-दो जगह छोटा भी छिद्र कर दिया जाय तो उसके सहारे वह आबद्ध प्रकाश उस घडे से बाहर होकर घडे के निकट अस्तित्व रखता हुआ उस घडे का प्रकाशन कर देगा। उस निर्गत किन्तु घडे के निकट विद्यमान प्रकाश से उस घडे का प्रत्यक्षीकरण हो ही जाता है। इसी प्रकार अन्त करण या उसकी वृत्ति मे आबद्ध प्रकाशात्मक चैतन्य से, अन्त करण से तत्त्वत अभिन्न होने वाले ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि का प्रत्यक्षीकरण अन्त करण या उसकी वृत्ति मे सर्वथा आबद्ध जीवात्मा या प्रमाण इन दोनो से सम्भव नही हो पाता। किन्तु प्राणियो को अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि का पता चलता ही है। लोग यह समझते ही है कि "मुझे ज्ञान हुआ है", "मुझे इच्छा हुई है", "मुझे प्रयत्न हुआ है"। अत यह मानना पडता है कि अन्त करण से अनाबद्ध फलत उसके द्वारा असीमितीकृत किन्तु उससे उपहित अर्थात् उसके निकटवर्ती अनावृत चैतन्य से अन्त करण एव उसके धर्म, ज्ञान, इच्छा आदि का प्रकाशन होता है। यह अन्त करण एव उसके धर्मों का प्रकाशक चैतन्य तत्त्वत अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार शुद्ध व्यापक आत्मचैतन्यस्वरूप ही होने पर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से थोडा उससे विलक्षण अवश्य प्रतीत होगा। क्योकि इस प्रकृत चैतन्य को कहना पडता है अन्त करण से उपहित चैतन्य। साराश यह है कि उस सवव्यापक महा चैतन्यस्वरूप ब्रह्म या आत्मा को किसी के या किसी से उपहित कहना एक प्रकार से उसे अङ्कित-सा, चिह्नित-सा होना कहा जायेगा, जो कि उस निर्विकार व्यापक एकरस महाप्रकाशात्मक चैतन्य के लिए अनुचित ही नही, असङ्गत होगा। अत

प्रकृत अन्त करणोपहित चैतन्य को तत्त्वत कूटस्थ चैतन्य होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि-कोण से उस महाचैतन्यात्मक ब्रह्म से कुछ अलग मानना वेदान्तियो के लिए आवश्यक हो जाता है। प्रदर्शित अन्त करणोपहित चैतन्य को जीवात्मा या प्रमाण इसलिए नही कहा जा सकता कि वे दोनो होते है सर्वथा अन्त करण एव उसकी वृत्ति से कवलित, आवद्ध, उदराभ्यन्तरीकृत। किन्तु यह साक्षी चैतन्य अन्त करण के निकट होता हुआ भी उससे कवलीकृत नही होता। क्योकि ऐसा होने पर इसकी मान्यता का प्रयोजन सम्पन्न नही हो पायेगा, यह प्रदर्शित घटलट्टू दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार और इसी दृष्टिकोण से वेदान्ती लोग "साक्षी प्रत्यक्ष" को भी मान्यता देते है। यहाँ जो इस प्रकार साक्षी प्रत्यक्ष का परिचय दिया गया उसे "जीवसाक्षी" से सम्पृक्त समझना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि वेदान्ती लोग साक्षी को जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी इस प्रकार दो प्रभेदो मे विभक्त मानते है। ईश्वरसाक्षी की भी मान्यता प्रदर्शित युक्ति से ही स्थिर होती है। जैसे अन्त की परिस्थितियो के प्रकाशनार्थ उससे अकवलित किन्तु उससे उपहित फलत नैकटचापन्न जीवसाक्षी मान्य होता है उसी प्रकार मायागत शक्तियो का, उसके स्वभावो का प्रकाशन माया की परिधि मे सर्वथा आवद्ध ईश्वर से सम्भव नही हो सकता। और व्यापक चैतन्यात्मक ब्रह्म को उस मायागत स्वभाव के प्रकाशन कार्य मे सलग्न इसलिए नही किया जा सकता कि ऐसा जानने पर उसकी निर्लेपता पर आँच आने का भय रहता है। अत माया से अनावद्ध किन्तु उससे उपहित अर्थात् उससे नैकटचा-पन्न ईश्वरसाक्षी भी मान्य होता है वेदान्त-सिद्धान्त मे। ये दोनो प्रकार के साक्षी अव-च्छिन्न अर्थात् सीमित चैतन्य और अनवच्छिन्न अर्थात् सर्वथा असीम चैतन्य के वीच एक कडी का काम देते है, जिससे जीव और ब्रह्म एव ईश्वर और ब्रह्म इन दोनो की अभिन्नता भी सुरक्षित होती है एव स्पष्टीकृत होती है। इन दोनो उपहित चैतन्यो को साक्षी इस दृष्टि-कोण से वेदान्ती लोग कहते है कि इन दोनो ही उपहित चैतन्यो की परिस्थिति ठीक लौकिक घटनास्थलीय साक्षी की तरह होती है। दाण्डिक दृष्टि मे विवादस्थलीय साक्षी भी ऐसा ही होता है कि प्रस्तुत घटना से वह भी अपने को लिप्त नही समझता और लोग भी उसे उससे लिप्त नही समझते। किन्तु उस विवादास्पद घटना से विलकुल उसे उस प्रकार असम्पृक्त भी नही कहा जा सकता जिस प्रकार कि किसी और व्यक्ति को, जिसने उस घटना को विलकुल देखा न हो। क्योकि साक्षी को उस घटना का नैकटच अवश्य प्राप्त हुआ रहता है। उस घटना से एक प्रत्यक्ष-ज्ञानात्मक सम्वन्ध अवश्य उसे रहता है। अन्यथा वह साक्षी नही माना जा सकता। और माना जाता भी नही। इन दोनो प्रकार वर्णित उपहित चैतन्यात्मक साक्षी की परिस्थिति ठीक इसी प्रकार की होती है। वह न अन्त-करण, या माया, या उनके स्वभावो मे जीव और ईश्वर की तरह आवद्ध रहता है और न

शुद्ध चैतन्यात्मक ब्रह्म की तरह बिलकुल असम्पृक्त। क्योकि अन्त करण और माया तथा इनके स्वभावो की इसे मानो जानकारी रहती है उसके प्रकाशन की क्षमता इन दोनो उपहित चैतन्यो मे रहती है। वेदान्त-सिद्धान्त मे चैतन्य और प्रत्यक्ष ये तत्त्वत अभिन्न ही होते है, इसलिए भी इन दोनो उपहित चैतन्यो को प्रत्यक्ष कहा जाता है और इन दोनो के द्वारा अन्त करण और उसके स्वभाव, माया और उसके स्वभाव इनका सुस्पष्ट रूप से प्रकाशन भी होता है, इस दृष्टिकोण से भी साक्षी "प्रत्यक्ष" कहा जाता है।

तृतीय प्रत्यक्ष है वेदान्तसिद्धान्त मे इन्द्रियद्वारक अन्त करण की वृत्तियाँ एव उनसे अवच्छिन्न चैतन्य। इसे ही वेदान्ती लोग प्रत्यक्ष प्रमाण शब्द से कहते है। इस प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का वर्णन वेदान्ती लोग इस प्रकार करते है कि प्रमाण-चैतन्य एव विषय-चैतन्य दोनो मे जब एक प्रकार का आगन्तुक अभेद होता है तब ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। यह आगन्तुक अभेद क्यो और कैसे हो सकता है? इस शका का समाधान इस प्रकार वेदान्ती लोग करते है कि मूलत आत्मचैतन्य एक होने पर भी औपाधिक रूप मे उसे तीन भागो मे विभक्त समझना चाहिए। यथा प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य। प्रमाता, जीव ही माना जाता है अत प्रमातृचैतन्य का अर्थ होता है जीवचैतन्य। फलत अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य। और इन्द्रियद्वारक प्रत्यक्ष स्थल मे प्रमाण होती है अन्त करण की वृत्ति। अत प्रमाणचैतन्य का अर्थ होता है अन्त करण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य। एव विषयचैतन्य का अर्थ होता है विषयावच्छिन्न चैतन्य। इन तीनो का आगन्तुक अभेद इसलिए होता है कि एक कोई वस्तु जिन उपाधियो के कारण विभिन्नता प्राप्त करता है वे यदि आपस मे मिल कर एक ही काल मे एकदेशस्थ हो अर्थात् एक स्थान मे रह जायँ तो वह तत्प्रयुक्त भेद, जो कि आगन्तुक रहता है नष्ट हो जाता है। फलत फिर एक आगन्तुक अभेद उनमे प्राप्त हो जाता है, जो कि उन उपाधियो के कारण मध्य मे नही रहता है। लौकिक उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि यदि घडे को घर से बाहर रखा जाय तो घर के अन्दर का आकाश और घडे के अन्दर का आकाश ये दोनो आकाश औपाधिक रूप मे भिन्न होते है। क्योकि आकाश के भेदक घर एव घट ये दोनो विभिन्न स्थानो मे रहते है। मानो उनमे एकत्रस्थित्यात्मक सामजस्य रहता नही। परन्तु जब उस घडे को बाहर से हटा कर घर मे रख दिया जाता है, तब उस घडे मे होने वाले आकाश को घर के आकाश से भिन्न नही कहा जा सकता। तदनुसार चैतन्य[७६] के भेदक

(७६) तथा चाय घट इत्यादि प्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृतेश्च बहिरेकत्र देशे समवधानात् तदुभयावच्छिन्न चैतन्यमेकमेव · · ·।

—वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्ष-परिच्छेद ।

विपय और अन्त करण की वृत्ति अर्थात् प्रमाण, ये विभिन्न देशस्थित चैतन्य के भेदक, जव कि एक देशस्थ हो जायें तो प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य इन दोनो चैतन्यो का भी एक हो जाना उचित ही होगा। जिन दो परस्परविरोधी व्यक्तियो के अभिप्राय के अनु-सार चलने वाले दो व्यक्ति आपस मे मेल नही रखते, आपस मे झगडते रहते हैं वे दोनो लडाने वाले यदि आपस मे मेल कर लेते हैं तव उनके विचार के अधीन होकर आपस मे लडने वाले दो व्यक्तियो मे भी मतैक्य उपस्थित हो जाता है। उन दोनो का भी विरोध जाता रहता है। इसी प्रकार यहाँ भी अन्त करण की वृत्तिस्वरूप प्रमाण और विपय इन दो भेदक तत्त्वो की एक देशस्थितिस्वरूप सामजस्य के कारण चैतन्यगत आगन्तुक भेद हट कर अभेद का होना उचित ही है। दृष्टान्त द्वारा इसे यो समझना चाहिए कि जव राम के निकट घडा विद्यमान है तव उस घडे के साथ उसकी आँख जुटने पर उस आँख स्वरूप नाली के द्वारा द्रुत पारे के समान स्वच्छ उसका अन्त करण उस घडे तक जा पहुँचा। जिसका फल यह हुआ कि अन्त करण की वृत्ति और घडा ये दोनो एकदेशस्थ हा गये। इस प्रकार चैतन्य के भेदक उपाधियो की एकदेशस्थता हो जाने पर प्रदर्शित युक्ति के अनुसार घटाकार अन्त करण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य और घडे से अवच्छिन्न चैतन्य ये दोनो एक हो गये। अत राम की वहाँ की अन्त करण वृत्ति मे प्रतिविम्वित चैतन्यस्वरूप ज्ञान, एव अन्त करण की प्रतिविम्व गर्भवृत्ति ये दोनो प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

चतुर्थ प्रत्यक्ष होता है विपय। विषय को प्रत्यक्ष इस दृष्टिकोण से कहा जाता है कि ज्ञान के सम्वन्ध मे जिस प्रकार प्रत्यक्षता का व्यवहार होता है अर्थात् तद्वोधक वाक्य प्रयोग होता है उसी प्रकार विपय के सम्बन्ध मे भी प्रत्यक्षता का व्यवहार होता हुआ पाया जाता है। जिस प्रकार लोग यह कहते हैं कि "घडे का मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है" उसी प्रकार यह भी कहते हैं कि घट तो प्रत्यक्ष है। यहाँ प्रथम वाक्य प्रयोग से ज्ञान की प्रत्यक्षता प्राप्त होती है और द्वितीय वाक्य-प्रयोग से विषयगत प्रत्यक्षता। क्योकि द्वितीय वाक्य प्रयोगस्थल मे घडे को प्रत्यक्ष कहा जा रहा है जो कि विपय है। ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष कहलाता है और क्यो कहलाता है यह वात तो स्पष्ट हो चुकी है किन्तु इसका स्पष्ट होना अभी वाकी है कि विपय-गत प्रत्यक्षता का प्रयोजक क्या है? विपय कैसे प्रत्यक्ष कहलाता है? तो इसके सम्वन्ध मे वेदान्तियो का कहना यह है कि विपय का प्रमाता से अभिन्न हो जाना है विपय मे प्रत्य-क्षता का प्रयोजक। यहाँ अभिन्न हो जाने का अर्थ है—विपय का प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त-सत्ताक न होना। यह यो तो सरसरी नजर मे दुर्घट-सी प्रतीत होती है। क्योकि कहाँ विपय घट-पट आदि वाह्य वस्तुएँ और कहाँ अन्त करणावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप प्रमाता? इन दोनो की सत्ता अर्थात् इन दोनो का अस्तित्व भला कैसे एक हो? परन्तु विपय और प्रमाता इन दोनो का सत्तैक्य अर्थात् सत्ता की एकता इस प्रकार सम्पादित

होती है कि प्रत्येक व्यावहारिक वस्तु स्वावच्छिन्न चैतन्य मे अध्यस्त हुआ करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसे पूर्ववर्त्ती लोग घडा कहते आते रहते है उसे ही परवर्त्ती लोग भी घडा कहते है। इसीलिए घडा व्यावहारिक होता है। ऐसा न होने पर सीप मे प्रतीयमान रजत की तरह घट आदि व्यावहारिक भी व्यावहारिक न होकर प्रातिभासिक हो जाते।

सीप मे प्रतीयमान रजत इसीलिए तो प्रातिभासिक होता है कि वह उक्त प्रतीतिकारी व्यक्ति के द्वारा रजतावच्छिन्न चैतन्य मे अध्यस्त न होकर शक्तिका से अवच्छिन्न चैतन्य मे अध्यस्त होता है। साराश यह कि जिस सीप को पूर्ववर्त्ती लोग रजत नही समझते आ रहे थे उसे उसने रजत समझा। इसी प्रकार यदि वह प्रतीतिकारी व्यक्ति घडा को घडा न समझ कर और किसी को घडा समझ बैठता तो वह प्रतीत घडा प्रातिभासिक ही होता, व्यावहारिक नही। अत यह मानना ही होगा कि घडा इसलिए व्यावहारिक है कि वह ज्ञाता व्यक्ति उसे घडा समझता है जो कि पूर्ववर्त्ती लोगो से घट रूप मे प्रतीत होता आ रहा है। वेदान्तसिद्धान्त मे किसी का भी अध्यास वस्तुत होता है चैतन्य मे ही। क्योकि उनकी दृष्टि मे अनध्यस्त को ही किसी भी अध्यास का अधिष्ठान होना चाहिए। इसलिए सीप मे होने वाले रजतविभ्रम स्थल मे भी शुक्तिका मे रजत का अध्यास नही होता है किन्तु शुक्तिका से अवच्छिन्न चैतन्य मे। इसका सरल अभिप्राय यह होता है कि जिस चैतन्याश मे सीप का अध्यास होता आ रहा था उसी चैतन्य मे सीप का अध्यास न करके इस ज्ञाता व्यक्ति ने रजत का अध्यास कर डाला। व्यावहारिक वस्तु की प्रतीतिस्थल मे ऐसी परिस्थिति नही होती। वहाँ पूर्ववर्त्ती लोगो द्वारा जिस चैतन्याश मे घट का अध्यास किया जाता आ रहा था, उसी चैतन्याश मे परवर्ती व्यक्ति द्वारा भी घट का ही अध्यास किया गया। अत घडा व्यावहारिक होता है, प्रातिभासिक नही। इस विवेचन से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो गयी होगी कि प्रत्येक व्यावहारिक विषय स्वावच्छिन्न चैतन्य मे ही अध्यस्त हुआ करते है। इसके साथ यह भी वेदान्त का सिद्धान्त याद रखना चाहिए कि आरोपित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान की ही सत्ता हुआ करती है। अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त आरोपित की सत्ता होती नही। अधिष्ठान वह कहलाता है जिसमे किसी वस्तु का आरोप अर्थात् अध्यास किया जाता है। जैसे प्रकृत मे जब कि उक्त विवेचन के अनुसार घट, घटावच्छिन्न चैतन्य मे ही अध्यस्त होता है तो यह मानना ही होगा कि अधिष्ठानभूत चैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त घट की कोई सत्ता होती नही। और प्रमाता है अन्त करणा-वच्छिन्न चैतन्य। अन्त करण की वृत्ति इन्द्रिय-द्वारा घट आदि विषय तक जाती है और भेदक उपाधियो की एकदेशस्थता के कारण दोनो उपधेय चैतन्य एक हो जाते है। यह भी बात ऊपर ज्ञानगत प्रत्यक्षता के विवेचन के अवसर पर कही जा चुकी है। अन्त -

करण की वृत्ति यदि विषय के स्थान तक जायेगी तो अपनी वृत्ति के सहारे अन्त करण भी जायगा ही। अत अन्त करण और घटात्मक विषय इन दोनो चैतन्य-भेदक उपाधियो की एकदेशस्थता के कारण घटावच्छिन्न चैतन्य और अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य इन दोनो चैतन्यो का एक हो जाना स्वाभाविक ही होगा। अब जब दोनो चैतन्य एक हो गये तो स्वावच्छिन्न चैतन्य मे अध्यस्त होने वाला घट फलत अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य मे ही अध्यस्त हो उठता है। आरोप्य की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त होती नही इस पूर्व कथन के अनुसार उस घडे की सत्ता अन्त करणावच्छिन्न-चैतन्यस्वरूप-प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त होगी नही। इसलिए प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त-सत्तायुक्त न होना, एतदात्मक प्रमाता का अभेद, दृश्य घट आदि मे बन जाता है। अत दृश्यभूत विषय भी प्रत्यक्ष कहलाता है। जहाँ दृश्य प्रातिभासिक होता है वहाँ देखते समय यह परिस्थिति होती नही। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्त-सिद्धान्त मे सत् तीन प्रकार के मान्य है। एक तो वह जिसे परमार्थ सत् माना एव कहा जाता है। ब्रह्म कहिए या आत्मा कहिए वह माना जाता है परमार्थ सत्। क्योकि वही माना जाता है वेदान्त-सिद्धान्त मे कालत्रय मे भी बाधित न होने वाला। "सारे अध्यासो का अधिष्ठान, अथवा यो कहा जाय कि जगत् रूप से परिणत होने वाली माया के अध्यास का अधिष्ठान। और जगत् की सारी व्यावहारिक वस्तुएँ है व्यवहार-सत्। क्योकि इन्ही की व्यावहारिक सत्ता के आधार पर सारा जागतिक व्यवहार चलाता है और भेदमूलक सारी सासारिक समस्याएँ समाहित होती है। प्रातिभासिक या प्रतिभास-सत् वह कहलाता है जो कि प्रतीत तो होता है किन्तु उसे जीवन के अनुकूल उपयोगात्मक व्यवहार मे लाया नही जा सकता। जैसे सीप मे प्रतीत होने वाला रजत होता है प्रातिभासिक। क्योकि प्रतीत होकर वह रजतार्थी व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट तो करता है किन्तु अपने मे व्यावहारिकता के अभाव के कारण उस रजतार्थी की प्रवृत्ति को, उसके मनोरथ को, उसकी आवश्यकता को पूर्ण नही कर सकता। इस त्रिविध सत् या सत्यत्रितय के अन्दर परमार्थ सत् ब्रह्म केवल तत्त्वज्ञान का विषय होता है। अत उसके सम्बन्ध मे होने वाला अन्त करण वृत्यात्मक ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलाता है जो कि अन्त करण की शुद्धि के अनन्तर श्रुत-महावाक्यो से होता है। महावाक्यात्मक शब्द से जायमान होने पर भी वेदान्तसिद्धान्त मे वह प्रत्यक्ष इसलिए माना जाता है कि वे लोग विषय के सन्निकर्ष स्थल मे शब्द से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते है उनका कहना है

(७७) निखिलजगदुपादानत्व ब्रह्मणो लक्षणम्। उपादानत्व च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम्, जगदाकारेण परिणममानमायाधिष्ठानत्व वा।
—वेदान्त-परिभाषा, विषय-परिच्छेद।

कि यदि श्याम के आगे फूल विद्यमान हो और कोई उसे यह कह कर ध्यान दिलावे कि "यह फूल है" तो उस परिस्थिति मे श्याम को उक्त वाक्य से प्रत्यक्षात्मक ही वोध होता है। इसका कारण यह है कि उक्त प्रत्यक्ष की प्रक्रिया वहाँ भी लागू होती है। ज्ञानियो को महावाक्य के श्रवण से होने वाले साक्षात्कार मे उक्त प्रक्रिया पूर्ण रूप से तो लागू नही हो पाती। क्योकि ब्रह्माकार अन्त करण मे वहाँ चित् का प्रतिबिम्ब हो नही पाता। क्योकि ब्रह्मात्मक चित् से अन्य कोई चित् तो मान्य नही कि उस चिदाकार अन्त करण की वृत्ति मे चित् का प्रतिबिम्ब हो सके, जैसा कि घट आदि व्यावहारिक वस्तुओ को देखते समय होता है। जिसका वर्णन किया जा चुका है। फलत तत्त्वज्ञानात्मक ब्रह्म-प्रत्यक्षस्थल मे भी प्रत्यक्ष की पूरी उक्त प्रक्रिया लागू नही होती और प्रातिभासिक वस्तु स्थल मे भी यह प्रक्रिया लागू नही होती। क्योकि वहाँ द्रष्टा के आगे वह व्यावहारिक विषय विद्यमान नही रहता कि आँख उससे जा जुटे और अन्त करण उसके सहारे वहाँ जाकर विषय का आकार-ग्रहण कर पाये। सुतरा उक्त पूरी प्रक्रिया पूर्ण रूप से व्यावहारिक वस्तुओ को देखते समय ही लागू हो सकती है। इसीलिए वेदान्ती लोग अन्त करण और उसके धर्म, ज्ञान आदि की तरह सारी प्रातिभासिक वस्तुओ का प्रकाशन भी साक्षी के द्वारा ही मानते हैं। साक्षी और उसके द्वारा होने वाली प्रक्रिया का दिग्दर्शन पहले कराया जा चुका है। फिर भी विषय की व्यावहारिकता और प्रातिभासिकतामूलक अन्तर के कारण उक्त प्रकाशन के वृत्तिनिर्गम अश मे थोडा-सा अन्तर अवश्य हो जाता है। वह यह कि ज्ञान आदि आन्तर धर्मों के साक्षी द्वारा होने वाले भासन स्थल मे, अन्त करण की वृत्ति का बहिर्निर्गम होता नही किन्तु बाह्य प्रातिभासिक रजत आदि के साक्षि-द्वारक प्रकाशन स्थल मे बाहर पहले से रजत न होने के कारण विषयाकार ग्रहण के लिए वृत्तिनिर्गम की अपेक्षा न होने पर भी उस प्रातिभासिक रजत और उसके प्रत्यक्षात्मक ज्ञान इन दो समसामयिक वस्तु के लिए अन्त करण की परिणामात्मक वृत्ति की आवश्यकता मान्य होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे विषय की विभिन्न स्वभावता के कारण थोडा अन्तर होने पर भी प्रत्येक प्रत्यक्ष-स्थल मे उक्त प्रक्रिया के अनुसार विषय की सत्ता प्रमाता अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त रहती नही अत विषय प्रत्यक्ष कहला सकते है।

विषय प्रत्यक्ष के इस विहित विवेचन के अनन्तर प्रश्न यह उठता है कि "किसी फल के रूपदर्शन के समय नियमत उसका परिमाण भी रूप की तरह प्रत्यक्ष क्यो नही हो जाता है ? क्योकि वहाँ का रूप और परिमाण दोनो ही एक ही फल मे आश्रित होने के कारण चैतन्य के भेदक अन्त करणवृत्तिस्वरूप उपाधि के फल देशगमन होने पर भेदक उपाधियो की एक देशस्थता होने पर उपधेय चैतन्य एक हो जाते हैं" इस पूर्व प्रदर्शित नियम के अनुसार रूपावच्छिन्न चैतन्य और अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य की एकता की तरह परिमाणावच्छिन्न

चैतन्य और अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य की भी एकता अनिवार्य होगी। क्योकि रूप और अन्त करण जैसे एकत्र अवस्थित होगे तैसे परिमाण और अन्त करण भी तो एकत्र ही अवस्थित होगे ? अन्त करण भी रूप एव परिमाण के स्थान मे इसलिए जा बैठेगा कि अन्त करण की वृत्ति और अन्त करण ये दोनो भिन्न नही होते। अत अन्त करण की वृत्ति के वहाँ जाने पर अन्त करण का भी वहाँ गमन मानना ही होगा।

इस प्रश्न का उत्तर वेदान्ती लोग यह देते है कि विषयगत प्रत्यक्षता के लिए जैसे विषय-चैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य इन दोनो का आगन्तुक अभेद अपेक्षित है, वैसे[७८] अन्त करणवृत्ति की विषयाकाराकारिता अर्थात् विषय के आकार का ग्रहण भी अपेक्षित है। प्रदत्त आपत्ति स्थल मे जब कि अन्त करण की वृत्ति रूपाकार रहेगी, तब वह परिमाणाकार कभी नही हो सकती। अत उक्त चैतन्याभेद रूप और परिमाण दोनो के लिए समान होने पर भी अपेक्षित परिमाणाकार अन्त करणवृत्ति के न होने के कारण उक्त आपत्ति वारित समझी जानी चाहिए। इसके अनन्तर भी जब वेदान्तियो के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि जहाँ कोई किसी को यह कहता है कि "तुम बडे भाग्यवान् हो" तो वहाँ उस वाक्य के सुनने से श्रोता को स्वकीय भाग्याकार अन्त करण की वृत्ति भी होती है और धर्मात्मक भाग्य अन्त करण का ही धर्म होने के कारण दोनो ही नियमत एकदेशस्थित होगे अत दोनो चैतन्यो मे अभेद भी रहेगा ही। ऐसी परिस्थिति मे "मैं धार्मिक हूँ" ऐसा प्रत्यक्ष लोगो को होना चाहिए जो कि होता नही। तो इसके उत्तर मे वेदान्तियो की ओर से यह कहा जाता है कि विषयगत प्रत्यक्षता के लिए विषयगत योग्यता अर्थात् प्रत्यक्ष होने की योग्यता भी अपेक्षित है। भाग्य मे वह योग्यता होती नही। वह स्वभावत अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष-योग्य नही कहला सकता। किसी के स्वभाव के सम्बन्ध मे यह प्रश्न नही उठाया जा सकता कि उसका स्वभाव ऐसा क्यो है ? अत भाग्य की स्वाभाविक अतीन्द्रियता पर अविश्वास नही प्रस्तुत किया जा सकता। कल्पना नियमत अनुभूयमान फल के अनुरूप ही हुआ करती है। तदनुसार भाग्य को प्रत्यक्ष का अविषय मानना ही होगा। कुछ लोग जब कि यह प्रश्न उपस्थित करते है कि अतीत सुख के स्मरण-स्थल मे सुख को प्रत्यक्षता की आपत्ति अब भी अनिवारित है। क्योकि उस समय उस व्यक्ति को सुखाकार अन्त करण की वृत्ति भी इसलिए अवश्य रहेगी कि सुख का स्मरण रहेगा। सुख योग्य अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य भी होता ही है। क्योकि वर्त्तमान सुख का अनुभव होना ही है। सुख और अन्त करण को अलग किया नही जा सकता क्योकि वेदान्त-सिद्धान्त मे वह

(७८) तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्।

—वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्ष-परिच्छेद।

भी अन्त करण का ही धर्म माना जाता है। ऐसी परिस्थिति स्मृयमाण सुख प्रत्यक्ष क्यो नही कहलाने लगेगा ? तो इसका उत्तर वेदान्ती-लोग यह देते हैं कि विषय को प्रत्यक्ष बनने के लिए योग्य के समान वर्तमान भी होना चाहिए। सुख के स्मरण स्थल मे सुख अतीत होने के कारण वह वर्तमान होता नही।

प्रत्यक्ष को सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दो भागो मे विभक्त, वेदान्ती-लोग भी करते हैं।[७९] परन्तु नैयायिको से इन्हे सैद्धान्तिक मतभेद इसके सम्बन्ध मे यह है कि ये लोग वाक्यज-ज्ञान को भी निर्विकल्पक मानते हैं। क्योकि विषयसन्निकृष्ट होने पर उक्त प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के द्वारा सर्वथा आक्रान्त होने के कारण शब्दज बोध भी परोक्ष नही, प्रत्यक्ष ही होता है। इसके सम्बन्ध मे लौकिक उदाहरण यह उपस्थित किया जाता है कि जहाँ दश व्यक्ति कही जाते हो तो उनके अन्दर कोई एक गणक व्यक्ति अपने को भूलते हुए यदि यह निर्णय करे कि हमलोग दश के बदले अब नौ ही रह गये है एक अवश्य ही कही सदा के लिए हम लोगो से बिछुड गया, और इसके परिणाम मे वह अत्यन्त दु खी हो जाय, और कोई उसे यह याद दिलाये कि "तुम ही तो दशम हो" तो उस दु खी व्यक्ति को दशम का अर्थात् दशम रूप मे अपना साक्षात्कार ही होता है। क्योकि परोक्ष-ज्ञानस्थल मे उस प्रकार से पुनर्जिज्ञासा की शान्ति होती नही, जिस प्रकार से प्रत्यक्ष स्थल मे। उक्त परिस्थिति मे उस अपने को भूलने वाले दशम व्यक्ति को स्वस्वरूप दशम व्यक्ति की अपेक्षा या दशम की जिज्ञासा बिलकुल रह नही जाती अत यह मानना आवश्यक है कि उसे अपने रूप मे दशम का प्रत्यक्ष ही, "तुम ही तो दशम हो" इस श्रुत वाक्य से होता है। नैयायिक लोग ऐसा कभी नही मान सकते। वे वाक्य से परोक्षात्मक शाब्दबोध ही मानते है। कुछ नैयायिक, पद से कदाचित् निर्विकल्पक अर्थस्मरण भले ही मान ले परन्तु वाक्य से होने वाले बोध को सभी नैयायिक प्रत्यक्ष से भिन्न ही मानते हैं। परोक्ष ही मानते है।[८०]

"तत्त्वमसि" (तुम वही हो) इस महावाक्य के श्रवण से उस श्रोता को जिसका अन्त करण पहले ही शुद्ध हो गया रहता है, उस व्यक्ति को निर्विकल्पक प्रत्यक्षात्मक बोध कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे वेदान्तियो के घर मे मतैक्य नही पाया जाता है। एक दल का कहना यह है कि तत् अर्थात् "वह" पद के वाच्य अर्थ और "त्वम्" अर्थात्

(७९) तत्र सविकल्पक वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानम्। यथा घटमह जानामीति ज्ञानम्। निर्विकल्पक तु ससर्गानवगाहि ज्ञानम्। —वेदान्त-परिभाषा।

(८०) प्राचीनैराकाशपदादाकाशासे तदुपस्थाप्य धर्मा-प्रकारक शाब्दबुद्धेरेवोपगमात्। तदुक्तम् "अस्तु वा पदादपिनिर्विकल्पकम्" इति।
—शक्तिवाद, आकाश पदविचार।

"तुम" के वाच्य अर्थ होते हैं क्रमश ईश्वर और जीव। ईश्वर होता है माया का अधीश होने के कारण सर्वज्ञ और जीव होता है अन्त करण के द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण असर्वज्ञ। ऐसी परिस्थिति मे इन दो वाच्य अर्थों का अभेद इसलिए सम्भव नही कि इन दोनो के अन्दर एक मे विद्यमान सर्वज्ञता से दूसरे मे विद्यमान अल्पज्ञता आपस मे सर्वथा विरुद्ध है। विरुद्धस्वभावयुक्त दो वस्तुएँ कभी एक नही हो सकती। अत उक्त महावाक्य से जीव और ब्रह्म की एकता समझने के लिए उक्त दोनो पदो के लक्ष्य अर्थ को ही लेना होगा, वाच्य अर्थों को नही। लक्ष्य अर्थ की प्राप्ति नियमत लक्षणा के सहारे ही सम्भव है। इसलिए "भागत्याग" लक्षणा का आश्रयण कर के दोनो ओर के विरुद्ध अशभूत सर्वज्ञता और अल्पज्ञता इन दोनो को छोड कर अविरुद्ध चैतन्यो को ही दोनो ओर से लेकर "अभिन्न चैतन्य" को समझा जाता है।

परन्तु दूसरा दल इस बात के लिए राजी नही पाया जाता है[८१]। उसका कहना है कि उक्त महावाक्य से अभिन्न चैतन्य को समझने के लिए लक्षणा की आवश्यकता ही नही है। क्योकि वाच्य अर्थ को लेने पर भी अभिन्नता एव उसकी प्रतीति सम्भव है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ कोई भी विशिष्ट अर्थात् दो का एक मिलित-रूप एक किसी पद का वाच्य अर्थ होगा वहाँ दोनो अशो मे वाच्यता मान्य होगी ही। क्योकि ऐसा न मानने पर मिलित मे वाच्यता कैसे आ पायेगी ? इसलिए "तत्" पद का वाच्य जब कि "सर्वज्ञ-चैतन्य" यह है, तो केवल चैतन्य भी वाच्य है ही। इसी प्रकार "त्वम्" शब्द का वाच्य भी केवल चैतन्य को लेकर दोनो चैतन्यो के अभेद की प्रतीति सरल पद्धति से हो सकती है फिर क्यो "भागत्याग लक्षणा" का भार सर पर लिया जाय ?

यहाँ एक आपसी मतभेद यह भी वेदान्तियो के बीच प्राप्त है कि महावाक्य के श्रवण के अनन्तर ही अभिन्न चैतन्य का निर्विकल्पक साक्षात्कार हो जाता है ? या उसके अनन्तर मनन और निदिध्यासन करके ? इस प्रश्न का उत्तर दो दल दो प्रकारो से देते हुए पाये जाते है। एक दल का कथन यह है कि मनन और निदिध्यासन अन्त करण की शुद्धि के लिए अपेक्षित होने के कारण महावाक्य श्रवण से होने वाले अभिन्न ब्रह्म साक्षात्कार के हो जाने पर मनन और निदिध्यासन कैसे स्थान पा सकता है ? किन्तु द्वितीय दल ठीक इसके विपरीत यह कहता है कि क्रमिक श्रवण, मनन और निदिध्यासन से सुसस्कृत मन मे अभिन्न चैतन्य का साक्षात्कार होता है, महावाक्य से नहीं। इस पर जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि उपनिषदो मे तो यह कहा गया है कि ब्रह्म मन से जाना नही जा सकता, फिर

(८१) वय तु ब्रूम –सोऽय देवदत्त, तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचकाना पदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा। —वेदान्त-परिभाषा, आगम-परिच्छेद।

यह कथन कैसे सङ्गत हो सकता कि मन से उस चैतन्यात्मक ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है ? तो इसके उत्तर मे वेदान्तियो का यह दल यह कहता है कि उस वेद का अभिप्राय यह है कि अशुद्ध मन से वह देखा नही जा सकता।[८२] मनन और निदिध्यासन से शुद्ध मन से वह देखा जा सकता है। ऐसा न मानने पर उपनिषद् मे अन्यत्र जो यह कहा गया पाया जाता है कि "ब्रह्म को मन से ही" देखा जा सकता है यह कथन असगत हो जायगा। दोनो तरह के वाक्य जब कि उपनिषद् के ही है तो दोनो की मान्यता समान रूप से होनी चाहिए। इसलिए ब्रह्म को शुद्ध मन से गम्य एव अशुद्ध मन से अगम्य मान लेने पर ही दोनो औपनिषद वाक्य सगत हो सकते हैं।

जो दल ब्रह्म का मानस साक्षात्कार न मान कर शब्दज साक्षात्कार मानता है, जिसका उल्लेख यहाँ ही पहले किया गया है वह इस औपनिषद दो वाक्यो के बीच आपातत प्रतीत होने वाले पारस्परिक विरोध को हटा कर समन्वय, वृत्तिव्याप्यता और फलव्याप्यता के आधार पर करता है। जिसकी चर्चा पहले भी की गयी है। यहाँ फिर उसे स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझना चाहिए कि शुद्ध अन्त करण वाले व्यक्ति को जब उपयुक्त गुरु के द्वारा "तत्त्वमसि" यह महावाक्य प्राप्त होता है तो उसे उस वाक्य से होने वाला साक्षात्कार घट, पट आदि व्यावहारिक वस्तुओ का साक्षात्कार-सा होता नही। क्योकि व्यावहारिक वस्तुओ के प्रत्यक्ष स्थलो मे व्यावहारिक वस्तुओ मे फलव्याप्यता और उसके लिए अपेक्षित होने वाली वृत्तिव्याप्यता ये दोनो ही व्याप्यताएँ उपस्थित होती है। किन्तु ब्रह्म के वाक्यज बोधस्थल मे वृत्तिव्याप्यता तो जाती है ब्रह्म मे। किन्तु फलव्याप्यता जा पाती नही। वृत्तिव्याप्यता का अर्थ है अन्त करणवृत्ति का विषय होना और फलव्याप्ता का अर्थ है वृत्ति मे प्रतिबिम्बित चित् का विषय होना। ग्राह्य चित् से अन्य चित् असम्भव होने के कारण ब्रह्माकार अर्थात् चिदाकार अन्त करण की वृत्तियो मे चित् का प्रतिबिम्ब हो नही पाता अत वृत्ति मे प्रतिबिम्बित चित् की विषयतात्मक फलव्याप्यता चित्स्वरूप ब्रह्म मे जा नही पाती। किन्तु अन्त करण की ब्रह्माकार वृत्ति होने के कारण वृत्तिविषयतास्वरूप वृत्तिव्याप्यता ब्रह्म मे समन्वित हो पाती है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार उपनिषद् मे कही तो यह कहा गया है कि ब्रह्म भी प्रतिपाद्य विषय होता है अर्थात् वह मन का विषय

(८२) मनोऽगम्यत्व-श्रुतिश्चासस्कृतमनोविषया। शास्त्रदृष्टिसूत्रमपि ब्रह्मविषयमानसप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोज्यत्वादुपपद्यते। तदुक्तम्—

अपि सराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा।
शास्त्रदृष्टिर्मता ता तु वेत्ति वाचस्पति परम्॥ इति॥

—वेदान्त-परिभाषा, प्रयोजन-परिच्छेद।

होता है, ग्राह्य होता है, और कही इस प्रकार कहा गया है कि ब्रह्म मन का अगम्य है, उसे नही समझा जा सकता। साराश यह कि वृत्तिव्याप्यता के दृष्टिकोण से ब्रह्म को मन का विषय माना गया है और फलव्याप्यता के दृष्टिकोण से उसे मन का अविपय। इस प्रकार किये गये विवेचन के द्वारा प्रदर्शित औपनिषद वाक्यो मे समन्वय समझना चाहिए।

प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित सन्निकर्ष के सम्बन्ध मे वेदान्तियो का अभिमत यह ज्ञातव्य है कि उनके मत मे भी यह मीमासक मत की तरह अनुपलब्धि को अभाव के ग्राहक रूप मे एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है, इसलिए अभाव का प्रत्यक्ष मान्य नही होता। इसका फल यह होता है कि वेदान्तमत मे न्यायमत की तरह "विशेपण विशेष्यभावसन्निकर्प" प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित होता नही। सुतरा भाव ग्राहक, पाँच ही सन्निकर्प मान्य होते है। स्वीकर्त्तव्य पाँच सन्निकर्पो के सम्बन्ध मे भी नैयायिको से विशेपता यह होती है कि समवाय अमान्य होने के कारण स्वीकर्तव्य पचविध सन्निकर्षो के अन्दर समवाय का स्थान "तादात्म्य" ले लेता है। फलितार्थ यह होता है कि सयोग, सयुक्त-तादात्म्य और सयुक्त-तदात्म-तादात्म्य, तादात्म्य और तादात्म्यतादात्म्य ये पाँच प्रकार सन्निकर्प प्रत्यक्ष के उपयोगी होते है। उदाहरण क्रमश नैयायिक मत के समान समझना चाहिए। सन्निकर्प की यह पचविधता यहाँ अन्य लेखको के मतानुसार लिखी गयी है। मैंने वेदान्त-परिभापा की अपनी सस्कृत व्याख्या "भगवती" के अन्दर यह स्थिर किया है कि वेदान्तियो के मत मे सन्निकर्प की सख्या पाँच भी न होकर तीन ही होनी चाहिए। सामान्यलक्षणा और ज्ञानलक्षणा इन दोनो अलौकिक सन्निकर्षों की मान्यता वेदान्त-सिद्धान्त मे विलकुल नही है। इसका कारण यह है कि वौद्ध-सिद्धान्त की तरह वेदान्तसिद्धान्त मे भी "सामान्य" पदार्थ की मान्यता है नही। ज्ञानलक्षणा सन्निकर्प से वेदान्तियो को गाढी दुश्मनी इसलिए है कि नैयायिक एव वैशेपिक वेदान्तियो के सर्वस्व "अनिर्वचनीय-ख्याति" पर विजय इसी से पाते हैं। ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष के वल पर ही अन्यथा-ख्याति स्थापित हो पाती है। इसका विशदीकरण ख्यातियो के विवेचन के अवसर पर आगे हो पायेगा। तृतीय अलौकिक सन्निकर्ष योगज को भी वह महत्ता वेदान्ती लोग देते नही जो उसे नैयायियो के घर मे प्राप्त है। इसका कारण यह है कि योग मे मान्य प्राकाम्य को यदि मान लिया जाय तो योगी अपनी इच्छा के अनुसार उस अमेय कहलाने वाले ब्रह्म को घट, पट आदि की तरह ऑख मे भी देख सकेगा। सारी वृत्तिव्याप्यता और फलव्याप्यता आदि के वेदान्तसम्मत-निर्णय अस्त-व्यस्त हो उठेंगे। इस प्रकार विचार कर देखने पर वेदान्ती लोग सारे अलौकिक सन्निकर्षो की मान्यता से अपने को विलकुल अलग रखते है। यह वेदान्तसम्मत प्रत्यक्ष-प्रक्रिया किस प्रकार आलोच्य है, यह आगे वतलाया जायेगा।

सांख्य की प्रत्यक्ष प्रक्रिया चार्वाक के लिए अमान्य—

सांख्य और योग की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया उक्त प्रक्रियाओ से और तरह की है। द्रष्टव्य विषय और इन्द्रिय इन दोनो के सन्निकर्षों की अपेक्षा प्रत्यक्ष के लिए यहाँ भी उसी प्रकार मान्य है, जैसे प्रदर्शित-मतसिद्ध प्रत्यक्ष के लिए। यहाँ प्रत्यक्ष का निर्वचन इस प्रकार किया गया है कि द्रष्टव्य विषय से सपृक्त इन्द्रिय के अधीन होने वाला ज्ञान है प्रत्यक्ष। जहाँ तक प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित इन्द्रिय के साथ होने वाले सन्निकर्षों की बात है 'सांख्यसिद्धान्त मे भी वेदान्त मत वर्णन के समय वर्णित सन्निकर्षो की ही यहाँ भी मान्यता है। और लक्षण के स्वरूप को देखते हुए ऐसा मालूम पडता है कि सांख्य की भी प्रत्यक्ष-प्रक्रिया न्यायमत की जैसी होगी। परन्तु ऐसा है नही। क्योकि जो प्रत्यक्ष की प्रक्रियाएँ यहाँ बतलायी जा चुकी है सारी प्रक्रियाएँ विचारपूर्वक देखने पर द्रष्टा की ओर से विषयाभिमुख होने वाली मालूम पडती हैं। परन्तु सांख्य की प्रक्रिया को देखेंगे तो ऐसा नही देखने को मिलेगा। सांख्य की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया विषय की ओर से द्रष्टा के अभिमुख होती हुई दिखाई देती है। प्रक्रिया का स्वरूप यह है कि आँख जब विषय से जुटती है अर्थात् आँख की रश्मि द्रष्टव्य विषय के साथ जुटती है तब आँख को निर्विकल्पक भाव से उस विषय का ज्ञान होता है। उसके अनन्तर आँखगत निर्विकल्पक के विषय होने वाले उस दृश्य वस्तु को मन अपने सकल्प-विकल्पात्मक व्यापार से व्याप्त करता है। तदनन्तर उसे ही अहकार अपने अभिमानात्मक व्यापार से व्याप्त कर बैठता है। और इसके भी पश्चात् बुद्धि अपने निश्चयात्मक व्यापार से उसे व्याप्त करती है। यह निश्चयात्मक बौद्ध-व्यापार ही तत्त्वत कहलाता है उस विषय का प्रत्यक्ष। सांख्यशास्त्री विद्वान् ने इस प्रात्यक्षिक प्रक्रिया को समझाने के लिए एक अच्छा प्राचीन कालिक एकतन्त्र शासन के अन्दर प्रचलित कर ग्रहण की पद्धति का दृष्टान्त उपस्थित किया है।[८३] वे कहते है कि गाँव का मुखिया जैसे कुटम्बी गृहस्थो से कर अर्थात् शुल्क लेकर इकट्ठा करके परगने के अध्यक्ष के पास उन एकत्र किये गये धनात्मक शुल्को को दे देता है और अनन्तर वह परगनाध्यक्ष उसे लेकर अपने जिले के अध्यक्ष के पास दे देता है। इसके बाद वह जिलाध्यक्ष उस क्रमागत धन-राशि को लेकर केन्द्राध्यक्ष के पास खजाने मे दे देता है और केन्द्राध्यक्ष उस धनराशि का उचित उपयोग राजकीय कार्यों मे

(८३) यथाहि ग्रामाध्यक्ष कौटुम्बिकेभ्य करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति। विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय स च भूपपतये। तथा वाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे-समर्पयन्ति। मनश्च सकल्प्याहकाराय, अहकारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायम्।
—साङ्ख्यतत्त्व-कौमुदी, का० ३६।

करता है उसी प्रकार आँख आदि बाह्य इन्द्रियाँ स्वय ग्रहण करके उस विषय को मन की ओर वढा देती है। अनन्तर इसी प्रकार अहकार के पास होकर वह विषय बुद्धि के पास पहुँच जाता है। बुद्धि उसका निश्चय करती है। जब कि साख्यसिद्धान्तियो के निकट और ओर से यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि इन्द्रियो से लेकर बुद्धि तक सभी तो जड ही है। ऐसी परिस्थिति मे विषय का प्रकाशन कैसे सम्भव कहा जाता है ? तब उक्त सिद्धान्तियो की ओर से उत्तर यह मिलता है कि बुद्धि और पुरुष इन दोनो मे परस्पर छायापत्ति अर्थात् विम्व-प्रतिबिम्बभाव होता है। इसलिए बुद्धि भी प्रकाशशील हो जाती है। इसलिए उसके निश्चयात्मक व्यापार से विषय का प्रकाशन सम्भव होता है।

कुछ आधुनिको का कहना है कि आँख से होने वाले प्रत्यक्ष स्थल मे आँख की रश्मि द्रष्टव्य विषय से जाकर नही जुटती है अर्थात् आँख की वृत्ति विषयाभिमुख नही होती है। विषय का ही प्रभाव आँख पर पडता है। परन्तु साख्य का सिद्धान्त ऐसा नही है। क्योंकि "प्रत्यक्ष" शब्द की व्याख्या साख्य मत मे इस प्रकार की गयी पायी जाती है कि "प्रतिगत अक्ष अर्थात् इन्द्रिय है प्रत्यक्ष" यहाँ "प्रतिगत" का अर्थ अवश्य ही अपने प्रत्येक विषय के साथ सगत अर्थात् सम्बद्ध यह है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आँख अर्थात् उसकी रश्मि विषय तक जाती है। जगह-जगह पर प्रत्यक्ष का अर्थ "अर्थ सन्निकृष्ट इन्द्रिय" इस प्रकार किया गया पाया जाता है। "अर्थसन्निकृष्ट" इस शब्द का सहजत यही अर्थ प्रतीत होता है कि "अर्थ के साथ अर्थात् द्रष्टव्य विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित करने वाला।"[८४] गतिशील वही प्रतीत हुआ करता है जो कि किसी के साथ सम्बन्ध स्थापन करता है। इससे भी यही मान्य प्रतीत होता है कि आँख ही रश्मि द्वारा विषय-प्रदेश तक जाकर उस विषय को निर्विकल्पकात्मक अपने व्यापार से आवद्ध करती है। सम्भव है कि कुछ लोगो को यह सुन कर आश्चर्य हो कि प्रकृति की जडता के कारण जब कि सारे प्राकृत पदार्थ जड ही है तो उसी के अन्दर आने वाली बुद्धि को कैसे निश्चय-ज्ञान का आश्रय अथवा निश्चय-ज्ञानात्मक समझा जाय ? तो इसका उत्तर यह देकर साख्यशास्त्रियो की ओर स आश्चर्यरहित किया जायगा कि इस सिद्धान्त मे सारे ज्ञान आत्मधर्म न होकर जडधर्म ही माने जाते है। आत्मा साख्यसिद्धान्त मे स्वय चैतन्य स्वरूप है—चेतना का आश्रय

(८४) विषय विषय प्रति वर्त्तते इति प्रतिविषय इन्द्रियम्। वृतिश्च सन्निकर्ष। अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थ। —साख्यतत्त्व कौमुदी, का० ५।
प्राप्तार्थ प्रकाशलिंगाद् वृत्तिसिद्धि ।१०६।
भागगुणाभ्या तत्त्वान्तर वृत्ति सम्बन्धार्थं सर्पतीति ।१०७।
—साङ्ख्यप्रवचनसूत्र, अध्याय ५।

नही कि चेतनात्मक ज्ञान का आश्रय आत्मा को माना जाना आवश्यक कहा जा सके। निश्चयात्मक प्रत्यक्ष के आश्रय या तदात्मक बुद्धि को साख्य शास्त्री लोग[८५] अशत्रय युक्त मानते है। इसका कारण है यह कि "चेतन मै कर रही हूँ" यही है बुद्धि का स्वरूप। अत "चेतन" यह पहला, "मै" यह दूसरा, और "करना" यह तीसरा भाग उसका होता है। साख्यसिद्धान्त के अनुसार बुद्धि के इन तीनो अशो के अन्दर चैतन्य अश वस्तुत बुद्धि का है नही, आत्मा की छायापत्ति के कारण ही उक्त प्रकार बुद्धि के अश रूप मे चैतन्य प्रतीत होता है। और जहाँ तक कुछ करने की बात है वह बुद्धि के लिए निजी है। क्योकि यह निश्चय-व्यापारक बुद्धि उस मूल प्रकृति की प्रथम पुत्री है, प्रथम परिणाम है। निर्विकल्पक और सविकल्पक रूप से प्रत्यक्ष का विभाजन साख्यसिद्धान्त मे भी मान्य है। सामान्यलक्षण सन्निकर्ष और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष इस सिद्धान्त मे मान्य नही है। क्योकि यहाँ भी प्रभाकर सम्प्रदाय की तरह भ्रमस्थल मे अख्याति की मान्यता से यह स्पष्ट-सा प्रतीत होता है कि यहाँ भी कोई एक चित्रात्मक ज्ञान मान्य नही है जैसा कि न्यायमत मे "यह फूल सुगन्धित है" इत्यादि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से होने वाला एक ज्ञान मान्य होता है। और प्रत्येक वस्तु इस सिद्धान्त मे प्रतिक्षण परिणामी मान्य होने के कारण बौद्ध-सिद्धान्त की तरह यहाँ भी सामान्य को मान्यता देना कठिन है। सामान्य की मान्यता यहाँ इसलिए भी नही कही जा सकती कि ये लोग प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहकार आदि स्वीकरणीय पचीस तत्त्वो से अतिरिक्त कोई तत्त्व मानते नही। इन तत्त्वो की सख्यागत आग्रह के कारण ही तो यह दर्शन साख्य कहलाता है? ऐसी परिस्थिति मे सामान्य नामक अलग कोई पदार्थ यहाँ मान्य नही हो सकता। अत सामान्यलक्षण सन्निकर्ष भी यहाँ बन नही सकता। यद्यपि यह बात सही है कि नैयायिक और वैशेषिक लोग भी सर्वत्र सामान्यलक्षणा स्थल मे "सामान्य" पद से जात्यात्मक अतिरिक्त पदार्थ का ही ग्रहण नही करते द्रव्य, गुण आदि स्वरूप भी सामान्य "सामान्यलक्षण" शब्द के अन्दर आनेवाले "सामान्य" शब्द से गृहीत होते है। क्योकि "समानगत भाव अर्थात् धर्म है सामान्य" इस यौगिक व्याख्या के अनुसार द्रव्य, गुण आदि भी सामान्य हो पाते है। जैसे एक ही लम्बी लकडी यदि अनेक कोठरियो मे लगी होती है तो वह एक लकडी जो कि एक पार्थिव द्रव्य है उन अनेक कोठरियो के लिए सामान्य हो जाती है। परन्तु साख्यसिद्धान्त मे इस प्रकार का भी सामान्य गृहीत नही हो सकता। क्योकि आखिर उसे स्वीकरणीय प्रकृति पुरुष आदि तत्त्वो के अन्दर किसमे अन्तर्भुक्त किया जायगा? इसका उत्तर देना कठिन होगा। और एक बात इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य यह भी है कि सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष ग्राह्य और ग्राहक सामान्य के बीच एक ठोस

(८५) तेनाशत्रयवती बुद्धि। तत्परिणामेन ज्ञानेन —न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।

धर्मधर्मीभाव की स्वीकृति की अपेक्षा रखता है। जो कि साख्ययोग सिद्धान्त मे सर्वथा असम्भव है। क्योकि वास्तविक धर्मधर्मीभाव तभी हो सकता है जब कि धर्म और धर्मी इन दोनो के बीच तादात्म्य न माना जाय, वास्तविक अभेद न माना जाय। परन्तु ऐसा साख्यसिद्धान्त मे कब सम्भव होने वाला है ? रही बात होती हुई सामान्य विषयक प्रतीति की, तो उसका सम्पादन साख्य और योगसिद्धान्त मे "विकल्प" नामक एक प्रकार अन्त करण-वृत्ति की मान्यता के सहारे सम्भव है। कहने का तात्पर्य यह है कि साख्य एव योगसिद्धान्त एक प्रकार ऐसा भी ज्ञान मानता है जिसके विषय बिलकुल होते नही किन्तु उसके सम्बन्ध मे वह ज्ञान लोगो को हो जाया करता है। जैसे "वन्ध्यापुत्र", "कूर्म रोम", "शशविषाण" आदि शब्द सुनने पर श्रोता को उससे बोध अवश्य हो जाता है परन्तु उस बोध का विषय यदि सारे ससार को भी छान डाला जाय तो कभी मिल सकता नही। तदनुसार सामान्य का भी होने वाला ज्ञान साख्ययोगसिद्धान्त मे विकल्पात्मक ही हो सकता है। अत प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के सम्पादनार्थ सन्निकर्ष रूप मे ज्ञान लक्षणा को मान्यता दी नही जा सकती।

वस्तुत साख्य और वेदान्त सम्मत प्रत्यक्ष की प्रक्रियाओ की ओर गहराई के साथ दृष्टि दी जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि वेदान्तियो ने साख्य की प्रत्यक्ष प्रक्रिया को ही अधिक अशो मे उसकी व्याख्या करके, उसे स्पष्ट करके, अपनाया है। जहाँ तक अन्त-करण की वृत्ति एव विषयाकाराकारिता की बात है पूर्ण रूप से वेदान्तियो ने साख्य के दृष्टि-कोण को अपनाया है। और जहाँ तक अन्त करण की विषयाकाराकारित वृत्ति मे चैतन्य के प्रतिबिम्ब का प्रश्न है उसे भी वेदान्तियो ने साख्य से ही पाया है। क्योकि विषयाकार अन्त करण की वृत्ति मे चित् की छायापत्ति साख्य लोग भी कहते ही है। यदि यह कहा जाय कि साख्यसिद्धान्त मे अन्त करण की वृत्ति और चैतन्य स्वरूप आत्मा इन दोनो मे पारस्परिक छायापत्ति मान्य होती है किन्तु वेदान्तसिद्धान्त मे चैतन्य का ही प्रतिबिम्ब माना जाता है अन्त करण की वृत्ति मे। तो यह कथन भी उतना सारवान् इसलिए नही कहा जायगा कि छायापत्ति कहा जाय अथवा बिम्बप्रतिबिम्ब भाव कहा जाय दोनो का अभि-प्रेत अर्थ "प्रभाव पडना" इसके अतिरिक्त कुछ और नही कहा जा सकता। छायापत्ति या बिम्बप्रतिबिम्बभाव शब्द का प्रयोग तो इसलिए किया जाता है कि लोग इससे पूर्ण परिचित है, इसलिए इस शब्द से एव इसके दृष्टान्त के माध्यम से समझाने पर लोग शीघ्रतया समझ सकते है। और प्रभाव पडने का जहाँ तक प्रश्न है वह वेदान्तियो के लिए भी इस प्रकार

(८६) प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय । ६ ।

—पातञ्जलयोगदर्शन, समाधिपाद।

मान्य हो उठता है कि चैतन्य को भी बिम्ब कहने पर बिम्बतात्मक प्रभाव उसमे भी मान्य एक प्रकार से हो ही जाता है। इसलिए कुछ वेदान्तियो ने अपने अभेय चैतन्यात्मक तुरीय ब्रह्म को बिम्ब भी नही माना है। फलत एक रूप से परस्पर प्रभाव यहाँ भी मान ही लिया जाता है। अब रही साख्य और वेदान्त की प्रत्यक्ष की प्रक्रियाओ मे मौलिक अन्तर की बात। तो वह इस अश मे समझा जाना चाहिए कि वर्णित वेदान्तियो की प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे जो प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य का अभेद कहा गया है एव विषयगत प्रत्यक्षता के लिए प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य इन दोनो का अभेद अपेक्षित बतलाया गया है वह साख्यसिद्धान्त मे बिलकुल मान्य नही है। अत उस अश को लेकर साख्य की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया वेदान्त की वर्णित प्रत्यक्ष-प्रक्रिया से अलग हो जाती है। चैतन्यो का अभेद इसलिए साख्यसिद्धान्त मे सम्भव नही होता कि उस सिद्धान्त मे प्रकृति को जिसे कि साख्यशास्त्री सत्त्व, रज और तम इन गुणो का एक मिलित रूप मानते हैं एक मान्य होने पर भी पुष्कर पलाश के समान निर्लिप्त आत्मा को एक न मान कर विभिन्न ही माना जाता है। साख्य शास्त्रियो का इस सम्बन्ध मे कहना यह है कि यह बात बिलकुल सही है कि सघातात्मक अर्थात् उक्त गुणसमष्टयात्मक प्रकृति अवश्य ही किसी और के लिए है। क्योकि सासारिक प्रत्येक उपभोग्य वस्तु किसी उपभोक्ता के लिए ही होने वाली पायी जाती है। घर, घर के लिए न होकर, रहने वाले के लिए होता है, और कपडा भी कपडे के लिए न होकर पहनने या ओढने वाले के लिए ही होता है। परिणाम और परिणामी इन दोनो मे अत्यन्त वैजात्य भी सम्भव नही। मट्टी से बनी हुई सारी चीजे आखिर मट्टी ही रहती हैं। इस वस्तुस्थिति के अनुसार उक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति और प्राकृत अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होने वाली सारी वस्तुएँ इन दोनो मे ऐसा वैजात्य नही माना जा सकता कि प्राकृत वस्तुएँ तो परार्थ हो किन्तु मूल प्रकृति परार्थ न हो। इसलिए प्रकृति और प्राकृत इन दोनो को अपने उपभोग मे लाने वाली आत्म-वस्तु अवश्य मान्य है। किन्तु साथ ही उस आत्मा को जिसे दूसरे शब्द मे पुरुष[87] कहा जाता है प्रकृति की तरह एक नही माना जा सकता। अनेक ही मानना होगा। प्रत्येक शरीर मे वह अलग-अलग ही है। क्योकि ऐसा न मानने पर अनुभूयमान भोगवैचित्र्य बन नहीं पायेगा। एक के सुख-भोग के समय सभी को सुख का उपभोक्ता अर्थात् "मैं सुखी हूँ" इस प्रकार सुखानुभव का कर्ता मानना होगा। जो कि अनुभव विरुद्ध है। साथ ही भेद को अनित्य भी नही माना जा सकता। क्योकि दो किन्ही वस्तुओ के पारस्परिक मिलन-स्थल मे भी सूक्ष्म भेदानुभव विद्यमान ही रहता है। अत विभिन्न आत्माओ का अभेद

(८७) तत्पर पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्। १६।

—पातञ्जलयोगदर्शन, समाधिपाद।

किसी प्रकार सम्भव नही। इस प्रकार चैतन्यात्मक विभिन्न आत्माओ मे अभेद सम्भव न हो सकने के कारण वेदान्त की वह प्रत्यक्ष प्रक्रिया जिसमे कि चैतन्यो के अभेद की आवश्यकता मान्य होती है साख्यसिद्धान्त मे मान्य नही हो पाती है। इसकी अमान्यता का स्पष्टीकरण निकटवर्त्ती विचार मे किया जाने वाला है।

चार्वाक मत और मीमासा की प्रत्यक्ष प्रक्रिया

मीमासको का प्रत्यक्ष सम्बन्धी निर्वचन और उसकी प्रक्रिया ये दोनो अधिकतर नैयायिको के प्रत्यक्ष-निर्वचन और प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इन दोनो से सामजस्य रखने वाले है। कर्म मीमासक भी प्रत्यक्ष ज्ञान को इन्द्रिय और विषय इन दोनो के बीच सम्बन्ध स्थापन-प्रयुक्त ही होने वाला मानते है। मीमासा-सिद्धान्त मे भी ज्ञान आत्मा का ही धर्म माना जाता है इसलिए न्यायमत के अनुसार आत्मा का मन से, और मन का आँख आदि इन्द्रियो के बीच किसी एक से एव उस इन्द्रिय के साथ विषय का सुश्रृखलभाव से सम्बन्ध हो जाने पर आत्मा[८८] मे ज्ञानात्मक गुण उत्पन्न होने वाला मान्य है जैसा कि न्यायवैशेषिक सम्मत प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के वर्णन के अवसर पर बतलाया जा चुका है। यहाँ न्यायवैशेषिक मत से विशेषता यह ज्ञातव्य है कि मीमासा-सिद्धान्त मे कान को आकाश न मान कर दिक् स्वरूप[८९] माना जाता है और शब्द को आकाश का गुण न मानकर एक स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है। इसलिए शब्द के प्रत्यक्ष के लिए समवाय नामक सन्निकर्ष और शब्दत्व के प्रत्यक्ष के लिए समवेतसमवाय नामक सन्निकर्ष वे मानते नही। इनका तात्पर्य यह है कि दो द्रव्यो के बीच सयोग-सम्बन्ध अनायास स्थापित हो सकने के कारण शब्द-द्रव्य और दिक्-द्रव्य के बीच उसी प्रकार सयोग-सन्निकर्ष बन सकता है जैसे फूल और आँख इन दोनो के बीच सयोग-सन्निकर्ष होता है। एक और विशेषता है न्यायमत से मीमासामत मे अभाव के स्पष्ट ज्ञान के सम्बन्ध मे। मीमासको के बीच प्रभाकर का सम्प्रदाय तो अभाव को भाव से अतिरिक्त कोई वस्तु ही नही मानता। अत उसके मत मे तो अभाव के प्रत्यक्ष की चर्चा ही असगत है। "भट्ट" का सम्प्रदाय अभाव नामक स्वतन्त्र प्रमेय पदार्थ मानता तो है किन्तु उसका प्रत्यक्ष नही मानता। यह इसलिए कि वह "विशेषणविशेष्य-भाव" को जिसकी चर्चा न्यायमतीय प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के विहित वर्णन के अवसर पर की जा चुकी है मानते नहीं।

(८८) सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्त विद्यमानोपलम्भनत्वात्। ४। —मीमासादर्शन, पा० १ सू०४।

(८९) वय तु "दिश श्रोत्रमि" तिदर्शनात् दिग्विभागमेव कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न श्रोत्रमाचक्ष्महे। —शास्त्रदीपिका, पा० १, सू० ४।

वे इस सम्बन्ध मे युक्ति यह उपस्थित करते हैं कि "विशेष्यविशेषणभाव" शब्द का अर्थ अवश्य ही विशेष्यता एव विशेषणता करना होगा। और इन दोनो के बीच किसी को भी सम्बन्ध कहना कठिन है। क्योकि सम्बन्ध[९१] परस्पर दोनो का हुआ करता है अत उसे दोनो मे समान रूप से आश्रित होना चाहिए। जैसे किन्ही दो वस्तुओ मे होने वाला सयोग-सम्बन्ध दोनो मे समान रूप से अवस्थित होता है। किन्तु विशेषणता केवल विशेषण मे ही रह सकती है, विशेष्य मे नही और विशेष्यता केवल विशेष्य मे ही रहती है विशेषण मे नही। यदि अभाव को विशेषण बना कर और घर को विशेष्य बना कर ज्ञान किया जायगा तो विशेषणता-सम्बन्ध केवल अभाव पर जायेगा, गृहात्मक विशेष्य पर नही। और विशेष्यता सम्बन्ध यदि लिया जायगा तो वह केवल गृहात्मक-विशेष्य मे ही रहेगा विशेषण-भूत अभाव पर नही। इसलिए न तो अभाव और गृह आदि आधार इन दोनो के बीच विशेषणता को सम्बन्ध बनाया जा सकता है और न विशेष्यता को। इसलिए अभाव के साथ आँख आदि इन्द्रिय का सन्निकर्ष "विशेष्यविशेषणभाव" नही हो सकता। इसे उदाहरण के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि श्याम यदि इस प्रकार ज्ञान करता है कि "फूल मे सुगन्ध नही है" तो इस ज्ञान मे फूल होता है विशेषण और सुगन्ध का अभाव होता है विशेष्य। अत विशेषणता केवल फूल मे जा पाती है सुगन्ध के अभाव मे नही। और विशेष्यता केवल गन्ध के अभाव मे ही जा पाती है फल मे नही। ऐसी परिस्थिति मे विशेष्यता को या विशेषणता को आधार पुष्प और आधेय गन्धाभाव इन दोनो मे आश्रित नही कहा जा सकता और उभयाश्रित न होने वाला कोई, दोनो के बीच सम्बन्ध बन नही सकता यह बात कही जा चुकी है। सुतरा "विशेषणविशेष्य भाव" फूल और उसमे विद्यमान गन्धाभाव के बीच ही जब कि सम्बन्ध नही बन पाता है तब उसके सहारे पुष्प-सयुक्त आँख कैसे पुष्पस्थित गन्धाभाव के साथ सम्बन्ध स्थापित करा पायेगा ? इसलिए इन्द्रियो के द्वारा अभाव का ज्ञान सम्भव नही है। अत अभाव अनुपलब्धि नामक प्रमाण से जाना जा सकता है। अनुपलब्धि का स्वरूपनिर्वचन पहले किया जा चुका है। क्योकि अभाव का स्पष्ट ज्ञान उक्त निर्वचन के अनुसार इन्द्रियाँ और अर्थ के बीच होने वाले सन्निकर्ष से जनित नहीं हो पाता है जैसा कि प्रत्यक्षलक्षण मीमासक और नैयायिक दोनो मतो मे समान-रूप मे मान्य है।

प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे एक बात और भी मीमासक मत की आलोचना के समय ध्यान रखने की यह है कि न्यायमत मे जहाँ ज्ञान का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान मान्य होता है वहाँ भी

(९०) विशेष्यविशेषणभावश्च सम्बन्ध एव न सभवति, भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात्। —तर्कभाषा।

मीमांसकों के अन्दर भट्ट के सम्प्रदाय में ज्ञान का प्रत्यक्ष होता नहीं। भट्ट सम्प्रदाय का कहना है कि ज्ञान नियमतः अनुमेय होता है। अनुमान के द्वारा ही उसे जाना जाता है, प्रत्यक्षतः नहीं। निर्विकल्पक ज्ञान को अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्ष का अयोग्य नैयायिकों ने भी माना है। परन्तु मीमांसकों के मत में सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष का अयोग्य ठहराया गया है। इनका कहना यह है कि आत्मा में ज्ञान होने पर उस ज्ञान का विषय होने वाली वस्तु उस ज्ञाता व्यक्ति के लिए ज्ञात हो जाती है। अर्थात् उस वस्तु में ज्ञानात्मक कारण के बल से प्राकट्य नामक एक स्वतन्त्र पदार्थ की जिसे "ज्ञातता" भी कहा जाता है, उत्पत्ति होती है। उसी उत्पन्न प्राकट्यात्मक कार्य से उसके कारण ज्ञान की अनुमिति हो जाती है। कार्य से कारण की अनुमिति लोगों को होती ही रहती है। तदनुसार प्राकट्य से उसके उत्पादक ज्ञान की अनुमिति अनायास हो सकती है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि क्रिया कोई भी क्यों न हो वह अपने कर्म में किसी-न-किसी फल का आधान करती ही है। इस नियम में कहीं भी व्यभिचार नहीं दिखलाया जा सकता। उदाहरण के लिए गमन क्रिया को लिया जा सकता है। श्याम जब अपने गाँव के लिए चल पड़ता है तब वह चलनात्मक गमन अपने कर्मभूत गाँव में गन्ता श्याम के पाँव का संयोग, उसके वहाँ पहुँचने पर अवश्य कराता है। श्याम जाते-जाते गाँव के साथ संयुक्त हो उठता है। अपने चरण के संयोग को गाँव पर उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार ज्ञा धातु का अर्थ ज्ञान भी एक क्रिया ही है। क्योंकि सभी धातुओं के अर्थ विभिन्न क्रियाएँ ही होती हैं। इस प्रकार ज्ञान की अनुमेयता सिद्ध होने के कारण उसका प्रत्यक्ष मान्य नहीं है।

प्रभाकर-साम्प्रदायिक सिद्धान्त इस सम्बन्ध में यह है कि यह बात तो बिलकुल सही है कि ज्ञान का उससे भिन्न कोई प्रत्यक्ष होता नहीं। सारांश यह कि किसी वृक्ष के सम्बन्ध में "यह वृक्ष है" इस प्रकार ज्ञान के अनन्तर इस व्यवसाय-ज्ञान का इस प्रकार अनुव्यवसाय-ज्ञान कि "इस वृक्ष को मैंने जाना" अथवा "यह वृक्ष मेरे द्वारा ज्ञात हुआ" मान्य नहीं है। परन्तु भट्ट मतानुयायियों द्वारा जो यह कहा गया है कि ज्ञान का अनुमान ही होता है प्रत्यक्ष नहीं यह बात बिलकुल गलत है। क्योंकि प्रत्येक ज्ञान अपने लिए स्वयं अपने ही प्रत्यक्ष बन जाता है। अपने से ही अपना विषयीकरण वहाँ हो जाता है। सरल तात्पर्य यह कि नैयायिक लोग जिन दो व्यवसाय और अनुव्यवसाय-ज्ञान को अलग मानते हैं, प्रभाकर के सिद्धान्त में, उन दोनों ज्ञानों के सारे विषयों को विषय बनाने वाला एक ही प्रत्यक्ष मान्य है। उक्त पुष्प-प्रत्यक्षस्थल में "यह फूल है और इसे मैं समझ रहा हूँ" इस प्रकार एक ही प्रत्यक्ष होता है। उक्त दो प्रत्यक्ष होते नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान की पूर्णता तभी उचित कही जा सकती है जब कि ज्ञान में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय इन तीनों का विषयी-करण माना जाय। और ऐसा मानने पर यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान अनुमेय है,

प्रत्यक्ष नही । "यह फूल है और इसे मै समझता हूँ" इस प्रदर्शित ज्ञान के अन्दर "मै" इस रूप मे विषय होती है आत्मा, और "यह फूल है" इस रूप मे विषय बनता है द्रष्टव्य विषय फल । एव "समझता हूँ" इस रूप मे विषय बनता है स्वय वह ज्ञान । इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञेय तीनो ज्ञान के विषय हुआ करते है । इस प्रभाकर-सिद्धान्त मे इसीलिए ज्ञान को स्वप्रकाश माना जाता है । ज्ञान को स्वप्रकाश वेदान्ती भी मानते है और बौद्ध भी । इस साधारण दृष्टिकोण से मालूम तो ऐसा पडता है कि इन तीनो दार्शनिको की स्व-प्रकाशता जिसे वे ज्ञान का धर्म मानते है, एक ही प्रकार की होगी । परन्तु बात बिलकुल ऐसी नही है । क्योकि वेदान्तियो का कहना यह है कि स्वरूपचैतन्यात्मक ज्ञान केवल प्रकाश ही है, प्रकाश्य नही । फलत वेदान्ती लोग अपनी स्वप्रकाशता को प्रकाश्यता के साथ एक जगह रहने वाली नही मानते । इसका पर्यवसित अभिप्राय यह होता है कि ज्ञान अपने द्वारा भी प्रकाशित नही होता । वह कभी विषय बन ही नही सकता । यदि आध्यात्मिक, व्यावहारिक या प्रातिभासिक उस प्रकाशात्मक ज्ञान के सम्पर्क मे आते है तो प्रकाशात्मक ज्ञान प्रकाशक कहलाता है और नही तो नही । इसलिए ज्ञान के सम्बन्ध मे यह भी नही कहा जा सकता है कि ज्ञान सर्वदा विषय का प्रकाशक होता है । इसके सम्बन्ध मे वेदान्तियो ने दृष्टान्त यह उपस्थित किया है कि किसी रङ्गशाला मे विद्यमान दीप-प्रकाश वहाँ दृश्यो एव दर्शको की उपस्थिति के समय उन सबका प्रकाशन करता है । किन्तु उन विषयो की अविद्यमानता के समय वह दीप का प्रकाश प्रकाशक बन पाता नही क्योकि प्रकाश्य विषय के साथ उस समय उनका सम्पर्क उपस्थित रहता नही । परन्तु वह दीप-प्रकाश—प्रकाश उस समय भी बना ही रहता है जिस समय प्रकाश्य दृश्यो और सामाजिको की बिलकुल उप-स्थिति रहती नही । इतना ही नही, परिस्थिति यहाँ तक रहती है कि उस दीप-प्रकाश को भी कोई भी व्यक्ति देखे या न देखे वह तो उस समय भी प्रकाश ही रहता है । इस प्रकार स्वरूपचैतन्य स्वरूपज्ञान भी सदा प्रकाशरूप ही रहता है । यही है ज्ञान की स्वप्रकाशता ।

विज्ञानवादी बौद्ध, ज्ञान को स्वप्रकाश इस दृष्टिकोण से मानते है कि विषय भी सारे ज्ञान के ही आकार है, क्षणिक-विज्ञान से अतिरिक्त नही । ऐसी परिस्थिति मे ज्ञान के अतिरिक्त और कोई वस्तु ही मान्य नही जो कि ज्ञान का प्रकाशक बन सके और ज्ञान उसके द्वारा प्रकाशित होने के कारण प्रकाश्य कहलावे । साराश यह कि उनके सिद्धान्त मे तात्त्विक दृष्टि से प्रकाश्य कहा जाय या प्रकाशक कहा जाय एक क्षणिक-विज्ञान ही है, अन्य कोई नही । इसलिए ज्ञान स्वप्रकाश कहा जाता है । प्रकृत-मीमासक प्रभाकर का सम्प्रदाय इन बौद्ध वर्णित कारणो के कारण ज्ञान को स्वप्रकाश नही मानता । क्योकि प्रभाकर का सिद्धान्त पक्का भेदवादी है, अत वर्णित बौद्धीय दृष्टिकोण से वह ज्ञान को स्वप्रकाश नही कह सकता । और वर्णित वेदान्ती-दृष्टिकोण को अपना करके भी वह ज्ञान को स्वप्रकाश

इसलिए नही कह सकता कि वेदान्ती लोग ज्ञान को प्रकाश्य बिलकुल नही मानते जैसा कि प्रदीपप्रकाश दृष्टान्तरूप से बतलाया जा चुका है। परन्तु प्रभाकर के सिद्धान्त मे ज्ञान अपने से सर्वथा भिन्न होने वाले विषयो का प्रकाशन करता हुआ स्वय प्रकाश्य भी होता है। किस प्रकार वह स्वप्रकाश्य हो सकता है ? यह बात पुष्पज्ञान दृष्टान्त के सहारे स्पष्ट की जा चुकी है।

मुरारि का मीमासक-सम्प्रदाय जहाँ तक ज्ञान के प्रकाशन का प्रश्न है नैयायिको के सम्प्रदाय से एकमत है। वह भी व्यवसाय ज्ञान और अनुव्यवसाय ज्ञान इन दोनो को बिलकुल उसी तरह अलग मानता है जिस प्रकार नैयायिक और वैशेषिको का सम्प्रदाय। "यह फूल है" यह एक अलग व्यवसायात्मक ज्ञान होता है और "फूल को म जानता हू" यह अनुव्यवसाय ज्ञान होता है अलग। इतना ही नही, व्यवसाय ज्ञान जहाँ परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार होते है वहाँ अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कभी अनुमिति आदि परोक्षात्मक होता नही मानस प्रत्यक्षस्वरूप ही होता है। इस प्रकार मीमासको के प्रत्यक्ष का स्वरूप एव प्रक्रिया तथा उसकी विशेषताओ को समझना चाहिए।

एक विशेषता मीमासक मत मे यहाँ यह भी ध्यान रखने की है कि वेदान्ती लोग जहा मन को इन्द्रिय नही मानना चाहते, वहाँ मीमासक लोग[६१] उसे सर्वसम्मत रूप मे इन्द्रिय मानते है। यत्प्रयुक्त प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे अन्तर यह प्राप्त होता है कि ज्ञानसुख आदि का भी मीमासक मत मे मानसप्रत्यक्ष ही हो जाता है। इसलिए यहाँ भी न्यायमत की तरह "साक्षी" एव साक्षिवेद्यता के पचडे मे मीमासको को नही लगना पडता है। "साक्षी" एव "साक्षी-प्रत्यक्ष" का परिचय वेदान्त की प्रत्यक्ष प्रक्रिया के विवेचन के अवसर पर विस्तृत रूप मे दिया जा चुका है। मीमासासिद्धान्त मे प्रातिभासिक सत्ता भी मान्य नही कि वेदान्त सिद्धान्त की तरह यहाँ भी अन्तत प्रातिभासिक पदार्थ के प्रकाशनार्थ साक्षी की मान्यता आवश्यक हो।

एक बात यहाँ यह भी ध्यान रखने की है कि मीमासको के अन्दर प्रभाकर तो आत्मा का प्रत्यक्ष मानते है किन्तु भट्ट का सम्प्रदाय आत्मा को अनुमेय ही मानता है, प्रत्यक्षगम्य मानना नही। और मीमासा सिद्धान्त मे काल का भी प्रत्यक्ष माना जाता है। जिससे पता यह चलता है कि प्रत्यक्ष के लिए रूप की आवश्यकता मान्य नही है। एक बात और यह भी ज्ञातव्य है कि मीमासा सिद्धान्त मे चाक्षुप प्रत्यक्ष स्थल मे विषय के साथ आग्य के सन्निकर्ष की प[illegible]

(६१) इन्द्रियार्थ सयोगजत्व सुखादिज्ञानेष्वव्याप्तेरहेतुरितिचेन्न तेषामपि मनस्सज्ञके-न्द्रियसम्प्रयोगजत्वात्। मनस्सद्भावे च सुखादिज्ञानमेव प्रमाणम्।
—शास्त्रदीपिका, पा० १, सू० ४।

यह मान्य है कि अक्षिपात्रस्थित कृष्णसार गोलक से निर्गत रश्मि स्वत विषय तक न जाकर वाह्य-चन्द्रसूर्य प्रकाश आदि के साथ घुल-मिल[१२] जाती है। इसीलिए दूरतर ग्रह-नक्षत्र आदि का प्रत्यक्ष आँख खोलते ही हो जाता है। बिलकुल विलम्ब होता नही। कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायमतसिद्ध-प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के वर्णन के अवसर पर जो यह वतलाया जा चुका है कि आँख की रश्मि अत्यन्त वेगशीलभाव से दूर से दूरवर्त्ती विषय के साथ जा जुटती है उसे भट्टानुयायी मीमासक मानते नही। वे इस सम्बन्ध मे अपना स्वतन्त्र विचार यह रखते हैं कि वाह्य सौर चान्द्र आदि विषय-सम्पृक्त प्रकाश के साथ यत चक्षु-प्रकाश मिल जाता है अत उस अति दूरवर्त्ती आकाशीय ग्रह उपग्रह, के साथ आँख का सम्पर्क अतिशीघ्र स्थापित हो जाता है। इसीलिए उनकी अति दूरवर्त्तिता के होते हुए भी द्रष्टा को उनका प्रत्यक्ष तुरन्त हो जाता है, विलम्ब लगता नही। प्रत्यक्ष के लिए अति अपेक्षित होनेवाले मन को मीमासक लोग वहुत छोटा अर्थात् परमाणु के समान सूक्ष्मतम मानते नही। उनका कहना है कि मन है तो व्यापक,[१३] परन्तु ज्ञान आदि के लिए उसका वही भाग जो कि शरीर के अन्दर ही रहता है बाहर नही, वही काम मे आता है। उस देहस्थित मनोभाग से ही प्रत्यक्ष आदि, ज्ञान आदि का सम्पादन होता है। और न्यायमत से एक विशेपता यह भी इम सिद्धान्त मे ज्ञातव्य है कि न्याय वैशेपिक एव प्रभाकर का मत जहाँ सत्तानाम की जाति को जिमकी चर्चा पहले भी की गयी है द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनो मे मानता है वहाँ भट्ट का मीमासक-सम्प्रदाय सत्ताजाति, द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य इन चारो मे विद्यमान मानता है। प्रत्यक्ष के सम्वन्ध मे अन्य सभी मतो से यहाँ एक विशेपता यह भी पायी जाती है कि तर्क को यहाँ प्रत्यक्ष का भी सहायक माना गया है। इन मीमासको का कहना यह है कि नैयायिक लोग जो केवल अनुमान स्थल के लिए तर्क को अपेक्षित मानते है वह उचित नही कहा जा सकता। क्योकि विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तर्क प्रत्यक्ष आदि के लिए भी उतना ही अपेक्षित है जितना अनुमान स्थल के लिए। उदाहरण रूप मे मीमासको ने यह कहा है कि "परमाणु पुज से अतिरिक्त घट आदि अवयवी का अस्तित्व है" यह नैयायिको के कहन पर जव कि बौद्धो के पक्ष से यह कहा जायगा कि घट, पट आदि को अवयवी द्रव्य न मान कर परमाणु पुज ही मानना उचित है। तव नैयायिको को बौद्धो के समक्ष यह तर्क अपने मत की सिद्धि के लिए उपस्थित करना ही होगा कि "यह घडा है" इस प्रकार

(१२) तन्नोन्मीलनक्षण एव दूरतरदर्शनेश्चरादिदर्शनात् व्याप्यावस्थितेन वाह्यतेजसा निर्गमनसमय एवैकीभाव कल्पनीय। —मानमेयोदय।

(१३) तस्य च विभुत्व साधयिष्यते। तथापि शरीरावच्छिन्नस्यैव तस्येन्द्रियत्वमिति तत्प्रदेश एव कार्याणि करोति। —मानमेयोदय।

वास्तविक सत्ता मानते ही नही जैसे क्षणिक-विज्ञान-मात्र को तत्त्व मानने वाले योगाचार सम्प्रदाय के लोग एव अद्वैत शून्य को ही तत्त्व मानने वाले माध्यमिक बौद्धो के सम्प्रदाय के लोग, उनके सिद्धान्त मे तो बाह्य वस्तुएँ तत्त्वत है ही नही। एव इन्द्रियाँ भी तत्त्वत होती नही। अत विषयो के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध एव प्रत्यक्ष के लिए उसकी अपेक्षा इत्यादि बातो की समीक्षा का कोई महत्त्व ही नही हो सकता महायानी बौद्ध की दृष्टि-कोण से। तब रही बात उन हीनयानी बाह्यास्तित्ववादी दो बौद्धो के मत मे विवेच्य प्रत्यक्ष प्रक्रिया की। तो बाह्यास्तित्ववादी बौद्धो के अन्दर भी सौत्रान्तिक सम्प्रदाय बाह्य वस्तुओ को अनुमेय ही मानता है। उसका कहना यह है कि बाह्य वस्तुएँ है नही यह बात नही, बाह्य वस्तुएँ है अवश्य। क्योकि उनके सम्पर्क का कुफल-सुफल आन्तर जीवन पर पडता ही है परन्तु उन बाह्य वस्तुओ को देखा नही जा सकता। किसी भी इन्द्रिय से उन्हें प्रत्यक्ष नही किया जा सकता। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का विषय नही बनाया जा सकता। सम्भव है इस बाह्य प्रत्यक्षत्व को कहिए या बाह्यानुमेयत्व को दो बाह्यास्तित्ववादी बौद्ध सम्प्रदायो के बीच एक सम्प्रदाय ने इसलिए जोर से अपनाया कि उनका प्यारा बाह्य परमाणुपुजवाद सुरक्षित रह पाये। क्योकि सारे बाह्य पदार्थों को अनुमेय मानने पर स्वतन्त्र अवयवी की उत्पत्ति एव स्थिति मनाने के लिए नैयायिक एव वैशेषिको के द्वारा परमाणु-पुजवादी बौद्धो के समक्ष उपस्थापित यह तर्क बेकाम हो जाता है कि "यदि घडे, कपडे आदि बाह्य वस्तुएँ एक-एक स्वतत्र अवयवी न माने जायँ, परमाणुपुजस्वरूप ही माने जायँ तो 'यह घडा एक है और बडा है", "यह कपडा एक है और बडा है" इस प्रकार प्रत्येक सावयव वस्तुओ के सम्बन्ध मे होने वाला प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न हो सकता है? यह तर्क बिलकुल निराधार होकर स्वत चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है। क्योकि जब बाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्ष ही अमान्य हो जाता है तब उस अमान्यतावादी के समक्ष यह कैसे कहा जा सकता कि "यह प्रत्यक्ष कैसे हो पायेगा?" क्योकि वह कह देगा कि प्रत्यक्ष होता ही नही। कैसे हो पायगा? यह

प्रश्न तुम उठा ही नही सकते। इसकी मान्यता के पीछे कारण जो कुछ भी हो बाह्यास्तित्व-वादी होते हुए भी सौत्रान्तिक बौद्ध सम्प्रदाय बाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्ष मानता नही यह तो निश्चित ही है। इस बाह्यानुमेय वाद की स्थापक युक्तियो के अन्दर एक युक्ति इन लोगो की यह थी कि पूरे वृक्ष या मकान आदि बाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भला उन नैयायिक एव वैशेषिको के सिद्धान्त मे भी कैसे सम्पन्न होने वाला माना जा सकता, जो कि प्रत्यक्ष के लिए विषय के साथ होने वाले इन्द्रियसन्निकर्ष की नितान्त आवश्यकता मानते है? क्योकि पूरे वृक्ष या पूरे मकान के साथ तो आँख का सन्निकर्ष न्यायवैशेषिक सिद्धान्त मे भी नही माना जा सकता। अत बाह्य विषयो का प्रत्यक्ष नही माना जा सकता।

यह कहा जा सकता है कि पूरे वृक्ष का अनुमान[१४] किया जाता है। इस विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि बौद्धो का सौत्रान्तिक सम्प्रदाय बाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्ष ही मानता नही अत उस दृष्टिकोण से यह विचार उठता नही कि बाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्ष कैसे होता है ? उसकी प्रक्रिया क्या है ?अत बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के विवेचन के समय केवल वैभाषिक का सम्प्रदाय ही सामने रह जाता है कि वह सम्प्रदाय बाह्य वस्तुओ को देखने की कैसी प्रक्रिया को अपनाता है। तो इस सम्बन्ध मे पहले कहा गया है यहाँ ही कि बौद्ध लोग इन्द्रिय से प्रत्यक्ष सम्पादनार्थ विषय के साथ सन्निकर्ष की अपेक्षा मानते नही। यह इसीलिए सम्भवत बाह्य-प्रत्यक्षवादी बौद्ध मानते है कि उनके सगे भाई बाह्यानुमेयत्ववादी बौद्ध उक्त तर्क के द्वारा यह सिद्ध कर देते है कि वृक्ष, भवन आदि किसी भी पूरे दृश्य बाह्य वस्तु के साथ आँख आदि का सन्निकर्ष सम्भव कैसे हो सकता ? ये बाह्य प्रत्यक्षतावादी बौद्ध गोलक चक्षुर्वाद को मान्यता देते हुए भी दृश्यमान आँखो के द्वित्व को नही मानते। उनका कहना है कि आँख की नाक-पुल की दोनो ओर उपस्थिति शोभार्थ ही है। तत्वत लम्बायमान आँख एक ही है। आँखे प्रत्येक व्यक्ति को दो नही होती है। नैयायिको ने विस्तृत विचार करके इसके विरुद्ध यह स्थिर किया है कि एक व्यक्ति को दो आँखे सहजत होती है।

सम्भव है कि यहाँ किसी को यह जिज्ञासा उदित हो कि क्षणिक-विज्ञानवादी एव शून्याद्वैतवादी बौद्धो के दृष्टिकोण मे दृश्य जगत् तात्त्विक भले ही न हो किन्तु व्यावहारिक तो इसे उन्हे किसी-न-किसी रूप मे मानना ही होगा। क्योकि वे वादी भी आखिर औरो की तरह ही अपना दैनन्दिन कृत्य चलाते ही है। वे भी सामने विद्यमान दृश्य को आँख से देखते ही है ? ऐसी परिस्थिति मे तात्त्विक नही सही, अतात्त्विक ही सही, कुछ-न-कुछ एक उसका क्रम उन्हे मानना ही होगा। वह क्रम आखिर क्या हो सकता है ? तो इसके सम्बन्ध मे प्रतीत यह होता है कि क्षणिक-विज्ञानवादी योगाचार-साम्प्रदायिक बौद्धो के मत मे इन्द्रियाँ वेदान्त सिद्धान्त के समान उस आन्तर विज्ञान के लिए मानो एक निर्गमन प्रणाली है जिसके सहारे आन्तर विज्ञान बाहर जाता है और तदनुसार उस विज्ञान का एक आकार हो जाता है। आकार होते हुए भी रहता वह आन्तर क्षणिक-विज्ञान ही है। उसीमे बाह्यता का आरोप मात्र होता है। अर्थात् आन्तर क्षणिक विज्ञान को ही बाह्य समझ लिया जाता हे मात्र। कहने का तात्पर्य यह कि क्षणिक आन्तर विज्ञान का जो क्रम है अथवा यो कहा जाय कि क्रमिक जो क्षणिक विज्ञान है वही आँख भी है, आन्तर विज्ञान का आकार भी वही है अत जिसे देखा जाता है फूल आदि को, वह दृश्य भी क्रमयुक्त क्षणिक-

(१४) प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धे ।३१। —न्यायदर्शन, अ२ ।

विज्ञान से तदभिमुख प्रवृत्ति अर्थात् एक आगन्तुक कतिपय बाह्य आकारयुक्त विज्ञान की धारा चल पडती है परन्तु वह परिस्थिति फिर आगे चलकर रहती नही, फिर चलने लगती है आलय विज्ञानधारा। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि गति चाहे सूर्य की मानी जाय, चाहे पृथ्वी की, परन्तु सूर्य का स्वच्छ प्रकाश जब उदय के समय क्षितिज के निकट दिखाई देता है तब लाल दिखायी देता है। यह लाल दिखाई देना नैमित्तिक होता है, स्वाभाविक नही अत फिर धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो क्षितिज से वह प्रकाश अलग होता जाता है त्यो-त्यो वह शुद्ध अपने स्वच्छ स्वरूप को प्राप्त करता जाता है। फिर जब अस्त के समय वह क्षितिज के समक्ष दिखाई देता है तो फिर लाल दिखाई देने लगता है। किन्तु सूर्य की वह प्रकाशधारा तत्त्वत एक प्रकार ही रहती है। उसी प्रकार विज्ञान का आलयस्वभाव ही बीच मे मानो प्रवृत्ति स्वभावाक्रान्त हो जाता है। अत विज्ञान की धारा एक व्यक्ति के लिए एक ही होती है। आगन्तुक प्रवृत्ति या प्रकृति स्वभावाक्रान्तता भी विज्ञान से बाहर की चीज नही मानी जा सकती, आकार भी विज्ञान के बाहर और कुछ होता नही इसलिए क्षणिक-विज्ञान मात्र की तत्त्वता अक्षुण्ण रहती है। गभीर-भाव से चिन्तन करने पर इस सिद्धान्त मे व्यवहार और परमार्थ का अन्तर रहता नही। इस प्रकार विज्ञान मात्र को तत्त्व मानते हुए भी दैनन्दिन व्यवहार उस विज्ञान से ही सम्पन्न किया जाता है। साराश यह कि इस सिद्धान्त मे घटना के अतिरिक्त ससार मे और कोई वस्तु मान्य नही है और विभिन्न रूप से प्रतीयमान सारी घटनाएँ तत्त्वत विज्ञान ही मान्य हैं। विज्ञान मे होने वाला क्रम जिसे ही क्षणिकता के रूप मे कहा जाता है वह भी उस विज्ञान के अन्दर ही मान्य है। उस सुव्यवस्थित क्रम के आधार पर सारी व्यवस्था बनायी जा सकती है। विज्ञान भी जब यहाँ क्रमसम्पन्न माना जाता है तो उसे भी घटना ही कहना उचित होगा और जब तक हम उसे घटना न कह दे तब तक और सारी व्यावहारिक घटनाओ को वह आत्मसात् भी नही कर सकती। इस प्रकार क्षणिक-विज्ञान को भी क्रिया कह करके मैंने अपने पदार्थ-शास्त्र, द्वितीय भाग मे इस बौद्धवाद को "क्रियाद्वैत" कहा है और यहाँ भी अद्वैतवादो की चर्चा के समय इसे क्रियाद्वैतवाद कहा है।

शून्याद्वैतवादी[६७] के यहाँ यह वर्णित क्षणिक-विज्ञानवादियो की निर्वचन प्रक्रिया व्यावहारिक है, पारमार्थिक नही। उनका कहना यह है कि जो जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन परिस्थितियाँ अनुभूत होती है उनमे तटस्थ भाव से विचार करने पर सुषुप्त परिस्थिति

(६७) देशना लोकनाथाना सत्त्वाशयवशानुगा।
भिन्ना हि देशनाभिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा॥

—सर्वदर्शन सग्रह, बौद्धदर्शन।

ही ऐसी मालूम होती है, जिसके सहारे तत्त्व का निर्धारण किया जा सके। वह परिस्थिति शून्य की ही होती है। अत तत्त्व रूप मे शून्य ही मान्य है। रही बात जागरण और स्वप्न की तो इन दोनो परिस्थितियो का निर्वाह क्षणिक-विज्ञानवादी पद्धति से किया जा सकता है। किन्तु वे दोनो परिस्थितियाँ एव तत्परिस्थितिक घटनाएँ है अतात्त्विक। ये अतात्त्विक परिस्थितियाँ क्यो आ जाती है ऐसा यदि उनसे पूछा जाय तो वे यह उत्तर देंगे कि यह तो प्रश्न ही निरवकाश है। ऐसा तो प्रश्न ही नही उठाया जा सकता। क्योकि मैंने पहले ही कहा है कि वे परिस्थितियाँ एव उन परिस्थितियो से सम्पृक्त रूप मे प्रतीत होने वाली सारी घटनाएँ उक्त प्रतीतिसहित अतत्त्व हैं। इस प्रकार यदि सोचा जाय तो स्वय प्रश्न भी अतत्त्व हो जाने के कारण अवकाश पाता नही। साराश यह कि जाग्रत् और स्वप्नकालिक व्यवहार के सम्पादनार्थ क्षणिक विज्ञानवादी ने जिस प्रक्रिया को अपनाया है वह शून्याद्वैत तक पहुँचने के लिए सर्वाधिक निकट पडता है अत जागरण और स्वप्न के लिए यदि कोई उस अतत्त्व को तत्त्व समझ बैठे, तो अपना समझे, उससे माध्यमिक के शून्य तत्त्व का कुछ बिगडता नही। क्षणिक-विज्ञानवाद शून्य तत्त्व के निकट इसलिए है कि जागतिक रूप मे विभिन्न रूप से प्रतीयमान सारी वस्तुओ को तो क्षणिक विज्ञान ही आत्मसात् कर लेता है, तब केवल उसे ही उखाड फेकने पर शून्याद्वैत का साम्राज्य जगमगा उठता है। जिसका सम्पादन सुषुप्ति के सहारे माध्यमिक-साम्प्रदायिक-बौद्ध अनायास कर लेते है।

किमी प्रकार से हो जाया करता है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि देखते समय आँख के सामने अन्तरिक्ष में चलता-फिरता बिन्दु जैसा दिखाई देता है। तन्मात्र को विषय करने के कारण "कल्पनापोढ" तो वह ज्ञान भी होता है, किन्तु विषय के न रहते हुए उस ज्ञान के होने के कारण उसे भ्रान्त अर्थात् भ्रमात्मक ही मानना होगा। अत अभ्रान्त न हो सकने के कारण वह प्रत्यक्ष नही कहला पायेगा। परन्तु प्रकृत चार्वाकीय-सिद्धान्त मे निर्विकल्पक को मान्यता नही हे। अत प्रत्यक्ष का यह बौद्धसम्मत लक्षण सर्वथा चार्वाक मत के लिए असम्भवग्रस्त कहा जायगा। निर्विकल्पक क्यो नही यहाँ मान्य होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि इस सिद्धान्त मे मन ही एक इन्द्रिय रूप से मान्य है, आँख आदि नही। और मन का विषय क्या अतीत या क्या अनागत एव क्या वर्तमान सभी होगे, इसके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान को भी इन्द्रिय का विषय होना स्वाभाविक होगा। परन्तु निर्विकल्पक ज्ञान होता है उसको मान्यता देने वालो के मत मे अतीन्द्रिय। अत निर्विकल्पक ज्ञान प्रकृत चार्वाक-सिद्धान्त मे मान्य नही कहा जा सकता। नैयायिको ने जिस युक्ति से निर्विकल्पक ज्ञान के अस्तित्व की स्थापना की है उसके उत्तर मे वक्तव्य यह समझना चाहिए कि शाब्दबोध-स्थल मे जिस प्रकार "खले कपोत" दृष्टान्त के आधार पर यह माना जाता है कि एक ही साथ सारे विशेष्य एव सारे विशेषण परस्पर अन्वित रूप मे प्रतीत हो जाते है। विशिष्ट शाब्दबोध के पूर्व विशेषण, शाब्दबोधार्थ अपेक्षित होता नही। उसी प्रकार प्रत्यक्ष स्थल मे भी सारे विशेष्य एव सारे विशेषणो का विषयीकरण माना जा सकता है। ऐसी परिस्थिति मे विशेषण-ज्ञान रूप मे निर्विकल्पक की मान्यता आवश्यक नही ठहरायी जा सकती।

चार्वाक मत और जैनमतीय प्रत्यक्ष—

प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे जैन दार्शनिको के बीच गृहकलह-सा प्रतीत होता है। क्योकि एक दल न्यायमतसिद्ध प्रत्यक्ष एव उसकी प्रक्रिया को अवश्य मान्यता देता है। परन्तु दूसरे लोगो का कहना है कि इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता। यह कथन न्यायमत से प्रकृत प्रत्यक्ष के विषय मे अवश्य मतविरोध रखता है। मति, स्मृति, सज्ञा और चिन्ता इन चारो ज्ञानो को जैनमत मे "अभिनि-

(६६) तत् प्रमाणे ।१०। आद्ये परोक्षम्। ११। प्रत्यक्षमन्यत्। १२।
मति स्मृति सज्ञा चिन्ताऽभिनिवोध उत्पनर्यान्तरम्। १३।
—तत्त्वार्य सूत्र, प्रमाणचर्चा।
सुखलालजी सघवी की विस्तृत हिन्दी व्याख्या तथा पादटिप्पणी देखिए।

बोध" कहा जाता है। उक्त मतिज्ञान के दो प्रभेद मान्य है यथा–"इन्द्रिय निमित्तक" और "अनिन्द्रिय निमित्तक"। अनिन्द्रिय पद से विवक्षित है मन। तदनुसार आँख, कान आदि और मन से जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भला जैन सिद्धान्त मे कैसे प्रत्यक्ष कहला सकता है ? स्मृति का अर्थ तो है स्मरण यह सर्ववादि सम्मत ही है। परन्तु चार्वाक-सिद्धान्त मे स्मरण ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है यह आगे बतलाया जायगा। जैन दार्शनिक लोग सज्ञा शब्द से कहते है उस प्रत्यभिज्ञा को जो पूर्वानुभूत किसी भी विषय को फिर विषय बनाता है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि श्याम ने कभी एक व्यक्ति को देखा था सयोगवश फिर वह व्यक्ति कभी उसके सामने आ गया। ऐसी परिस्थिति मे जो श्याम को यह ज्ञान होता है कि "यह वही व्यक्ति है" वह ज्ञान कहलाता है प्रत्यभिज्ञा। इस प्रकार होने वाले सारे प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान को जैनदर्शन मे कहा जाता है 'सज्ञा"। चिन्ता वह ज्ञान होता है जो कि किसी भी आगामी को ही विषय करता है। यदि कोई आने वाला हो, या कही से कुछ मिलने वाला हो तो उसके लिए पहले लोगो को चिन्ता होती है यह सर्वविदित है। यहाँ यह भी एक ध्यान रखने की बात है कि जैन सिद्धान्त भी प्रमा को ही प्रमाण मानता है जैसा कि चार्वाकीय दृष्टिकोण मे प्रमा को ही प्रमाण रूप मे मान्यता है, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है।

चार्वाक-मत-प्रकाश मे शैवमतीय प्रत्यक्ष––

शैव-सिद्धान्त भी प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे अपना एक अलग मार्ग बतलाता है। सर्वप्रथम उसने इस सम्बन्ध मे यह बतलाया है कि किसी भी वस्तु की प्रमा जिसके बिना न हो सके वही प्रमाण कहलाने का अधिकारी हो सकता है। शैव सम्प्रदाय का कहना है कि साधारण जनता जिन आँख, कान आदि इन्द्रियो एव अनुमान आदि को प्रमाण मानती है तत्त्वत वे प्रमाण नही है। क्योकि उनमे परस्पर मे व्यभिचार पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहा आँख काम देती है वहाँ नाक की कार्यक्षमता देखी जाती नही, जहाँ नाक की कार्यक्षमता देखी जाती है वहा आख कार्यक्षम देखी जाती नही। रूप देखते समय तो आँख [illegible] रूप मे अपेक्षित होती हुई पायी जाती है। किन्तु वही आँख रस चखते समय बिल्कुल काम नही दे पाती। इस वस्तुस्थिति के अनुसार सामान्यत प्रमा मात्र के लिए [illegible] इन्द्रिय या अनुमान आदि के अन्दर किसी भी एक को अपेक्षित नही माना जा सकता। प्रमाण तो वही माना जा सकता जो कि सारी प्रमाओ के लिए समान भाव से अपेक्षित हो। ऐसी परिस्थिति मे जब कि प्रत्येक इन्द्रिय आदि प्रमाण, प्रमा के लिए समान भाव मे [illegible] होती हुई नही पायी जाती है तब जिन्हे अन्य दार्शनिको ने प्रमाण माना है उन्हे [illegible] प्रमाण नही माना जा सकता। इस प्रकार विचार उपस्थित करके शैव-सिद्धान्त ने

यह बतलाया है कि सारी प्रमाओ के सम्पादक किसी एक को ही प्रमाण माना जा सकता है विभिन्न आँख, कान आदि इन्द्रियो या अनुमान आदि को नही। इसके अनन्तर मानो जब कि शैवो के समक्ष यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि मन तो प्रत्येक वस्तु के विपयीकरण मे सर्ववादि सम्मत रूप मे अपेक्षित होता है। अत मन उक्त शैव युक्ति के अनुसार प्रमाण कहलाने का अधिकारी हो सकता है। इसलिए मन को ही सामान्यत प्रमा के साधन के रूप मे प्रमाण मानना चाहिए। तब शैवो ने मन को भी प्रमाण महासिंहासन पर अभिषिक्त करने का अनुमोदन यह कह कर नही किया कि हाँ, मन सर्वत्र प्रमा स्थल मे अपेक्षित होता है इसलिए उसे ही एक मात्र प्रमाण उक्त युक्ति के अनुसार माना जाना औरो की अपेक्षा अधिक सम्भावित अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु मन को प्रमाण माना इसलिए नही जा सकता कि जिन इन्द्रिय अनुमान आदि को प्रमाण के आसन से च्युत किया जा रहा है मन भी उन्ही के समान प्राकृत अर्थात् जड है, प्रकाशात्मक है नही, अत उसे भी प्रमाण महासिंहासन पर बैठाया नही जा सकता। दूसरी बात यह है कि मन भी सुख-दु ख आदि के समान वेद्य अर्थात् ज्ञेय है। जो स्वय ज्ञेय है उसे भला कैसे ज्ञापक माना जा सकता है? किसी भी ज्ञेय का ज्ञापन वस्तुत कोई प्रकाशात्मक ज्ञान ही कर सकता है और कोई नही। अत अद्वैत चित्-स्वरूप प्रकाश को ही प्रमाण मानना उचित है।

इस कथन के अनन्तर शैव-सिद्धान्त के समक्ष विपक्षियो की ओर से जब यह जटिल समस्या उपस्थित की गयी कि प्रकाशाद्वैतवादी शैव-सिद्धान्त के अन्दर तो सब कुछ प्रकाश के ही पेट मे पडा हुआ प्रकाशात्मक ही है, प्रकाश से बाहर कुछ है ही नही और उसी प्रकाश को जिसे अपर शब्द मे शैव सिद्धान्त चित्, सवित्, आदि शब्दो से भी पुकारता है प्रमाण माना जा रहा है तो "कर्तृकरण विरोध" उठ खडा हो रहा है। करण का कर्त्ता होना या कर्त्ता का करण होना सर्वथा अनुभवविरुद्ध है। कुल्हाडी कभी स्वय लकडी काटती हुई पायी नही जाती। उस कुल्हाडी से अतिरिक्त किसी काटने वाले व्यक्ति के द्वारा सुव्यवस्थित रूप मे प्रचालित होने पर ही उससे लकडी का कटना सम्भव होता है। इस वस्तु-स्थिति के अनुसार यह कहना या स्वीकार करना कठिन है कि प्रकाशात्मक चित् ही सारी प्रमाओ का करण है। शैव सिद्धान्ती यह तो कह नही सकते कि प्रमाता जीव प्रकाशात्मक नही है। क्योकि ऐसा कहने पर उनका प्रकाशाद्वैत का विशाल भवन अपने ही हाथो गिरा दिया गया, यह माना जायगा। जब कि जीवात्मा को वे प्रकाशस्वरूप नही मानेगे तो प्रमाण को प्रकाशस्वरूप मनवाने का उक्त प्रबल प्रयत्न उसी प्रकार उपहासास्पद होगा जैसे कोई हाथी देकर अकुश न देने के लिए झगडे। अत प्रकाशात्मक सवित् को प्रमाण नही माना जा सकता।

इस प्रकार विरोधी दार्शनिको के द्वारा विरोध उपस्थित करने पर शैव-सिद्धान्तियो ने

उस द्रष्टव्य बाह्य वस्तु के साथ जा जुटती है। इसलिए उक्त बाह्य विषयसम्बन्धात्मक चित्प्रत्यक्ष उपपादित होता है। नैयायिक सम्मत प्रत्यक्ष-प्रक्रिया की ओर इगित करते हुए शैवो का कथन इस सम्बन्ध मे यह है कि और दार्शनिक जो इन्द्रिय और अर्थ इन दोनो के बीच स्थापित होने वाले सम्बन्ध के अधीन होने वाला ज्ञान है प्रत्यक्ष ऐसा प्रत्यक्ष का निर्वचन करते है वह कभी मान्य नही हो सकता। क्योकि चित् शक्तिविहीन इन्द्रिय-अर्थ का सन्निकर्ष भला क्या कर सकता ? कैसे विषय का प्रकाशन कर सकता ?

शैवो के इस कथन की ओर विशेष रूप से दृक्पात करने पर शैवसम्मत[101] प्रत्यक्ष की प्रक्रिया यह मान्य मालूम पडती है कि गतिशील इन्द्रियाँ विषय तक पहुँच कर उस द्रष्टव्य विषय के साथ जा जुटती हैं यह जुटना है इन्द्रियप्रत्यक्ष। और नालीतुल्य इन्द्रिय के द्वारा अन्त करण भी उस विषय तक पहुँचता है और उस विषय के साथ सम्बद्ध हो जाता है। यह विषय के साथ होने वाला अन्त करण का सम्बन्ध ही होता है विषय का मानस प्रत्यक्ष। और उस अन्त करण के साथ चित् का विषयस्थान तक गमन उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार नोन या चीनी मिले पानी की धारा के साथ चीनी या नोन भी बहता हुआ वहाँ तक पहुँचता है जहाँ तक जल जाता है। गहराई से देखने पर यह देखने को अवश्य मिलता है कि यहाँ की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया वेदान्त की प्रत्यक्ष प्रक्रिया से बहुत कुछ मिलती-जुलती-सी होती है। अन्तर इतना प्रतीत होता है कि वेदान्त का चैतन्य स्पन्दरहित और यहाँ की सवित् स्पन्दशील होने के कारण वेदान्तसिद्ध चैतन्य का विषयसम्बन्ध कुछ और तरह का होगा। जहाँ तक अन्त करण की विषय तक गति की बात है साङ्ख्यसिद्धान्त की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया से भी यहाँ की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया मे बहुत कुछ साम-जस्य है।[1'ख] हाँ, इतना अधिक प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे शैव लोग अवश्य मानते है कि बुद्धिकर्तृक निश्चय ही प्रत्यक्ष की अन्तिम सीमा नही किन्तु बुद्धिव्यापार के अनन्तर विद्याकर्तृक विवेचन, कलाकर्तृक अनुरजन और प्रमातृ विश्राम ये तीन भी नियमत होते है।

(१०१) तथा भासितवस्त्वशरञ्जना सा वहिर्मुखी।
स्ववृत्तिचक्रेण सम ततोऽपिकलयत्यलम् ॥

सा परैव प्रमात्रैकरूपासम्वित्, बहिर्मुखी स्वस्वातन्त्र्यात् प्रमाणदशामधिशयाना, स्वमात्मीय यच्चक्षुरादीन्द्रियसम्बन्धि रूपाद्यालोचनात्मक वृत्तिचक्र ·। —तन्त्रालोक।

(१०१ख) अत्र पृथिव्याप्याभासा एव मिश्रीभूय घटादिस्वलक्षणीभूता, कर्मेन्द्रियै-रुपसर्पिता, बुद्धीन्द्रियैरालोचिता, अन्त करणेन सकल्पिताभिमतनिश्चितरूपा, विद्यया विवेचिता कलादिभिरनुरञ्जिता प्रमातरि विश्राम्यन्ति।

—ई० प्र० विमर्शिनी आगमाधिकार श्लो० का० ११।

कम्पन-प्राप्त पार्थिव कणो मे नवीन रूप प्राप्त हो जाता है। यहाँ किये जाने वाले इस रूप शब्द के प्रयोग को भी केवल पीला, उजला, हरा, काला आदि रगो के ही अर्थ मे प्रयुक्त नही समझना चाहिए। वस्तुओ के आकार-प्रकार आदि को भी रूप के अन्तर्गत परिगणित समझना चाहिए। जैसा कि बौद्ध दार्शनिको ने भी स्वीकार किया है। प्रकृत बात यह है कि ज्ञान भी चार्वाक-सिद्धान्त मे एक प्रकार की क्रिया ही है, गुण नही। ज्ञाता आत्मा रूप से लोकव्यावहारिक क्षेत्र के लिए यहाँ इस प्राणि-शरीर को ही लेना है, जिसमे ज्ञानात्मक क्रिया परिस्फुट होती है। यही आत्मा यहाँ कर्त्ता एव भोक्ता भी मान्य है। यह आत्मा भौतिक सूत्रजाल से व्याप्त है और यह सूत्रजाल भी इस आत्मा का एक अवयव ही है, जो कि मन केन्द्र से लेकर आत्मा के प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग तक मे व्याप्त है। साथ ही इस जाल के अन्दर सूत्र दो तरह के है। एक वे जो कि बाहर की ओर से मन-केन्द्राभिमुख है, और दूसरे वे जो कि मन केन्द्र से निर्गत होकर बाहर की ओर विकेन्द्रित होते है। इन्ही बाहर की ओर से मन केन्द्र की ओर जाने वाले सूत्रो को कहा जाता है ज्ञानेन्द्रिय। और मन केन्द्र से निकलकर बाहर की ओर विकेन्द्रित होने वाले सूत्र कहलाते है कर्मेन्द्रिय। इन सूत्रो मे होने वाली क्रियाओ को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है यथा—स्फुटक्रिया, अस्फुटक्रिया और स्फुटास्फुट क्रिया। "स्फुट" वह क्रिया कहलाती है जिसका परिचय अनेक आत्मा को प्राप्त हो। उदाहरण के द्वारा इसे हम यो समझ सकते है कि जब कोई भी व्यक्ति चलता है, बोलता है, खाता है, पीता है तो इन क्रियाओ को वह चलने, बोलने, खाने, पीने वाला स्वय भी समझता है और यदि उसके निकट और भी कोई हो तो वह भी समझता है कि यह खा रहा है, यह पी रहा है, यह चल रहा है और यह बोल रहा है। अस्फुट क्रिया वह होती है जिसका पता उस व्यक्ति को भी चलता नही। उदाहरण के लिए शरीरात्मा के अन्दर बिछे हुए उक्त सूत्रजालगत क्रियाओ को ले सकते है। क्योकि उस सूत्रसञ्चलन का पता तब तक इस शरीरात्मा को भी नहीं होता जिसके अन्दर यह सूत्रजाल क्रियाशील होता है, जब तक शरीरात्मा के अवयव-भूतमनस् मे ज्ञान आदि शब्दो से कही जाने वाली स्फुटास्फुट क्रिया न हो जाय। जब इस आन्तर स्फुटास्फुट ज्ञान आदि क्रिया का प्रभाव स्फुट क्रिया के रूप मे शरीरात्मगत होता है तो और लोग भी उस शरीरात्मा के स्फुटास्फुट क्रिया तक का परिचय प्राप्त करते है। आन्तर ज्ञान सुख-दुःख आदि को स्फुटास्फुट क्रिया इसीलिए कहना आवश्यक है कि उक्त आन्तर ज्ञान सुख आदि को व्यक्ति स्वय उस समय भी समझता रहता है जब कि दूसरे उसे नही समझते रहते है। हाँ, एक बात यहाँ यह भी ध्यान रखने की है कि शरीरात्मगत ऐसी क्रिया को भी स्फुटास्फुट ही कहा जायगा जिसका परिचय औरो को तो होता है किन्तु स्वय उसे होता नही। उदाहरण के

लिए हम सोते व्यक्ति के श्वास-प्रश्वास क्रिया को ले सकते हैं। क्योंकि वह तो सोया हुआ व्यक्ति उस अपनी श्वास-प्रश्वास क्रिया को नहीं समझता रहता है किन्तु निकटवर्त्ती और जागरणशील व्यक्ति अच्छी तरह उसे समझता रहता है। अद्वैत-वेदान्तियो का यह कथन कि सुषुप्त व्यक्ति को तत्त्वत श्वास-प्रश्वास क्रिया रहती नही। अन्य जागरणशील व्यक्ति उस क्रिया के अस्तित्व के सम्बन्ध मे भूल समझता है कि "यह सोता हुआ व्यक्ति श्वास-प्रश्वास ले रहा है" उनके विचारधारा के लिए अनुकूल पडने के कारण भले ही उनके लिए उचित हो, किन्तु विवेचक की दृष्टि मे तो यह उपहासास्पद ही कहा जायगा। इस विवेचन से यह भी अनायास सम्भवत स्पष्ट हो गया होगा कि अन्य दार्शनिक लोग जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के रूप मे इन्द्रियो का तात्त्विक वर्गीकरण मानते है वह उनकी मान्यता विवेचक दृष्टि मे अमान्य है। क्योकि इस विवेचन से यह स्पष्ट ही प्रतिभात हो जाता है कि जिन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहा जाता है वे भी तत्त्वत कर्मेन्द्रिय ही हैं। क्योकि ज्ञान भी एक क्रिया ही है, क्रिया से अतिरिक्त गुण नही।

यहाँ किये गये क्रिया के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो उठता है कि भौतिक परमाणुओ से लेकर विराट् ब्रह्माण्ड तक को, और यदि ब्रह्माण्ड को भी अनेक माना जाय तो उसके एक समष्ट्यात्मक रूप तक को अलग-अलग एक यन्त्र कहा जा सकता है। जिनके अन्दर प्रत्येक मे उक्त स्फुट, अस्फुट और स्फुटास्फुट भाव से क्रियाएँ चलती रहती हैं। अत सभी अलग-अलग एक-एक यन्त्र हैं। क्योकि गम्भीर भाव से विचार करने पर उक्त त्रिविध क्रियाओ के आधार का ही नाम यन्त्र होता है। चिन्तनपूर्वक दृष्टि डालने पर यह अवश्य विवेचियो को प्रतीत होगा कि कभी कोई भी वस्तु निष्क्रिय होती नही। परन्तु साथ ही यह भी नही भूलना चाहिए कि यह क्रिया भी तत्त्वत तात्त्विक भूत से अतिरिक्त और कुछ नही हो सकती। क्योकि उसके आश्रय रूप से प्रतीत होने वाले भूत की परिस्थितिविशेष के अतिरिक्त उसे और क्या कहा जा सकता ? जिन्हे सर्वमान्य रूप मे "यन्त्र" कहा जाता

विलकुल स्थान पाती नही। क्योकि यह वात स्पष्ट वतलायी जा चुकी है कि इस सिद्धान्त मे ज्ञान भी क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नही है। जो लोग चेतन और जड को अत्यन्त भिन्न मानते है वे भी चेतनात्मक ज्ञान को महत्ता अवश्य ही इमीलिए देंगे कि आन्तर एव वाह्य मारी सुशृखल क्रियाएँ उसी के कारण प्रवृत्त होती है। परन्तु आज इस भूत-वैज्ञानिक विकास के युग मे मानवो की अधिकतर सुशृखल क्रियाओ को यन्त्रो ने अपने हाथो मे ले लिया है। अत उन यान्त्रिक सुशृखल क्रियाओ के मूल मे होने वाले उसके प्राथमिक सुव्यवस्थित एव सुव्यवस्थापक चलन को प्राणिगत चेतना से कम महत्त्व कैसे दिया जा सकता ? सुशृखल अतएव सफल क्रियाओ के मूलभूत क्रिया को ही चेतना मान लेने पर सुशृखल क्रियाओ के प्रति मूलभूत यान्त्रिक प्राथमिक क्रिया को भी चेतना क्यो नही कहा जा सकता ?

इस प्रकार जड और चेतनगत पारस्परिक भेद के निराकरण के अनन्तर एव प्रत्येक सुव्यवस्थित क्रियाशील वस्तु को यन्त्र मान लेने पर प्राणि-शरीर को भी एक प्रकार यन्त्र ही मानना होगा। इसीलिए कर्मठ व्यक्ति की प्रशसा करते हुए लोग यह कहते हुए पाये जाते है कि "आप तो विल्कुल यन्त्र वन गये है"। निष्काम कर्म की वडी महत्ता जगह-जगह पर वतलायी गयी है, और है भी वह सचमुच महत्त्वशील वस्तु। परन्तु वह निष्काम कर्म तभी सम्भव हो सकता है जव कि मानव-शरीर को एक यन्त्र मान लिया जाय। जव कि एक तरह की भी अनेक क्रियाएँ एक नही हो सकती है तव प्राणि-शरीरगत चेतनात्मक क्रिया एव गमन आदि स्वरूप सारी चेष्टात्मक क्रियाएँ एक ही है अथवा प्राणि-शरीरगत चेतना तथा अन्य गमन आदि क्रियाएँ एव प्राणि शरीर से भिन्न भौतिक यन्त्रगत क्रियाएँ एक ही हैं, अथवा सर्वथा एक ही तरह की है, कहने का यह अभिप्राय नही है। कहना यह है कि चेतना एव अन्य क्रियाओ मे उतना अन्तर नही है जितना लोग समझते है और उस अपने समझने के आधार पर जड और चेतन के वीच इतना दूरत्व उपस्थित कर देते है कि माना शरीर को आत्मा अर्थात् चेतन माना ही नही जा सकता। अत चार्वाकीय प्रत्यक्ष-प्रक्रिया यह सिद्ध होती है कि विभिन्न विषयो के लिए नियत स्थान पर विषय की ओर से सम्बन्ध प्राप्त होने पर ज्ञानेन्द्रियात्मक सूत्र के द्वारा उस विषय का सम्पर्क शरीर के ही अवयवभूत मन तक हो जाता है जिसकी विलक्षण क्रियाशीलता के कारण शरीर मे चेतनात्मक क्रिया उत्पन्न हो जाती है। यदि वह चेतना सापेक्षता को भी विषय करती है तो कहलाती है इच्छा। और उसके अनन्तर आन्तर उन्मुखता स्वरूप प्रवृत्ति का उदय उन वहिर्मुखसूत्रो मे होता है जिसके फलस्वरूप हाथ-पाँव आदि मे फलानुकूल क्रिया हो उठती है। उक्त प्रवृत्ति को ही अपर शब्दो मे प्रयत्न कृति इत्यादि कहा जाता है। और हाथ-पाँव आदिगत क्रिया को ही शब्दान्तर मे चेष्टा भी कहा जाता है। उक्त ज्ञान की प्रक्रिया सभी ज्ञाता के उदय-स्थल मे एक-जैसी ही होती है। इसीलिए इस चार्वाकीय-सिद्धान्त मे अनुमिति आदि

ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ही माना जाता है। सम्भव है कि यहाँ कुछ लोगो को यह जिज्ञासा हो कि अनमिति को भी प्रत्यक्ष मानने पर अपरोक्षगत अनुभूयमान स्पष्टता और परोक्षगत अनुभूयमान अस्पष्टता का कारण क्या दिखलाया जा सकता ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उक्त मन कम्पन से होने वाली चेतना जब कि धूमात्मक हेतु को अपना विषय बनाते समय धूमगत आग की उक्त प्रकार व्याप्ति को भी विषय करती है तब मन केन्द्र मे ही कम्पन होकर आग को भी विषय करने वाली चेतनात्मक क्रिया उदित हो जाती है यह चेतना-आत्मक क्रिया जो कि अन्य चेतना-आत्मक क्रिया से स्वरूप मे कोई अन्तर न रखने के कारण होती है तत्त्वत प्रत्यक्ष ही। किन्तु उसके अव्यवहित होने वाली मनस्-गतक्रिया यत व्याप्ति को भी विपय करती है अत वहाँ की शरीरात्मगत क्रिया अनुमिति कहलाती है। तत्त्वत वहाँ की भी वह चेतना-आत्मक क्रिया होती है प्रत्यक्ष ही।

यह इसलिए भी उचित प्रतीत होगा कि "अनुमिति" शब्द और "अन्वीक्षा" शब्द इन दोनो शब्दो को विवेचको ने समानार्थक माना है। वह समानार्थकता तभी बन सकती है जब कि अनुमिति को भी प्रत्यक्ष माना जाय। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने[१०२] आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओ की चर्चा करते हुए आन्वीक्षिकी शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि "फिर देखने को कहा जाता है अन्वीक्षा, और उसे लेकर चलने वाली विद्या कहलाती है आन्वीक्षिकी। इसी अन्वीक्षिकी को न्याय-विद्या तथा न्यायशास्त्र भी कहा जाता है" भाष्यकार की यह आन्वीक्षिकी शब्द की व्याख्या इस निर्णय मे बहुत साहाय्य पहुचा रही है कि अनुमिति भी प्रत्यक्ष ही है, प्रत्यक्ष से अतिरिक्त स्वतन्त्र एक प्रमिति नही। क्योंकि ईक्षति, ईक्षण और ईक्षा ये शब्द भी पर्याय है। ईक्ष धातु का अर्थ देखना ही है और देखना प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और कुछ हो नही सकता। सस्कृत मे "ईक्षते" इस क्रियापद का प्रयोग "देख रहा है" इसी अर्थ मे होता हुआ पाया जाता है। न्याय अनुमान, नीति अनुमिति आदि शब्द भी एक ही अर्थ के बोधक रूप मे प्रयुक्त होते हुए पाये जाते है। ऐसी परिस्थिति मे कैसे अनुमिति को प्रत्यक्ष नही माना जा सकता ? ईक्ष धातु का अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान क्यो और कैसे माना जाय ? यह जिज्ञासा यदि किसी के हृदय मे उदित हो तो उसकी शान्ति यो करनी चाहिए कि उपनिषद् मे जहा यह कहा गया है कि "उस ब्रह्म ने ईक्षण किया" वहा अवश्य ही यह मानना होगा कि उस [illegible] यही है कि "ब्रह्म ने देखा"। देखना साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्ष

(१०२) इमास्तु चतस्रो विद्या पृथक्प्रस्थाना प्राणभृतामनुग्रहायेहोपदिश्यते। यासा चतुर्थीयमान्वीक्षिकी। न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।
—न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य।

को ही कहा जाता है। और दूसरी वात यह कि जो लोग अनुमिति आदि को परोक्ष ज्ञान मानते और ब्रह्म या ईश्वर की भी भौतिक सत्ता से अतिरिक्त एक स्वतन्त्र सत्ता मानते वे भी ब्रह्म या ईश्वर को होने वाले जागतिक वस्तुविपयक ज्ञान को परोक्ष नही अपरोक्ष ही मानते हैं। ऐसी परिस्थिति मे अन्वीक्षा, वीक्षा, अन्वीक्षण, वीक्षण, आन्वीक्षिकी आदि शब्द के प्रयोगस्थल मे ईक्ष का अर्थ प्रत्यक्ष ही है। न्याय को अन्वीक्षा और आन्वीक्षिकी को न्यायविद्या स्वय वात्स्यायन उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र आदि नैयायिक मूर्द्धन्यो ने कहा है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनुमिति भी प्रत्यक्ष ही है उससे अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र प्रमिति नही। इस प्रकार अनुमिति की प्रत्यक्षता सिद्ध हो जाने पर उपमिति और अर्थापत्ति ये दो प्रमितियाँ भी फलत प्रत्यक्ष के अन्दर गतार्थ हो जाती हैं। उनका भी स्वतन्त्र अस्तित्व रह पाता नही। और इस चार्वाकीय-सिद्धान्त को तो वौद्ध वैशेषिक और साङ्ख्य इन दार्शनिको का भी सहयोग प्राप्त होता है। क्योकि इन दार्शनिको ने अपनी-अपनी युक्तियो के द्वारा यह सिद्ध कर दिखलाया है कि उपमिति और अर्थापत्ति अनुमिति से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र प्रमिति नही हैं। चार्वाकीय-सिद्धान्त जव कि उस अनुमिति को भी उक्ति युक्ति से प्रत्यक्ष सिद्ध कर देता है तव अनायास उपमिति और अर्थापत्ति भी जिन्हे कुछ दार्शनिक स्वतन्त्र प्रमिति मानते है प्रत्यक्ष प्रमिति के अन्दर ही गतार्थ हो जाती है। अव रही वात आनुपलब्धिक प्रमिति और शाब्दवोध की। तो इन दोनो के अन्दर आनुपलब्धिक अभाव-प्रतीति की प्रत्यक्षता मे नैयायिको का और शाब्दवोध की प्रत्यक्षता मे अद्वैत-वेदान्तियो का पूर्ण साहाय्य चार्वाकीय-सिद्धान्त को प्राप्त होता है। आनुपलब्धिक अभाव-प्रतीति किस प्रकार प्रत्यक्ष ही है इसका विस्तृत विवरण न्यायमतीय प्रत्यक्ष विचार के अवसर पर दिया जा चुका है। और वेदान्त-सिद्धान्त के विहित प्रात्यक्षिक विवेचन के अवसर पर यह भी वतलाया जा चुका है कि वेदान्ती लोग किस प्रकार "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यो से साक्षात्कारात्मक ज्ञान मानते हैं। परन्तु यहाँ उससे अन्तर होगा प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे। अभाव की आनुपलब्धिक प्रतीति स्थल मे किसी भाव से रहित किसी भी वस्तु का प्रभाव आँख आदि इन्द्रिय सूत्र के वाह्य मूल स्थान पर पडने पर इन्द्रियसूत्र मे कम्पन होकर मन केन्द्र मे भी तदनुरूप कम्पन हो उठता है जिसके फलस्वरूप शरीरात्मा मे उक्त राहित्यस्वरूप अभाव का चेतना-आत्मक क्रिया हो जाती है। अभाव का परिचय हो जाता है। और शाब्दवोध स्थल मे वाक्य से उसके अर्थ का वोध इस प्रकार होता है कि नैयायिको के कथनानुसार कर्ण-छिद्र मे उत्पन्न होने वाले शब्द के कारण श्रोत्रसूत्र कम्पनशील हो उठता है जिससे मन केन्द्र मे भी चलन होता है उससे शरीरात्मा मे चेतनास्वरूप क्रिया उत्पन्न हो जाती है। उसी चेतनास्वरूप क्रिया को शाब्दवोध कहा जाता है। यहा अन्य वोध से अन्तर यह होता है कि उक्त मनस् के चलन के साथ शाब्दवोध के लिए

कैसे मान्य कही जा सकती ? क्योकि किसी एक घडे को देख कर सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष के सहारे दृष्ट-अदृष्ट, अतीत-अनागत, व्यवहित, विप्रकृष्ट सारे घडो को प्रत्यक्ष रूप से समझा जाता है ऐसा नैयायिक लोग मानते है यह बात भली-भाँति पहले बतलायी जा चुकी है। ऐसी परिस्थिति मे नैयायिको को यह मानना ही होगा कि सर्वत्र प्रत्यक्ष स्थल मे विषय की वर्तमानता अपेक्षित होती नही। और द्रष्टा व्यक्ति तथा द्रष्टव्य वस्तु इन दोनो का अव्यवधान भी अपेक्षित होता नही। ज्ञानलक्षणा की मान्यता तो इन्द्रिय के विषय नियम को भी काट डालती है। क्योकि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के अभ्युपगन्ता नैयायिक लोग "यह पुष्प सुगन्धित है" इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थल मे आँख से सुगन्ध का भी प्रत्यक्ष मानते है। फिर प्रत्यक्ष के लिए विषय की सर्वत्र वर्तमानता की अपेक्षा बतलाकर अनुमिति आदि ज्ञानो को अप्रत्यक्ष अर्थात् परोक्ष मानना कैसे सगत कहा जा सकता ?

किये गये उक्त प्रकार विवेचन के आधार पर स्मरण को भी प्रत्यक्ष ही समझना चाहिए। क्योकि अनुमिति, प्रत्यक्ष आदि की तरह—मनस् और शरीरात्मा की ही अपेक्षा स्मृति के लिए भी प्रधान रूप से होती है। यदि यह कहा जाय कि स्मृति और अनुभव मे अन्तर की प्रतीति क्यो होती है ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि स्मृति मे पूर्व काल एव नियमत व्यवहित देश का भी विषयीकरण होता है और अनुभव स्थल मे यह नियम लागू नही होता। इसीलिए दोनो ज्ञानो मे अन्तर प्रतीत होता है किन्तु इसलिए वैसा अन्तर नही प्रतीत होता है कि स्मरण प्रत्यक्ष नही है। स्मरण की प्रक्रिया आन्तर सुख-दुख आदि के अनुभव की प्रक्रिया से मिलती-जुलती होती है। अन्तर यह होता कि सुख-दुख आदि के अनुभवस्थल मे स्मरणस्थल के समान काल एव आधार का विषयीकरण होता नही और जब आन्तर सुख-दुख आदि का भी स्मरण होता है तब वहाँ अतीत काल एव दूर देश का भी विषयीकरण होता ही है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठ खडा हो सकता है कि इस भूताद्वैत-सिद्धान्त मे जब कि प्रत्यक्ष को ही केवल ज्ञान माना जाता है। सारे ज्ञानो को प्रत्यक्ष के अन्दर ही गतार्थ किया जा रहा है और यह भी पहले बारम्बार कहा गया है कि यह दर्शन दाण्डिक-दर्शन है तो इसका परिणाम यह होना चाहिए कि दण्डक्षेत्र मे जो प्रत्यक्ष को महत्ता दी जाती है वह उसे प्राप्त नही होनी चाहिए। दण्डक्षेत्र मे साक्षी जब यह कहता है कि मैने प्रत्यक्षत इस घटना को देखा है तभी उसके आधार पर न्यायाधीश दण्ड का विधान करता है। यदि साक्षी यह कहे कि मैने इस घटना को देखा नही किन्तु अमुक हेतु से अनुमान किया, अथवा यह कहे कि मैने अमुक व्यक्ति से इसे सुना तो उस साक्षी के साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त को न्यायाधीश दोषी मानता नही, अपराधी स्थिर करके उसके लिए दण्डविधान करता नही। ऐसी परिस्थिति की विद्यमानता मे यदि अनुमिति आदि परोक्ष ज्ञानो को भी

चर्चा वेद मे की गयी है। मध्यचर्चित क्रिया को आगे और पीछे दोनो ओर चर्चित क्रिया का अङ्ग माना गया है। मीमासको ने सन्दश न्याय उपस्थित करते हुए यह बतलाया है कि दोनो ओर होने वाली एक ही क्रिया की दो चर्चाएँ सँडसी के दाँत के समान है अत उनके बीच होने वाली क्रिया की चर्चा स्वतन्त्र नही बन सकती। उस मध्यवर्ती अन्य क्रियाचर्चा को भी दोनो ओर हुई क्रियाचर्चा का अङ्ग ही मानना होगा। इसलिए मध्यचर्चित क्रिया अगल और बगल दोनो ओर चर्चित क्रिया का ही अग है। साधारण जन-निर्णय भी इस सन्दश न्याय से कम काम नही लेता है। उदाहरण के लिए किसी भी लौकिक क्रिया को लिया जा सकता है। पाकार्थ प्रवृत्त व्यक्ति की पाक-क्रिया के बीच होने वाली सारी विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ इसी न्याय से पाक-क्रिया के अग बनती है और समझी जाती है। अत इसके अनुसार भी अनुमिति आदि को प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। क्योकि न्यायदर्शन के प्रवर्त्तक अक्षपाद गौतम ने अपने सूत्र मे यह कहा है कि सारे ज्ञान प्रत्यक्षपूर्वक होते है और उनके सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने यह कहा है कि सारी प्रमितियाँ "प्रत्यक्ष पर है" अर्थात् प्रत्यक्ष सबके पीछे है। इसी बात को फिर उन्होने स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि "किसी भी वस्तु को प्रत्यक्ष रूप मे देख लेने पर जिज्ञासु व्यक्ति की जिज्ञासा सर्वथा निवृत्त हो जाती है। नैयायिको के अनुव्यवसाय ज्ञान की मान्यता की ओर ध्यान देने पर भी यह बात सिद्ध होती है कि किसी भी वस्तु का अन्तिम निर्णय प्रत्यक्ष से ही होता है। क्योकि अनु-व्यवसाय ज्ञान के अन्दर जिसे कि नियमत न्याय-सिद्धान्त मे मानस-प्रत्यक्ष रूप मे ही मान्यता दी जाती है ज्ञान की तरह ज्ञान के नियम का भी पुनर्विपयीकरण होता है। अनुमिति आदि को स्वतन्त्र प्रमिति मानने वालो की दृष्टि मे भी अनुमिति आदि ज्ञान के अनन्तर विपयसहित अनुमिति को विपय करने वाला अनुव्यवसाय मान्य होता है। ऐसी परिस्थिति मे यह मानना ही होगा कि ससार के अन्दर ऐसी कोई भी वस्तु नही दिखलायी जा सकती जिसका मानस-प्रत्यक्ष मान्य न हो। न्यायमत मे यह भी नही कहा जा सकता कि मन इद्रिय नही है। उक्त अनुव्यवसाय ज्ञान नियमत व्यवसाय-ज्ञान के अव्यवहित उत्तर क्षण मे ही होता है और होता ही है। अत यह भी नही कहा जा सकता कि "अनुव्यवसाय ज्ञान अनुमिति आदि पूर्वज्ञान के विपय को अपना भी विपय भले ही बनावे किन्तु वह ज्ञान-प्रवर्त्तक होता नही, इसलिए उसे प्रमाण भी नही मानना चाहिए'। क्योकि द्वितीय वार विपय का विपयीकरण अनुव्यवसाय-ज्ञान के द्वारा ही होने के कारण अनुव्यवसाय ज्ञान को व्यवसाय ज्ञान की अपेक्षा और भी अधिक पुष्ट मानना उचित होगा। ऐसी परिस्थिति मे उसे अप्रवर्त्तक नही कहा जा सकता। वरन् प्रवृत्ति के प्रति अव्यवधान-घटित कारणता उसीमे सम्भव होगी, और यह भी नहीं

नियम नही है कि प्रवर्त्तक ज्ञान ही प्रमा हो। अन्यथा इतिहास के अध्ययन स्थल मे ज्ञान प्रमा नही कहला पायगा, जो कि उचित नही।

"अव्यवधान घटित कारणता" का अभिप्राय यह है कि अव्यवहित पूर्व क्षण मे जिसके रहे विना जो कार्य न हो वह उसके प्रति कारण माना जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि कारण का कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण मे रहना आवश्यक है तदनुसार प्रवृत्तिकारणीभूत इच्छा के अव्यवहित पूर्वक्षण मे अनुव्यवसाय ही रहेगा, व्यवसाय नही। अत प्रवर्त्तक ज्ञान अनुव्यवसाय को ही मानना उचित है, व्यवसाय को नही। अनुमिति की तरह शाब्द-वोध के भी अव्यवहित उत्तर क्षण मे अनुव्यवसाय होता ही है जो लोग अन्य भी अर्थापत्ति आदि प्रमिति मानते हैं उनके मत मे उन प्रमितियो के अव्यवहित उत्तर क्षण मे तदनुरूप अनुव्यवसाय ज्ञान मान्य होता ही है। सभी प्रकार के व्यवसाय ज्ञान स्थल मे उनके विपयो का मानस प्रत्यक्ष मानना ही होगा। इस दृष्टिकोण से फलत नैयायिक मत मे भी प्रत्यक्षमात्र को प्रामाण्य अर्थात् विषय प्रकाशकता की मान्यता उचित प्रतीत होती है।

मीमासको के अन्दर प्रभाकर का सम्प्रदाय व्यवसाय और अनुव्यवसाय इन दोनो ज्ञानो को मिलाकर एक ज्ञान सभी प्रकार की मान्य प्रमितियो के अवव्यहित उत्तर क्षण मे मानता ही है। जिसकी चर्चा मीमासकमतीय प्रत्यक्ष-विवेचन के अवसर पर विशद रूप से की जा चुकी है। अत प्रभाकर मत मे भी नैयायिको के लिए कथित युक्ति के अनुसार यही उचित होगा कि सर्वत्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाय।

वेदान्त मत मे भी वस्तुत प्रत्यक्ष से ही विषय का प्रकाशन माना जाता है। यहाँ तक कि अन्त करण और उसकी विपयाकार वृत्ति का भी उपयोग वेदान्ती लोग वस्तु के प्रकाशन में मानते नही। उसका उपयोग केवल प्रकाशात्मक चैतन्य और द्रष्टव्य विषय के बीच पडे हुए अविद्या-पट के अपसारण अथवा विनाश में ही वेदान्ती लोग मानते हैं। विपय के प्रकाशन मे वाधक होने वाले अज्ञानात्मक आवरण के भग में ही अन्त करण की वृत्ति का उपयोग स्वीकार करते हैं, विषय के प्रकाशन मे नही। वेदान्तियो से जब यह पूछा जाता है कि प्रत्यक्ष क्या है तो वे कहते है कि चैतन्यात्मक प्रकाश ही प्रत्यक्ष है। जब कि प्रत्येक विपय का प्रकाशन वे चैतन्यात्मक प्रकाश से ही मानते है और चैतन्य को ही प्रत्यक्ष रूप मे स्वीकार करते है। तव कैसे कोई यह कह सकता है कि वेदान्ती-लोग प्रत्यक्ष को ही सचमुच प्रमाण नही मानते? क्योकि प्रकाशक ही होता है प्रमाण इस बात से सभी दार्शनिक, सभी विवेचक, सहमत हैं। कोई भी इस बात से असहमत कैसे हो सकता?

यद्यपि वेदान्तियो ने अनुमिति आदि प्रमितियो के निजी विवेचन के अवसर पर यहाँ तक विवेचन नही किया है, जैसा कि उन्हे करना चाहिए था कि वहाँ भी अज्ञान विषय का प्रकाशन चैतन्यात्मक प्रत्यक्ष से ही होता है। परन्तु गहराई मे जाकर उनसे पूछने पर उन्हें

यही कहना होगा। साराश यह कि अनुमेय विषय का प्रकाशन तुम किससे मानते हो ? विषयाकार अन्त करण की वृत्ति से या उस वृत्ति मे प्रतिबिम्बित होने वाले चैतन्यात्मक प्रत्यक्ष मे ? वेदान्तियो से यह पूछने पर यदि वे कहे कि विषयाकार अन्त करण की वृत्ति मे ही अनुमिति आदि परोक्षज्ञान स्थल मे विषय का प्रकाशन हो जाता है वृत्ति प्रतिबिम्बित, चैतन्य से नही, तो उनके लिए इसका उत्तर देना कठिन हो आयगा कि तब इन्द्रियद्वारक वृत्ति स्थल मे भी विषयाकार अन्त करण वृत्ति मात्र से ही क्यो नही विषय का प्रकाशन हो जाता है ? वृत्ति-प्रतिबिम्बित-चैतन्य से विषय का प्रकाशन क्यो मान्य हे ? और यदि वे यह कहे कि अनुमिति आदि परोक्ष स्थल मे भी अन्त करण की वृत्ति मात्र मे विषय का प्रकाशन नही होता, किन्तु उस वृत्ति मे प्रतिबिम्बित चैतन्य से ही विषय का प्रकाशन होता है, तब वे यह नही कह सकते कि सर्वत्र प्रत्यक्ष से ही विषय का प्रकाशन होता नही। क्योकि परोक्ष और अपरोक्ष सभी प्रकार के ज्ञान स्थलो मे फलत वे स्वमत-सिद्ध चैतन्यात्मक प्रत्यक्ष को ही विषय का प्रकाशक मान बैठे रहेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि वेदान्ती-लोग अनुमिति से विषय के प्रकाशन-स्थल मे अनुमिति किसे मानेगे ? पक्षात्मक धर्मी मे व्याप्यभूत-हेतु-ज्ञानमूलक साध्याकार-अन्त करण-वृत्ति को या उसमे प्रतिबिम्बित चैतन्यात्मक प्रत्यक्ष को ? यदि वेदान्ती लोग उक्त अन्त करण की वृत्ति को ही अनुमिति कहे तो वृत्यात्मक जड से ही जड का प्रकाशन उनके लिए मान्य हो जायगा। जिसका कुफल उनके लिए यह होगा कि उन्हे रूपान्तर मे चार्वाक-सिद्धान्त को मान्यता देनी होगी। उनके लिए अपसिद्धान्त दुर्निवार हो उठेगा। और यदि वे अग्नि आदि आकारक अन्त करण की वृत्ति को ही अनुमिति न मान कर उसमे प्रतिबिंबित चैतन्य को वे अनुमिति कहे तो स्वय उन्हे मानना पडेगा कि अनुमिति भी फलत प्रत्यक्ष ही है। रही यह बात कि तब परोक्ष और अपरोक्ष की परिभाषा अलग किस प्रकार की जाय ? तो उसके लिए वृत्ति की इन्द्रियद्वारकता एव आगन्तुक चैतन्याभेद को ही विभिन्न परिभाषाओ के निर्णायक मापदण्ड रूप मे उन्हे कहना होगा। जिसकी विस्तृत आलोचना वेदान्तसम्मत प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के विवेचन के अवसर पर की जा चुकी है। अत विचारपूवक देखने पर वेदान्तसिद्धान्त भी प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मान सकता है औरो को नही।

सांख्य-सिद्धान्त की ज्ञान सम्बन्धी मान्यता की ओर ध्यान देने पर वहाँ भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति देखने को मिलती है। क्योकि वहाँ भी निश्चयात्मक निर्णय का भार बुद्धितत्त्व [१०३] के ऊपर ही न्यस्त है। वह निश्चय किसी भी प्रकार का क्या

(१०३) अध्यवसायो बुद्धि • • • • साख्यकारिका।२३।

अध्यवसाय इति। "अध्यवसायो बुद्धि" क्रियाक्रियावतोरवभेदविवक्षया।

—साख्यतत्त्व कौमुदी।

न हो उसका सम्पादन करने का भार बुद्धितत्त्व को ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षात्मक निश्चय जैसे बुद्धितत्त्व का ही कृत्य है अनुमित्यात्मक निश्चय और शाब्दात्मक निश्चय भी उसीका कृत्य है। साथ ही साख्यसिद्धान्त धर्म और धर्मी इन दोनो को अभिन्न तत्त्व समझता है। ऐसी परिस्थिति मे परोक्ष कहे जाने वाले एव अपरोक्ष कहे जाने वाले सभी निश्चय अपने आश्रयभूत बुद्धितत्त्व-केन्द्र मे जाकर एक ही हो जाते है। साराश यह कि विवेचकीय तात्त्विक दृष्टि मे क्या प्रत्यक्षात्मक क्या अनुमित्यात्मक निश्चय और क्या आगमात्मक निश्चय सभी तत्त्वत एक ही है। साख्यशास्त्री यदि साख्य शास्त्र के इस सिद्धान्त से डिगें नही, इस पर अटल रहें तो उन्हे मानना ही होगा कि निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। सुतरा प्रत्यक्षात्मक निश्चय ही प्रमिति है यह भी उन्हें मानना ही होगा। फलत प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है यह चार्वाकीय-सिद्धान्त साख्यसिद्धात से पुष्ट होता है। साख्य का सिद्धान्त चार्वाकीय-सिद्धान्त के और अधिक निकट इसलिए देखा जाता है कि विषय का प्रकाशक ज्ञान उसके सिद्धान्त मे प्राकृत अन्त करण का ही धर्म माना जाता है। साथ ही धर्म और धर्मी की अभिन्नता की मान्यता के कारण विषय का प्रकाश-ज्ञान जिसे वे जड कहते उसीके पेट मे समा जाता है, अलग उससे बाहर स्थान पाता नही। सम्भव है, यहाँ साख्य की ओर से कुछ लोग यह कहे कि साख्य ज्ञान को जड का धर्म तो मानता है सही। क्योकि आत्मा को प्रकाशक मानने पर भी उसमे कर्त्तृत्व के सस्पर्श का उन्हे भय उपस्थित होता है। परन्तु फिर भी साख्यसिद्धान्त मे चार्वाकीयसिद्धान्त से महान् अन्तर यह पाया जायेगा कि चार्वाक ज्ञान को भूत-धर्म फलत भूत से अभिन्न मानता है। किन्तु साख्यसिद्धान्त ऐसा मानता नही क्योकि बुद्धि-तत्त्व, जो कि प्रकृति की सर्वप्रथम परिणति होती है, वह भूत नही है। क्योकि वहाँ बुद्धितत्त्व के प्रथम परिणाम अहकार के परिणाम माने जाते हैं सारे भूत। अत साख्यसिद्धान्त मे ज्ञान को भूत-धर्म नहीं कहा जा सकता। प्रकृत चार्वाक-सिद्धान्त की ओर से इस पर यह भलीभाँति कहा जा सकता है कि गम्भीर-भाव से विचार करने पर यह कथन भी साख्यशास्त्रियो का ठिक नही पायेगा। क्योकि साख्य है पक्का सत्कार्यवादी। उसकी दृष्टि मे बिलकुल नया आरम्भ कोई हो ही नही सकता। अत यह उसे मानना ही होगा कि मूल-प्रकृति के गर्भ मे जो नहीं होगा वह उसके साक्षात् या परम्परा से होने वाले किसी भी परिणाम मे नहीं हो सकता। और जो उस मूल प्रकृति के अन्दर होगा वह उसके साक्षात् एव परम्परा से होने वाले प्रत्येक परिणाम मे होगा ही। ऐसा नही हो सकता कि उसकी परिणाम-धारा के किसी भी सदस्य मे वह न हो जो कि प्रकृति मे विद्यमान हो। ऐसी परिस्थिति मे निश्चयात्मक-बुद्धिधर्म का अस्तित्व मूल-प्रकृति मे तथा बुद्धितत्त्व की परिणाम-धारा

के प्रत्येक सदस्य मे भी अवश्य होगा। साक्षात् नही अहकार के द्वारा ही सही, भूततत्त्व आखिर परिणाम तो होगा उसी बुद्धितत्त्व का या मूलत उस मूलप्रकृति का ? ऐसी परिस्थिति मे साख्यसिद्धान्ती लोग कैसे भूततत्त्व को चेतनावान् अपने सिद्धान्त के अनुसार नही मानेंगे ?

यदि साख्य की ओर से इस पर यह कहा जाय कि ज्ञान सत्त्वगुण का परिणाम है तमोगुण का नही। साख्यसिद्धान्त के अनुसार भूत की सृष्टि अहकार के तमस् अश से होता है। इसीलिए भूत मे ज्ञान साख्यसिद्धान्त के अनुसार स्थिर नही किया जा सकता। तो यह भी कथन इसलिए उनका अनायास कट जाता है कि वे सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनो गुणो को सर्वथा अविनाभूत मानते हैं। उक्त तीनो गुणो के अन्दर कोई भी एक अपर दोनो को छोड कभी-किसी प्रकार रह नही सकता। सुतरा अहकार के केवल तमस् अश से भूत की उत्पत्ति होती है यह वे कभी नही कह सकते। ऐसी परिस्थिति मे भूत-व्यजक अहकार के अश मे अपेक्षाकृत सत्त्व की मात्रा अल्प भले ही हो और उस अल्पता के कारण भूत मे ज्ञान की मात्रा की अल्पता भले ही कही जाय साख्यसिद्धान्तियो की ओर से, परन्तु इस प्रकार भूत मे ज्ञान का अत्यन्त अपलाप नही किया जा सकता कि "भूत" सर्वथा निर्ज्ञान है। साधारणतया भूत मे चार्वाक-सिद्धान्त भी अस्फुट चैतन्य ही मानता है स्फुट चैतन्य नही। इसलिए साख्य की ओर से यदि भूतगत ज्ञान की मात्रागत अल्पता कही जाय तो इस सम्बन्ध मे चार्वाक-सिद्धान्त विरोध करने के लिए नही उठेगा। क्योकि उसे दिखलाना यही है कि गम्भीर-भाव से विचार करने पर साख्य को भी भूत मे चेतना मान्य है, अमान्य नही। अत इस सम्बन्ध मे साख्य और चार्वाक मतो मे अन्तर इतना ही होता है प्रधानतया, कि साख्यशास्त्री जहाँ मूलतत्त्वारम्भ त्रिगुणात्मक प्रकृति से जिसे अव्यक्त प्रधान आदि शब्दो से भी वे पुकारते हैं, मानते हैं और चार्वाक सिद्धान्त मे वैसा मान्य न होकर भूत से ही तत्त्वारम्भ मान्य होता है।

प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे जैनो का सिद्धान्त जो पहले बतलाया जा चुका है उस पर गम्भीर भाव से दृष्टिपात करने पर वह चार्वाक-सिद्धान्त का अनुकूल-सा इसलिए होता हुआ प्रतीत होता है कि वहाँ भी आत्म-मात्रजन्य-ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना जाता है। ऐसी परिस्थिति मे आत्मा को यदि भूतात्मा सिद्ध कर दिया जाय तो चार्वाक-सिद्धान्त उसके लिए अवश्य निकट हो जायगा।

प्रत्यक्ष प्रक्रिया के सम्बन्ध मे शैव-सिद्धान्त चार्वाक सिद्धान्त के निकट

शैव सिद्धान्त की विवेचना करने पर वह चार्वाक सिद्धान्त का प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे अति निकटवर्ती इसलिए प्रतीत होगा कि वह जब चित्प्रत्यक्ष को ही वास्तविक प्रत्यक्ष मानता

है तो उस मत मे भी फलत केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण रह जाता है। चित्प्रत्यक्ष को वे लोग इन्द्रिय और मन इन दोनो के अन्दर किसी की भी बिलकुल अपेक्षा न रखने वाला मानते है। तदनुसार अनुमिति आदि स्थल भी चित्प्रत्यक्ष से अवश्य आक्रान्त होगा। इसलिए जिस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष शैव सिद्धान्त मे गौण रूप से ही प्रत्यक्ष कहलाता है मुख्य रूप मे नही, उसी प्रकार अनुमिति आदि को भी मुख्यतया प्रमाण रूप से मान्य नही कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति मे चार्वाकसम्मत प्रत्यक्ष-मात्र-प्रमाणता शैव-सिद्धान्त मे भी मान्य दीख पडती है। चार्वाक-सिद्धान्त को प्रतिवाद, शैवो के उस कथन का, विशेष रूप से करना है, जिसके द्वारा उन्होने यह स्वमत व्यक्त किया है कि "मन भी इन्द्रिय की तरह वस्तुत प्रमा का करण नही है" क्योकि यहाँ जो चार्वाकीय-प्रत्यक्ष की रूपरेखा स्थिर की गयी है, उसमे यह मान्य बतलाया गया है कि मन है सभी ज्ञानो का करण और वह ज्ञान उत्पन्न होता है शरीरात्मा मे।

न्यायदर्शन के जन्मदाता गौतम ने जो सूत्रद्वारा प्रत्यक्ष का लक्षण यह बतलाया है कि "इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाला भ्रम-भिन्न ज्ञान है "प्रत्यक्ष", उससे भी चार्वाकीय इस मत की पुष्टि होती है कि प्रमित्यात्मक ज्ञान ही है प्रमाण। क्योकि विषय का प्रकाशन अर्थात् विषयीकरण उस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से ही होता है। यद्यपि मिश्र वाचस्पति ने "यत " इस पद का सूत्र मे अध्याहार मान कर यह स्थिर किया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमा है, प्रमाण नही। अत प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय या उसके सन्निकर्ष को मानना चाहिए। परन्तु यह उनका कथन प्रमा को प्रमाण का कार्य मानने के आधार पर आधारित है। भाष्यकार वात्स्यायन ने यद्यपि इन्द्रिय और द्रष्टव्य विषय इन दोनो के बीच होने वाले सन्निकर्ष को भी मतभेद से प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है किन्तु फिर भी वे गौतम की सौत्र-सम्मति की ओर से बिलकुल अपना मुँह मोड नही सके। इसलिए उन्होने कहा कि हान बुद्धि, उपादान बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि को यदि प्रमा माना जाय तो विषय के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए। सुतरा विचारपूर्वक देखने पर प्रत्यक्ष मात्र ही एक प्रमिति मानी जानी चाहिए और उसे ही एक मात्र प्रमाण मानना चाहिए। भाष्यकार वात्स्यायन ने न्यायदर्शन के भाष्यारम्भ मे जो यह कहा है कि "प्रमाण से अर्थ निश्चय

(१०४) सर्वग्राहक किञ्चित् प्रमाणमेष्टव्यम्। तच्चिच्छाक्तिरेव। तुदुक्तम्—
न चक्षु शब्दसम्वित्तौ न श्रोत्र रूपवेदेने।
सर्वत्र ग्राहिका सम्वित् सैव मान मतो मतम्। —शैव परिभाषा।

(१०५) इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानयव्यपदेश्यमव्यभिचारि—व्यवसत्यात्मक प्रत्यक्षम्।८। —न्यायदर्शन, अ १ आ १।

के अनन्तर होने वाली प्रवृत्ति की सफलता को देखते हुए यह मानना उचित है कि 'प्रमाण सार्थक ही होता है" उसकी व्याख्या करते हुए मिश्र वाचस्पति ने "प्रमाण सार्थक है" इस अश की व्याख्या यह की है कि "प्रमाण अर्थात् प्रमा, सार्थक है अर्थात् विषय के व्यभिचार से सर्वथा रहित है"। तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र का कहना है कि प्रमा ज्ञान नियमत विद्यमान विषयक ही होता है, यह भाष्यकार वात्स्यायनके उक्त कथन का अभिप्राय है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन नैयायिक-दार्शनिक भी विषय-प्रकाशकता के कारण प्रमिति-ज्ञान को ही प्रमाण मानते थे। उस प्रमा-ज्ञान के प्रति करण होने वाले को प्रमाण गौण रूप से ही मानते थे। इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक मतो का गम्भीरतापूर्वक विवेचन करने पर यही निर्णय प्राप्त होता है कि प्रत्यक्ष ही प्रमा है और वही सचमुच प्रमाण है। प्रशस्तदेव ने 'अपने पदार्थ धर्म सग्रह' मे जो निर्णय के प्रामाण्य का खण्डन किया है उससे भी यह प्रतीत होता है कि उनके भी पूर्ववर्त्ती प्राचीन लोग प्रमिति को ही प्रमाण मानते थे। जिसका स्थापन यहाँ किया जा चुका है।

पचम प्रकरण

चार्वाक-मतानुकूल अप्रमा-विवेचन

यो तो सक्षिप्त रूप मे अप्रमा ज्ञान का विवेचन किया जा चुका है। फिर भी प्रमा के किये गये विस्तृत विवेचन को देखते हुए उसका भी विस्तृत विवेचन अपेक्षित प्रतीत होता है। क्योकि अप्रमा ज्ञान के सम्वन्ध मे भी दार्शनिको के बीच महान् वैमत्य पाया जाता है। अप्रमा के कारण, उसके प्रभेद एव उसकी प्रक्रिया इन सारी बातो मे मतभेद पाया जाता है दार्शनिको के बीच। अन्य सभी दार्शनिक प्राय इस बात से सहमत पाये जाते है कि अप्रमा-ज्ञान किसी-न-किसी दोप की अस्तिता के कारण हुआ करता है। परन्तु चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इसका समर्थन तभी किया जाता है जब कि विषय की अविद्यमानता को भी दोष मान लिया जाय। पहले यह बतलाया जा चुका है कि ज्ञान अप्रमा इसलिए होता है कि आश्रयात्मक भूत के अतिरिक्त विषयात्मक भूत का साहाय्य उस ज्ञान के उदय मे हो पाता नही। इस सिद्धान्त मे भी प्रत्यक्ष के प्रति विषय को उसी प्रकार कारणता मान्य है जिस प्रकार न्याय वैशेषिक और बौद्ध सिद्धान्त मे। अप्रमा-ज्ञान के विभाजन मे मतभेद यह पाया जाता है कि नैयायिक एव वैशेषिक दार्शनिक अप्रमा ज्ञान को सशय, विपर्यय और तर्क इस प्रकार तीन भागो मे विभक्त मानते है। परन्तु मीमासको ने तर्क को ज्ञान रूप न मान कर कथनात्मक, फलत शब्दस्वरूप माना है। अत उनके मत मे तर्क अप्रमा ज्ञान का एक प्रभेद नही मान्य हो पाता। इस चार्वाकीय दृष्टिकोण मे सारे सशय ज्ञान भी अप्रमा के ही प्रभेद नही माने जा सकते जिसका विशदीकरण आगे होगा। मीमासको के अन्दर प्रभाकर का सम्प्रदाय तो सारे ज्ञानो को प्रमात्मक ही मानता है। उनके सिद्धान्त मे कोई भी ज्ञान अप्रमात्मक होता नही। अत विपर्यय जिसे कि अन्य सभी दार्शनिक अप्रमा मानते हैं, प्रभाकर के मत मे अप्रमा न होकर, ज्ञान-द्वयात्मक प्रमास्वरूप ही होता है। इसी प्रकार कोई दार्शनिक यदि विपर्यय-ज्ञान को जिसे भ्रान्ति, भ्रम आदि शब्दो से भी कहा जाता है आत्मख्याति मानता है, तो दूसरा कोई दार्शनिक उसे ही "आत्मख्याति" न मान कर "असत्ख्याति" मानता है। तीसरा कोई दार्शनिक उसी विपर्यय को इन दोनो प्रकार न मान कर "अनिर्वचनीय ख्याति" मानता है तो चौथा कोई विपर्यय का वह भी न मान कर उसके स्थान मे अख्याति मान डालता है। और पाँचवाँ

दार्शनिको का दल अख्याति का भी खण्डन करता हुआ विपर्यय को अन्यथा ख्याति मानता है। इस प्रकार विपर्ययात्मक अप्रमा ज्ञान के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार मतवाद की उपस्थिति के कारण इसके सम्बन्ध मे भी विशेप जिज्ञासा का उदय अस्वाभाविक नही कहा जा सकता एव उस जिज्ञासा के निवृत्त्यर्थ अपेक्षित विस्तृत विवेचन को अनपेक्षित नही कहा जा सकता।

आत्मख्याति और चार्वाक दृष्टि मे उसकी अमान्यता—

कोई रजतार्थी कभी चमकती सीप में "यह चाँदी है" इस प्रकार रजत का ज्ञान कर बैठता है, यह निर्विवाद है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने जीवन मे एक या एकाधिक बार अन्य किसी वस्तु को उससे अन्य रूप मे प्राय देखता ही है। वह देखना भ्रमज्ञान है, उसे ही भ्रान्ति, भूल आदि शब्दो से भी कहा जाता है। इस बात को कुछ अख्यातिवादी प्रभाकर और साख्य आदि को छोड कर और सभी लोग मानते हैं। यहाँ तक कि साधारण जनता भी उसे भ्रम-ज्ञान ही मानती है। उसके सम्बन्ध मे वह इस प्रकार वाक्य-प्रयोग करती है कि "भूल हो गयी" भ्रम हो गया इत्यादि। इस भ्रमात्मक ज्ञानको शून्याद्वतवादी को छोड कर तीनो बौद्ध-दार्शनिक "आत्मख्याति" मानते है। इस "आत्मख्याति" शब्द के अन्दर आत्म-शब्द का अर्थ है धारावाही क्षणिक-विज्ञान और ख्याति शब्द का अर्थ है ज्ञान। इन दार्शनिको का कहना यह है कि सीप को जहाँ चाँदी के रूप मे देखा जाता है वहाँ वह दृश्यमान चाँदी आन्तर क्षणिक-विज्ञान का ही आकार होता है, अत वह वस्तुत वाह्य न होकर आन्तर ही होता है परन्तु देखने वाला उस तत्त्वत आन्तर विज्ञानात्मक चाँदी को वाह्य समझ बैठना है वाहरी वस्तु समझ बैठता है, यही उस द्रष्टा के द्वारा की जाने वाली गलती होती है। इसीलिए उस रजत-दर्शन को भूल माना एव कहा जाता है। देखा जाने वाला रजत तत्त्वत तात्त्विक आन्तर-विज्ञानस्वरूप आत्मा ही होता है। उसीकी ख्याति होती है अर्थात् उस आन्तर क्षणिक-विज्ञानस्वरूप आत्मा का ही ज्ञान होता है। इसलिए सीप मे होने वाली उक्त प्रकार रजत-बुद्धि एव उसके समान होने वाली अन्य सारी बुद्धियो को आत्मख्याति मानना, एव इसी नाम से पुकारना ही उचित है। यहा यद्यपि उक्त प्रकार ज्ञान को उक्त तीनो बौद्ध दार्शनिक आत्मख्याति मानते हैं परन्तु इन वाह्यास्तित्व-वाद का आदर और अनादर के आधार पर अवान्तर मतभेद यह होता है कि वाह्यास्तित्ववादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्ध दार्शनिक, जिनकी सतपरिचयपूर्वक प्रत्यक्ष-प्रक्रिया पहले भी वतलायी जा चुकी है, विज्ञानाकार रजत म वे जिस वाह्यता का आरोप करते हैं वह वाह्यता उनके मत मे आन्तर क्षणिक विज्ञान का आकार होती नही। क्योकि वे आन्तर-क्षणिक-विज्ञान-स्वरूप आत्मा से अतिरिक्त वाह्य

दृश्य जगत् को नैयायिक एव वैशेषिक की तरह ठोस बाह्य वस्तु रूप में स्वीकार करते हैं अत बाह्यवस्तुगत बाह्य भी उनके सिद्धान्त मे तात्त्विक[१०६] बाह्य वस्तु ही होती है। कहने का सरल तात्पर्य यह कि बाह्यास्तित्ववादी उक्त दोनो बौद्धो के मत मे चाँदी मे होने वाली "यह चाँदी है" यह बुद्धि और सीप में होने वाली "यह चाँदी है" यह बुद्धि, इन दोनो बुद्धियो मे अन्तर होता है। दोनो बुद्धियाँ एक तरह की प्रतीत होती हुई भी तत्त्वत एक तरह की होती नही। क्योकि बाजार मे क्रय-विक्रय के लिए रखी हुई चाँदी आन्तर क्षणिक-विज्ञान का आकार मात्र होती नही उसका आन्तर-क्षणिक-विज्ञान स्वरूप आत्मा एव उसके आकारभूत शुक्ति रजत से पृथक् स्वतन्त्र बाह्य अस्तित्व होता है।

क्षणिक-विज्ञान मात्र को तत्त्व मानने वाले योगाचार-साम्प्रदायिक बौद्धो के मत मे किन्तु यह बात होती नही। उनके मत मे चाँदी मे होने वाली "यह चाँदी है" यह रजत बुद्धि और सीप मे होने वाली "यह चाँदी है" यह रजत बुद्धि, इन दोनो मे बिलकुल किसी प्रकार का अन्तर मान्य होता नही। क्योकि इस सम्प्रदाय के मत मे उक्त बाजारू रजत और शुक्ति-रजत मे किसी प्रकार का अन्तर मान्य होता नही। सम्भव है कि इस बात को सुन कर अधिक लोग अत्यन्त आश्चर्यान्वित हो, क्योकि साधारणतया लोगो की दृष्टि मे शुक्ति-रजत और बाजारू रजत मे यह अन्तर स्पष्ट देखा जाता है कि बाजारू चाँदी से पात्र आदि बनाये जा सकते है, बनाये जाते हैं, किन्तु शुक्ति-रजत को कूटा-पीटा जा सकता नही अत उससे पात्र आदि का निर्माण सम्भव नही कहा जा सकता। किन्तु उक्त योगाचार-साम्प्रदायिक बौद्ध विद्वानो के लिए यह बिलकुल आश्चर्य की बात नही होगी। क्योकि उनके मत मे उक्त कूटना-पीटना, पात्र एव उसका बनना सब तो आन्तर-क्षणिक-विज्ञान का ही आकार होगा ? वे कहेंगे यह, कि जहाँ कूटने-पीटने आदि की प्रतीति होगी, यथा स्वप्न मे, तो वहाँ कूट-पीट कर पात्र निर्माण भी होगा ही। अत आश्चर्य का कोई स्थान नही रह जाता। अत सर्वत्र आत्मख्याति ही मान्य है। ये बाह्य रूप से प्रतीत होने वाली वस्तुओ को भी आन्तर विज्ञान मात्र इस युक्ति से सिद्ध करते है कि किसी से किसी को अलग, स्वतन्त्र वस्तु, तभी कहा जा सकता जब कि उन दोनो का पृथक् अस्तित्त्व प्रतीत हो। तो, सो प्रतीत होता नही। ज्ञाता व्यक्ति के निकट, बाह्य वस्तुएँ, जिन्हे बाह्यास्तित्ववादी बौद्ध एव अन्य लोग विज्ञान से पृथक् अस्तित्वशील मानते है ज्ञाता व्यक्ति के निकट जब उपस्थित होती है, उनके मन मे आती है, तब ज्ञान के साथ ही आती हैं। क्योकि

(१०६) अन्यधर्मस्य ज्ञानधर्मस्य रजतस्य। ज्ञानाकारस्येति यावत्। अध्यासोऽन्यत्र बाह्ये। सौत्रान्तिक नये तावद्बाह्यमस्ति वस्तु सत्। तत्र ज्ञानाकारस्यारोप।
—अध्यास भाष्य भामती।

मन मे आना ज्ञान से अतिरिक्त और कुछ है नही। परन्तु प्रकृत चार्वाक-सिद्धान्त उनके इस कथन का प्रतिवाद इस प्रकार करेगा कि जहाँ तक विषय और ज्ञान इन दोनो का अपृथक् अस्तित्त्व की बात है वह तो चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे भी मान्य है क्योकि ज्ञान को चार्वाकीय दृष्टिकोण मे भौतिक ही माने जाने के कारण उसका पृथक् अस्तित्व यहाँ भी मान्य नही होता। परन्तु इन दोनो के अन्दर एक शेष करते समय ज्ञान का ही तात्त्विक अस्तित्व माना जाय भूत का नही, इसका कोई भी निर्णायक, उक्त क्षणिक-विज्ञान-मात्र-तत्त्वतावादी की ओर से उपस्थित नही किया जा सकता। चार्वाक की ओर से भूत के ही एक शेष की मान्यता के औचित्य मे यह युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि प्रत्येक प्रामाणिक व्यक्ति "मै समझता हूँ", "मेरा ज्ञान" इत्यादि प्रतीति एव तदनुरूप वाक्य-प्रयोग करता हुआ पाया जाता है। इसके विपरीत "ज्ञान का मै" इत्यादि प्रतीति कोई भी प्रामाणिक व्यक्ति कभी करता हुआ पाया जाता नही। इस परिस्थिति के आधार पर "मैं", "मेरा" आदि पदो से विवक्षित होने वाली आत्मवस्तु को, फलत शरीर को, मुख्य और "ज्ञान" आदि शब्द से कही जाने वाली ज्ञान-वस्तु को उसकी अपेक्षा गौण मानना ही उचित होगा। किन्ही दो के अन्दर एक शेप करते समय अवश्य मुख्य का ही अवशिष्ट रह जाना उचित होगा इसलिए ज्ञान को वास्तविक तत्त्व न मान कर उसके आश्रयभूत भूत को ही वास्तविक तत्त्व मानना उचित होगा। अत धारावाही-क्षणिक-विज्ञान को ही वास्तविकता देकर तदनुकूल मान्यता प्राप्त-आत्मख्याति जिसका कि स्वरूप-वर्णन किया जा चुका है मान्य नही ठहरायी जा सकती।

जगह-जगह पर कुछ विवेचको ने इस आत्मख्याति को, जिसकी अमान्यता चार्वाकीय दृष्टिकोण से बतलायी गयी है असत्ख्याति भी कहा है। इसका कारण यह है कि क्षणिक-विज्ञान-मात्र तत्त्वतावादी की दृष्टि मे ज्ञान के विषय घट पट आदि वस्तुए सत् अर्थात तात्त्विक है नही। अत सभी विषयभूत वस्तुओ को "असत्" ही मानना होगा। किन्तु उन असत् वस्तुओ की प्रतीतिस्वरूप ख्याति होती है अत आत्मख्याति की जगह असत्ख्याति शब्द अधिक उपयुक्त होगा। इसके विरुद्ध चार्वाक पक्ष से यह कहा जा सकता है कि "असत्" शब्द से सर्वथा असम्भूत का ही ग्रहण उचित कहला सकता है। और सर्वदा असम्भूत की कभी प्रतीति होती नही। ऐसी परिस्थिति मे प्रतीयमान जागतिक वस्तुओ को कैसे "असत्" कहा जा सकता? और कैसे उनकी ख्याति को असत्-ख्याति कहना उचित कहा जायगा?

चार्वाक-मत मे असत्ख्याति भी मान्य नही—

क्षणिक-विज्ञानवादी जहा सीप मे होने वाली रजत की प्रतीति को आत्मख्याति मानते है वहा नागार्जुन का बौद्ध-सम्प्रदाय, जिसे कि माध्यमिक भी कहा जाता है आत्म-

ख्याति न मान कर "असत्ख्याति" मानता है। वह यह सोचता है कि जब प्रतीय-मान प्रत्येक जागतिक वस्तु के दूर तक चलने वाले विश्लेषण के अन्त मे शून्य ही अवशिष्ट रह जाता है तब शून्य को ही तथ्य मानना उचित है। इस शून्य की व्याख्या वे लोग यह करते हैं सत्, असत् और सदसत् तथा उन सबसे भिन्न इन चारो कोटियो-के परे। फलत सारे प्रतीयमान को तुल्य-युक्तिप्रयुक्त उक्त प्रकार शून्य मानना उचित होने पर वह ख्याति भी सत् नही असत् ही है। यही असत्-ख्याति की उन असत्ख्याति-वादियो की व्याख्या है। इसके अनुसार इसके अनुयायियो के दृष्टिकोण मे सीप मे होने वाली "यह चाँदी है" यह प्रतीति जो कि एक प्रकार ख्याति ही है कैसे असत् नही हो सकती? एव उस ख्याति के विषयो को भी कैसे नही असत् कहा जायगा? सुतरा "असत् की ख्याति" इस व्याख्या के अनुसार तथा "असत् जो ख्याति" इस व्याख्या के भी अनुसार उक्त शुक्तिका मे होने वाली रजत की प्रतीति को असत्ख्याति मानना उचित है। क्षणिक-विज्ञानवादी जहाँ कम-से-कम अपने को बचा रखा था। क्षणिक विज्ञान रूप मे ही सही, आत्मा का अस्तित्व मान कर भाववस्तु की सत्ता को उन्होने मान्यता दी थी, वहाँ इस असत्ख्यातिवादी ने आत्महत्या का उदाहरण उपस्थित किया। अपने को भी शून्य मान लिया। इसलिए माध्यमिक-साम्प्रदायिक-बौद्धो का यह शून्याद्वैतवाद एव शून्यख्याति अथवा असत्ख्याति का उपदेश, व्याहत अतएव असम्बद्ध-प्रलाप-सा प्रतीत होता है। क्योकि कहाँ स्थापक की शून्यता का निर्णय और कहाँ अपने द्वारा निर्णयात्मक रूप से शून्यता का स्थापन? दोनो आपसे सर्वथा विरुद्ध होते हैं। यदि स्थापक बिलकुल है नही तो शून्यता का स्थापन कैसे? क्योकि स्थापक के बिना स्थापन कहा नही जा सकता। कर्त्ता के बिना भला कोई भी क्रिया कैसे सम्भवपर हो सकती? और यदि स्थापन का कर्त्ता मान्य हो तो सर्वशून्यता सगत कैसे?

यह भी कहना सगत नही कहा जा सकता, कि उक्त स्थापक को सम्वृति सत् मान कर सामजस्य उपस्थित किया जा सकता है। क्योकि कर्त्ता की सत्ता यदि साम्वृतिक होगी? तो सम्वृति की सत्ता कैसी होगी? यदि यह कहा जाय कि सम्वृति की सत्ता भी साम्वृतिक होगी। तो या तो कोई-न-कोई एक ऐसी सम्वृति अवश्य मान्य होगी जो कि साम्वृतिक न होने के कारण तथ्य मान्य हो उठेगी। ऐसी परिस्थिति मे शून्य की तथ्यता नही मान्य कही जा सकती। और एक बात यह कि "शून्य तथ्य है" यह कथन इसलिए भी असगत प्रतीत होता है कि शून्यता और तथ्यता ये दोनो परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है। इसलिए "शून्य तथ्य है" यह कहा ही नही जा सकता।

कहने का तात्पर्य यह है कि शून्याद्वैतवादी के मत मे प्रमाण-प्रमेयभाव बिलकुल मान्य नही है। ऐसी परिस्थिति मे अपने शून्याद्वैत पक्ष का स्थापन अथवा विरोधी-

पक्ष का खण्डन कैसे शून्याद्वैती कर सकते ? यद्यपि जगह-जगह पर उन्होने इसका समाधान इस प्रकार दिया है कि तात्त्विक प्रमाण-प्रमेयभाव के न होते हुए भी कुछ देर के लिए मान कर शून्याद्वैत का या अन्य किसी और का भी ख्यापन हो सकता है। परन्तु इसमे भी भारी कठिनता यह उपस्थित होती है कि आखिर मानने के लिए मानने वाला तो मान्य होना चाहिए। यदि वह मान्य होता है तो वही बलिवेदी बन जाता है शून्याद्वैत के बलिदान के लिए। और यदि वह भी मान्य नही माना जाता है तो मानने वाले के बिना मानना असम्भव होने के कारण यह भी नही कहा जा सकता जैसा कि कहा गया है कि "कुछ देर के लिए प्रमाण-प्रमेयभाव मान कर शून्यख्यापन किया जा सकता है।"

प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन वे लोग एक और प्रकार से भी करते है—वे प्रमाण-प्रमेय-भाववादी से पूछते यह है कि प्रमेय की प्रमिति प्रमाणाधीन मानने पर प्रश्न उपस्थित यह होता है कि प्रमाण की प्रमिति कैसे होगी ? यदि यह कहा जाय कि प्रमाणान्तर से उस प्रमाण की प्रमिति हो जायगी तो—उस स्वीकृत प्रमाण की प्रमिति के लिए भी प्रमाणान्तर[१०७] की आवश्यकता होगी इसलिए अनवस्था दुर्वार हो उठेगी। और यदि यह कहा जाय कि प्रमाण की प्रमिति, बिना प्रमाण की ही हो जायेगी, इसलिए अनवस्था होगी नही। तो ऐसा मानने पर प्रमेय की भी प्रमिति यो ही बिना प्रमाण की ही क्यो न मान ली जाय ? अत प्रमाण-प्रमेयभाव की स्थापना असम्भव है।

परन्तु द्वैतगर्भ भूताद्वैत को मान्यता देने वाले चार्वाक-सिद्धान्त मे इस प्रकार से प्रमाण-प्रमेयभाव की अनुपपत्ति नही दिखलायी जा सकती। क्योकि अद्वैत की द्वैतगर्भता प्रयुक्त यहाँ प्रमाण-प्रमेयभाव बन सकता है। और एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण की मान्यता होने पर भी अनुमिति-प्रत्यक्ष, आदि रूप मे विहित प्रत्यक्ष विभाजन के आधार पर एकविध प्रत्यक्ष से अपरविध-प्रत्यक्ष का विषयीकरण सभव हो जाता है एव प्रमाणान्तर की मान्यता प्रयुक्त अनवस्था का भी अवकाश रहता नही।

प्रमाण-प्रमेयभाव के खण्डन मे इनके अतिरिक्त उन्होने और यह एक मार्ग अपनाया है कि प्रमाण और प्रमेय इन दोनो के बीच पूर्वापरीभाव या सहभाव कहा जाना कठिन होने के कारण वास्तविक प्रमाण-प्रमेयभाव माना नही जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि ससार की किन्ही भी दो वस्तुओ के अन्दर नियत-रूप से कोई पहले और उसके अन्दर होने वाला दूसरा उसके पीछे होता है। और यदि ऐसा नही होता है तो वे दोनो सहभावी होते है अर्थात् समान काल वाले होते है। भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनो

(१०७) प्रमाणान्तरत सिद्धे प्रमाणाना प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसग ।१७।

—न्यायदर्शन, अ २ आ १।

असत्-ख्यातिवादियों के द्वारा इस प्रकार किये जाने वाले प्रमाण-प्रमेयभाव के खण्डन का खण्डन न्याय दर्शन के प्रणेता अक्षपाद गौतम एव उनके न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने इस प्रकार किया है कि शून्याद्वैतवादियो [१०८] का यह प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन, नियम के ऊपर जोर देकर प्रवृत होने वाला है । परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। प्रमाण और प्रमेय के बीच नियत पूर्वापरीभाव [१०९] मान्य नही है। जहाँ जैसा देखा जाता है वहाँ वैसा ही पूर्वापरीभाव मान्य है । उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि वजती हुई वीणा के मधुर शब्द को सुन कर जहाँ वीणा वाद्य का अनुमान कोई अनुमाता करता है, वहाँ अनुमापक होने के नाते शब्द होता है प्रमाण और वीणा यन्त्रात्मक वाद्य होता है प्रमेय । वहाँ ऐसा पूर्वापरीभाव अनुमेय और अनुमापक मे, फलत प्रमेय और प्रमाण मे पाया जाता है कि प्रमेय वीणायन्त्र रहता है पहले से ही। और उससे उत्पन्न होने के नाते उससे पीछे होने वाला वह मधुर शब्द जो कि उस वीणा का अनुमापक होने के नाते प्रमाण कहलाने का अधिकारी होता है, होता है पीछे। परन्तु जहाँ किसी वितत प्रकाश के बीच कोई वस्तु उत्पन्न होती है वहाँ उस पीछे उत्पन्न होने वाला प्रमेय वस्तु का ज्ञापक होने के नाते प्रमाण होने वाला वह वितत प्रकाश उस प्रमेय भूत पीछे उत्पन्न होने वाली वस्तु का पूर्ववर्ती होता है। फलत ऐसी परिस्थिति मे प्रमाण पहले और प्रमेय पीछे हुआ करता है। इसके अतिरिक्त जहाँ यह परिस्थिति होता है कि किसी एक अवयवी के एक अवयव को देख कर उसी के दूसरे अवयव का कोई अनुमान यदि करता है तो अनुमेय, फलत प्रमेय अवयव, अनुमापक, फलत प्रमाणभूत अवयव का सहभावी अर्थात् समान कालिक होता है। न पूर्वभावी और न पश्चाद्भावी। इसलिए पूर्वभाव, परभाव या सहभाव का नियम प्रमाण और प्रमेय के बीच मान्य ही नहीं है । अत अमान्य नियम को मान्यता देकर उक्त प्रकार से किया जाने वाला प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन वास्तविक खण्डन नही खण्डनाभास ही कहा जायगा ।

इसके अतिरिक्त उक्त प्रमाण-प्रमेयभाव खण्डन के विरुद्ध यह भी प्रवल युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि जिस प्रकार पूर्वापरीभाव एव सहभाव के नियम को लेकर प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन शून्याद्वैतवादी करते है तदनुसार "निषेध्य निषेधक भाव" का भी खण्डन उसी प्रकार किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शून्याद्वैतवादी यदि

(१०८) त्रैकाल्याप्रतिषेधस्य शब्दादातोद्यसिद्धिवत् तत्सिद्धे १५

—न्यायदर्शन, अ०२, आ१

(१०९) अनियमदर्शी खल्वयमृषिर्नियमेन प्रतिषेध प्रत्याचष्टे ।

—वात्स्यायन भाष्य ।

प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन करते है तो अवश्य वे "निषेध्य-निषेधक भाव" स्वीकार करते हैं यह उन्हे मानना होगा। परन्तु प्रमाण-प्रमेयभाव के खण्डन मे जिस पूर्वापरीभाव या सहभाव के नियम को अपना कर अपना उद्देश्य उन्होने सिद्ध किया है उसके आधार पर यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है उनके समक्ष कि निषेध्य और निषेधक इन दोनो के बीच किसे पूर्ववर्ती और किसे पश्चाद्वर्ती माना जायगा ? प्रतिषेध्य को पहले और प्रतिषेधक को पीछे होने वाला इसलिए नही कहा जा सकता कि प्रतिषेधक एव प्रतिषेध को रख कर ही किसीको प्रतिषेध्य कहा जा सकता है, अन्यथा नही। प्रतिषेधक को पहले और प्रतिषेध्य को पीछे होने वाला भी इसलिए कहना कठिन है कि प्रतिषेध्य एव प्रतिषेध के बिना कोई प्रतिषेधक कैसे कहला सकता ? क्योकि प्रतिषेधक के द्वारा प्रतिषेध का प्रतियोगी होने वाला ही कहला सकता है प्रतिषेध्य। प्रतिषेध्य और प्रतिषेधक इन दोनो का सहभाव भी इसलिए मान्य नही हो सकता कि जब दोनो साथ ही रहेगे तो उक्त पशुशृग दृष्टान्त के आधार पर यह निर्णय करना कठिन होगा कि कौन किस का प्रतिषेधक है ? फलत जिस प्रकार शून्याद्वैतवादी लोग प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार उस खण्डन के लिए अपेक्षित होने वाला निषेध्य-निषेधकभाव अर्थात् खण्ड्य-खण्डकभाव भी स्वत खण्डित हो जायगा। और उसकी अमान्यता प्राप्त हो जाने पर कैसे शून्याद्वैतवादी प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन कर सकते ?

यहाँ और एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि शून्याद्वैतवादी अपने द्वारा किये गये प्रमाण-प्रमेयभाव के खण्डन को प्रामाणिक मानेंगे या अप्रामाणिक ? यदि वे यह कहें कि मेरे द्वारा किया जाने वाला प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन अप्रामाणिक है तो फिर उनके द्वारा किये जाने वाले उक्त खण्डन का कोई मूल्य नही रह जायगा। क्योकि वक्ता यदि स्वय अपनी बातो को अप्रामाणिक, अतथ्य, सारहीन कहे, तो दूसरा कोई उसे क्यो और कैसे मानेगा ? और यदि शून्याद्वैतवादी अपने द्वारा किये गये उक्त प्रमाण-प्रमेयभाव के खण्डन को प्रामाणिक कहे तो स्वय उन्हे प्रमाण-प्रमेयभाव मान लेना होगा। क्योकि उसकी मान्यता के बिना कोई भी प्रामाणिक कैसे कहला सकता ? साराश यह कि प्रमाण-प्रमेयभाव को मान्यता न देने वाला व्यक्ति स्वय अपने को फरेबी, धोखेबाज फलत अविश्वासपात्र सिद्ध कर डालेगा। फिर उसे और कोई कैसे मान सकता। अत प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन नही किया जा सकता। और ऐसा होने पर असत् ख्याति नही कही जा सकती क्योकि प्रामाणिक वस्तु को असत् नही कहा जा सकता। सुतरा चार्वाकीय

(११०) शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति · · ·।

—वेदान्तदर्शन, शाकरभाष्य

दृष्टिकोण मे जहाँ कि सारी लौकिक, दाण्डिक-व्यवस्था एव उसके औचित्य को मान्यता प्राप्त है, भेदघटित पूर्वोक्त भूताद्वैत ही मान्य है, असत्-ख्याति मान्य नही हो सकती।

चार्वाक मत मे अनिर्वचनीय-ख्याति भी मान्य नही

ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती लोग असत्ख्याति को तो मान्यता नही देते है क्योकि असत्ख्याति-वादियो के खोखले शून्य के स्थान मे ये भरा शून्य मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त मे समग्र दृश्यो के अध्यास के अधिष्ठान रूप मे सत् अर्थात् त्रिकालाबाध्य ब्रह्म को इसके अनुयायी मानते हैं। परन्तु उस ब्रह्म की बात यदि अलग कर दी जाय, तो रूपान्तर मे यहाॅ भी कुछ असत्ख्याति-जैसी ही बात मान्य होती हुई नजर आती ह। क्योकि दृश्य जगत् को पारमार्थिक यहाँ भी नही माना जाता है। ससार यहाँ भी असार ही है। इस सिद्धान्त मे सीप मे होने वाली रजत की प्रतीति को अनिर्वचनीय-ख्याति कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि कोई द्रष्टा जब कि सीप को देखते हुए भी सीप नही समझता है एक चमकयुक्त वस्तुमात्र देखता है तब चमकयुक्त चाँदी से भिन्न उसे न समझने के कारण वह द्रष्टा-व्यक्ति उसे चाँदी समझ बैठता है। इस सिद्धान्त मे सीप के स्थान मे देखा जाने वाला रजत अनिर्वचनीय होता है, इसलिए उसके ज्ञान को अनिर्वचनीय-ख्याति कहा जाता है। अनिर्वचनीय वह कहलाता है जिसे कि सत् भी न कहा जा सके और असत् भी न कहा जा सके एव सत् और असत् इन दोनो-का एक मिलित रूप भी न कहा जा सके। सीप मे प्रतीयमान रजत मे यह बात पूर्ण रूप से लागू है। क्योकि उस प्रतीयमान रजत को असत् इसलिए नही कहा जा सकता कि उसकी प्रतीति होती है। वह प्रतीयमान होता है। असत् "खपुष्प" आदि कभी प्रतीयमान होते नही। और उस रजत को सर्वथा सत् भी इसलिए नही कहा जा सकता कि द्रष्टा उसी सीप के पास जाकर जब देखता है कि सीप है तब वह उसके द्वारा अव्य-वहित पूर्व प्रतीत रजत बाधित हो जाता है, रहता नही। इस प्रकार जब कि वह रजत अलग-अलग सत् भी नही हो पाता और असत् भी नही हो पाता तो उसे मिलित "सत् असत्" रूप भला कैसे कहा जा सकता ? इसलिए "सत्-असत्" रूप भी नही कहा जा सकता। इसलिए किसी भी प्रकार सत् या असत् या सदसत् रूप मे निर्वचनानर्ह होने के कारण उस रजत को अनिर्वचनीय मानना एव कहना पडता है। यद्यपि वेदान्त की दृष्टि मे सभी तात्कालिक दृश्य एव स्वाप्न-दृश्य अनिर्वचनीयता की दृष्टि से समान ही होते है अर्थात् दृश्य सभी अनिर्वचनीय ही होते है फिर भी अवान्तर अन्तर यह है कि सारे स्वाप्न दृश्य एव तात्कालिक शुक्तिरजत आदि दृश्य होते है प्रातिभासिक। वेदान्तियो का कहना है कि व्यावहारिक घडे, कपडे आदि दृश्य है मूल अविद्या के, जिसे अन्य शब्द मे माया

भी कहा जाता है, कार्य, अर्थात् परिणाम। और समस्त स्वाप्नदृश्य तथा जागरण-कालिक शुक्तिरजत आदि दृश्य होते हैं तूल[111]-अविद्या के कार्य अर्थात् परिणाम। यद्यपि इसके सम्बन्ध मे वेदान्तियो के घर मे कुछ आपसी मतभेद भी पाया जाता है फिर भी अधिकतर प्रचलित मत यही है जोकि यहाँ कहा गया है। "मूल-अविद्या" यहाँपर "मूल" का अर्थ कारण और "तूल अविद्या" यहाँ पर "तूल" का अर्थ कार्य मानते है वेदान्ती लोग। उनका अभिप्राय यह है कि जिस महान् अज्ञान के द्वारा एक मात्र परमार्थ सत् ब्रह्म का आवरण होता है, जिससे आवृत होने के कारण प्राणियो का ब्रह्म का साक्षात्कार नही होता, अथवा यो कहा जाय कि जो ब्रह्मविषयक अज्ञान समग्र व्यावहारिक जगत् रूप में परिणत होता है, वह अज्ञान समग्र दृश्य-प्रपच का मूल है, और अज्ञान होने के कारण अविद्या है। और सहजत उसका परिचय लोगो को प्राप्त नही होता, इसलिए उसको माया भी कहा जाता है। और इसी को जगह-जगह पर वेदान्त मे कारण-शरीर भी कहा जाता है। शरीर इसे इस दृष्टि से कहा जाता है कि इसीके कारण, शुद्ध ब्रह्म, ईश्वर अर्थात् सर्वकर्त्ता बन पाता है। बिना शरीर का कोई कर्त्ता होता हुआ पाया नही जाता।

तूल-अविद्या उस खण्ड-अज्ञान को कहा जाता है जिसके कारण मूल-अविद्या के कार्यभूत किसी व्यावहारिक वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न अर्थात् सीमितीकृत चैतन्य, आवृत होता है अर्थात् वह किसी व्यावहारिक वस्तु से परिच्छिन्न चैतन्य, द्रष्टा के लिए प्रकाशित नहीं होता है। फलत उस वस्तुभूत अपरिच्छिन्न-चैतन्य-विषयक खण्ड अज्ञान, द्रष्टा की दृष्टि मे अन्य रूप मे उपस्थित होता है। वही अन्यस्वरूप दृश्य कहलाता है प्रातिभासिक। और ऐसी प्रातिभासिक वस्तु की ख्याति भी वेदान्तसिद्धान्त में अनिर्वचनीय-ख्याति ही कही जाती है। इसीलिए सीप मे देखे जाने वाले रजत को भी अनिर्वचनीय कहा जाता है। क्योकि मूल अविद्या कहिए या माया कहिए उसके कार्यभूत अर्थात् परिणामभूत सीप के द्वारा परिच्छिन्न चैतन्य को न समझने के कारण द्रष्टा उसके स्थान मे चादी को देखता है। अत यह मानना पडता है कि उक्त सीप का, फलत तदवच्छिन्न चैतन्य का, आवरक खण्ड अज्ञान रूप, तूल-अविद्या रजत रूप मे परिणत हो जाती है। इसीलिए द्रष्टा सीप की विद्यमानता होते हुए भी सीप न देखकर उसके स्थान मे चादी देखता है। इस प्रातिभासिक चाँदी का अस्तित्व तभी तक होता है जब तक वह देखा जाता रहता है। बाजारू व्यावहारिक चादी से इस चाँदी का यही अन्तर होता

(१११) एव च शुक्ति-रजतस्यस्य शुक्त्यवच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठ-तूलाविद्याकार्यत्व-पक्षे ।
—वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्ष-परिच्छेद ।

है। व्यावहारिक चाँदी आगे-पीछे होने वाले अन्य व्यक्तियो के द्वारा भी चाँदी रूप मे गृहीत होती है। किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा वह नही दृष्ट होती है। वेदान्तदर्शन की इस मान्यता के आधार पर सीप में होने वाली रजत-बुद्धि-स्थल मे अनिर्वचनीय-ख्याति की सरल प्रक्रिया यह होती है कि वह द्रष्टा अपने आगे विद्यमान सीप को चमकती हुई वस्तु के रूप मे देखता है किन्तु यह सीप है यह जब नही समझता है, तब वह उस द्रष्टा-व्यक्ति का शुक्तिविषयक अज्ञान अथवा यो कहा जाय कि शुक्तिविषयक अज्ञानात्मक अन्त करण जिसे बुद्धि शब्द से भी जगह-जगह पर कहा गया है उस दृश्य अव्यवाहारिक-रजत और उसकी ख्याति दोनो रूपो मे एक साथ ही परिणत हो जाता है। उसी वैयक्तिक-अन्त करण-परिणामात्मक रजत की वैयक्तिक-अन्त करण-परिणामात्मक-ख्याति होती है अनिर्वचनीय-ख्याति। इसी प्रकार सर्वत्र भ्रमस्थल मे समझना चाहिए। साराश यह है कि अनिर्वचनीय-ख्याति को वेदान्ती-लोग दो भागो मे विभक्त समझते हैं। व्यावहारिक अनिर्वचनीय-ख्याति और प्रातिभासिक-अनिर्वचनीय ख्याति। लौकिक दृष्टि मे भी जिस ज्ञान को लोग भ्रम मानते हैं जैसे सीप मे होने वाले उक्त रजत-ज्ञान को, वह ज्ञान कहलाता है प्रातिभासिक-अनिर्वचनीय ख्याति। और जिस ज्ञान को लोकदृष्टि मे भ्रम नही समझा जाता है जैसे क्रय-विक्रय योग्य बाजारू रजत के ज्ञान को, वह होता है व्यावहारिक-अनिर्वचनीय-ख्याति। परन्तु कुछ वेदान्ती व्यावहारिक-अनिर्वचनीय-ख्याति को भी प्रातिभासिक-अनिर्वचनीय-ख्याति ही मानते है। उनका कहना यह है कि पारमार्थिक सत्ता और प्रातिभासिक सत्ता ये दो सत्ताएँ ही मान्य हैं। तृतीय व्यावहारिक-सत्ता मान्य नही है। इस मतभेद के मूल मे यह वैमत्य काम करता है कि ये सत्ताद्वयमात्रवादी जगत् के कारण उससे स्वीकर्त्तव्य अविद्या को मूलाविद्या और तूलाविद्या इन दो प्रभेदो मे विभक्त मानते नही, अत परिणामी भी। कारण मे किसी प्रकार का वैचित्र्य प्राप्त न होने के कारण, कार्य वस्तुओ मे भी वैचित्र्य कैसे प्राप्त होगा? अत पारमार्थिक ब्रह्मचैतन्य को छोड कर और सभी प्रातिभासिक ही है। इस-लिए इस सत्तामात्रद्वयवादी वेदान्तियो की दृष्टि मे घट, पट आदि दृश्यो के ज्ञान भी शुक्तिरजत-ज्ञान से बिलकुल वैलक्षण्य रखते नही। जहा लौकिक किसी एक वस्त्ववच्छिन्न चैतन्य मे अपर वस्तु का आरोप किया जाता है वहा की अनिर्वचनीय-ख्याति के लिए आरोप के प्रति अधिष्ठानभूत चैतन्य के अवच्छेदक और आरोप्य वस्तु इन दोनो मे सादृश्य का ज्ञान भी उस व्यक्ति के लिए अपेक्षित होता है जो कि अनिर्वचनीय ख्याति का कर्ता होता है। इसीलिए कोई भी व्यक्ति एक मच्छर को हाथी या हाथी को मच्छर नहीं समझता है। सीप को चादी कोई समझ बैठता है क्योकि सीप और चादी दोनो चमकते हुए दीखते है। फलत अनिर्वचनीय-ख्याति की सरलप्रक्रिया यह प्राप्त होती है कि

द्रष्टा की आँख जब सीप के साथ जुटती है तब उस व्यक्ति का अन्त करण इदमाकार और चमक का आकार धारण करता है। जिसकी विस्तृत प्रक्रिया वेदान्त सम्मत प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के वर्णन के अवसर पर बताया जा चुका है। दूरत्व चमक आदि दोष और उस सीप मे जायमान रजत-सादृश्य का दर्शन इनके साहाय्य से उस द्रष्टा व्यक्ति का अन्त करणाश्रित सीप का अज्ञान उस प्रातिभासिक रजत एव उस रजत का ज्ञान इन दोनो रूपो मे परिणत हो जाता है। अर्थात् उस द्रष्टा का अन्त करणाश्रित अज्ञान या यो कहा जाय कि उक्त अज्ञानात्मक अन्त करण ही प्रतिभासिक रजत एव उसके ज्ञान इन दोनो स्वरूपो वाला एक साथ ही बन जाता है। उस प्रातिभासिक रजत का उसी समय होने वाला वह ज्ञान कहलाता है "अनिर्वचनीय-ख्याति।"

इस अनिर्वचनीय ख्याति के सम्बन्ध मे चार्वाकीय-दृष्टिकोण से प्रतिवाद के रूप मे कहना यह है कि वेदान्ती लोग प्रकृत प्रातिभासिक रजत आदि को एक प्रकार प्रतिभास-सत् भाव मानते है और उसे सीप या तदच्छिन्न चैतन्य के अज्ञान का परिणाम अर्थात् रूपान्तर मानते है, जो कि सगत नही कहा जा सकता। क्योकि अज्ञान कोई भाव-पदार्थ नही। उसे ज्ञानात्मक भाव के अभाव से अतिरिक्त और कुछ बिलकुल नही कहा जा सकता। अभाव ही यदि भावरूप मे परिणत हुआ करे तो ससार का सारा उद्यम और श्रम व्यर्थ सिद्ध हो जाय। क्योकि जिसके लिए श्रम किया जाता है, उद्यम किया जाता है उसका अभाव पहले रहता ही है। वह अभाव अनायास उस वस्तुत श्रमसाध्य-वस्तु रूप मे स्वत परिणत हो जायगा। फिर उस वस्तु के लिए जो श्रम की आवश्यकता होती है वह नही होनी चाहिए। सम्भव है कि वेदान्ती लोग इस पर यह कहना चाहे कि अज्ञान ज्ञान का अभाव नही किन्तु वह एक आन्तर अन्धकार है। बाहरी अन्धकार जैसे अभाव नही, आवरक एक प्रकार भाव पदार्थ है उसी प्रकार आन्तर अज्ञानात्मक-अन्धकार भी अभाव नही भावात्मक ही है। अत उसका भावात्मक रजत बनना एव उस रजत का ज्ञान बनना असगत नही कहला सकता। तो इस पर चार्वाकीय दृष्टिकोण से यह कहा जायगा कि बाह्य-अन्धकार भी भावात्मक नही अभावात्मक ही है। तदनुसार आन्तर-अज्ञान को भी भावात्मक नही किन्तु ज्ञान का अभाव ही मानना होगा। ऐसी परिस्थिति मे वेदान्तियो का यह कथन कैसे उचित ठहराया जा सकता कि अज्ञान प्रातिभासिक रजत और उसका ज्ञान दोनो रूपो मे साथ ही परिणत हो जाता है। इसके अतिरिक्त और भी इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि वेदान्त-सिद्धान्त मे जब कि परमार्थ सत् रूप मे वही मान्य होता है जो कि त्रिकालाबाध्य होता है, तब यह अवश्य ही मानना होगा कि व्यावहारिक घट, पट आदि वस्तुए एव प्रातिभासिक शुक्तिरजत आदि इसलिए परमार्थ सत् नही हो पाते, कि वे त्रिकाल-बाध्य होते है। और इसीलिए

वे मिथ्या होते है, और अत अद्वैत-सिद्धान्त के समक्ष यह समस्या नही उपस्थित की जा सकती कि "जब व्यवहार-सत् और प्रतिमास-सत् ये दो प्रकार के सत् पदार्थ और भी मान्य हैं वेदान्त सिद्धान्त मे, तो फिर अद्वैत मान्य है किस प्रकार ?"

किन्तु रूपान्तर मे यह समस्या इस प्रकार खडी हो उठती है कि घट पट आदि व्यावहारिक सत् और शुक्तिरजत आदि प्रातिभासिक सत् भी जब कि व्यवहारकाल एव प्रतिभासकाल के लिए सत् रूप से मान्य हैं तो फिर उनका त्रैकालिक निषेध कैसे कहा जा सकता ? और यदि त्रैकालिक निषेध इन व्यावहारिक एव प्रातिभासिको का नही हो पाता है तो ये त्रिकालबाध्य नही कहला पाते। फिर इन्हे मिथ्या कैसे कहा जाय ? यद्यपि वेदान्तियो ने इस प्रश्न को स्वय भी उठाया है और इसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि यह बात सही है कि व्यवहारकाल में व्यावहारिक घट, पट आदि वस्तुओ की सत्ता और प्रतिभास-काल मे प्रातिभासिक शुक्तिरजत आदि की भी सत्ता कुछ समय के लिए मान्य होती है परन्तु वे व्यावहारिक घट, पट आदि स्वगत व्यावहारिकता धर्म से एव प्रातिभासिक शुक्तिरूप आदि स्वगत प्रातिभासिकता धर्म से ही युक्त रूप मे उस समय भी रहते हैं, अद्वैतब्रह्मगत पारमार्थिकता धर्म से युक्त रूप मे उस समय भी वे रहते नहीं, जिस समय उनके रहने की बात की जाती है। अत ब्रह्ममात्रगत-पारमार्थिकत्व धर्म से पुरस्कृत रूप मे वे व्यावहारिक एव प्रातिभासिक-वस्तुएँ भूत, वर्त्तमान एव भविष्य इन तीनो कालो के अन्दर किसी भी काल मे रह नही पाती, इसलिए पारमार्थिकत्व धर्म से पुरस्कृत रूप मे सभी व्यावहारिक एव सभी प्रातिभासिक वस्तुओ का निषेध त्रैकालिक

समझना स्वरूप, पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार अपेक्षित होने वाला उक्त अद्वैती-व्यक्तिकर्तृक ज्ञान, अनिर्वचनीय-ख्याति होगा या अन्यथा ख्यातिस्वरूप ? यदि वेदान्तियो की ओर से यह कहा जाय कि वह द्वैत-निषेध-ज्ञान के लिए अपेक्षित होने वाला ज्ञान, अनिर्वचनीय ख्याति नही, अन्यथा-ख्याति रूप होगा, तो वहाँ मान्य उस अन्यथा-ख्याति को ही सर्वत्र मान्यता दे देनी होगी। क्योकि अन्त मे जाकर जब कि उस अन्यथा-ख्याति को मान्यता देनी ही होगी तब उचित यही कहा जायगा कि वे अद्वैत वेदान्ती जहाँ-जहाँ अनिर्वचनीय ख्याति मानते है वहाँ-वहाँ सर्वत्र आग्रह छोड कर उस मान्य अन्यथा-ख्याति को ही मान्यता दे। परन्तु ऐसा करना भी उनके लिए कठिन सर्वथा इसलिए होगा कि तब उनका सर्वाधिक प्रिय एव मान्य ब्रह्मविवर्त्तवाद ही चौपट चला जायगा। क्योकि तब उन्हें ब्रह्म से अन्यत्र दृश्य-जगत् की वास्तविक सत्ता माननी होगी।

यदि वेदान्ती लोग यह कहे कि उक्त ब्रह्मगत-पारमार्थिकता-युक्त रूप मे अपेक्षित होने वाले व्यावहारिक-वस्तु के ज्ञान, एव प्रातिभासिक वस्तु के ज्ञान को भी अन्य कोई ख्याति न मान कर अनिर्वचनीय-ख्याति ही मानेगे तो यह कहना भी उनके लिए कठिन इसलिए हो आयेगा कि ऐसा मानने पर उन्हे यह भी मानना ही होगा कि निषेध्य व्यावहारिक एव प्रातिभासिको पर प्रतीत होने वाली "ब्रह्मपारमार्थिकता-पुरस्कृतता"

रूप से प्रतीत होता है, उसमे उसका न रहना, फलत वहाँ उसके रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना है मिथ्यात्व। उदाहरण के द्वारा इसे वे लोग इस प्रकार समझाते हैं कि कपडा वेदान्त की दृष्टि मे इस लिए मिथ्या है कि लोकव्यवहार मे उसके आश्रय रूप मे परिगृहीत होने वाले धागो मे वह तत्त्वत है नही वहाँ उसका अत्यन्ताभाव है। अत वह कपडा धागो मे तत्त्वत होने वाले अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है। फलितार्थ यह कि धागो मे कपडा तत्त्वत रहता नही। वेदान्तियो के इस कथन का अभिप्राय यह है कि विलक्षण सयोग मे आवद्ध धागे ही तो हैं कपडे ? अत लोकसिद्ध आश्रय-धागो मे कपडा रहता नही, यही है कपडे का मिथ्यात्व। परन्तु प्रश्न यहाँ यह उठ खडा हो जाता है कि व्यावहारिक एव प्रातिभासिक भी सत्ता जब वेदान्त सिद्धान्त मे दृश्य जगत् को शून्याद्वैतवादी की असत्ता या शून्यता से बचाने के लिए मान्यता प्राप्त है तब व्यवहार-सत् या प्रतिभास-सत् रूप मे धागे आदि लोकव्यवहारसिद्ध आश्रयो मे पट आदि को सत्ताशील मानना ही होगा। ऐसी परिस्थिति मे व्यवहार एव प्रतिभास-काल में कपडे आदि का अत्यन्ताभाव उनके आश्रयो मे रहता है यह कैसे कहा जा सकता ? फलत उक्त मिथ्यात्व-निर्वचन को गलत मानना होगा, या दृश्य जगत् को परमार्थ-सत् मानना पडेगा इसका उत्तर क्या है ?

अन्य एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अनिर्वचनीय-ख्यातिसिद्धान्त मे भ्रम-ज्ञान को भी भ्रम विषयाश मे ही माना जाता है स्वाश मे नही। परन्तु उस सिद्धान्त मे यह युक्तिसगत नही कहा जा सकता। क्योकि ज्ञान अमूर्त होने के कारण सावयव, फलत सभाग नही हो सकता। और जो भागयुक्त नही हो सकता उसके सम्बन्ध मे यह कथन कैसे सगत कहला सकता कि वह अमुक अश मे भूल है और अमुक अश मे नही ? यदि वेदान्ती लोग यह उत्तर इसका देना चाहें कि वृत्त्यात्मक ज्ञान क्यो नही सावयव होगा ? वृत्ति और वृत्तिमान् की एकता के कारण वह वृत्त्यात्मक ज्ञान अन्त करण रूप ही हो जायगा। और अन्त करण वेदान्त सिद्धान्त मे सावयव ही मान्य होता है। तो इस पर चार्वाकीय-दृष्टिकोण से वक्तव्य यह होगा कि ऐसा कहने पर फलत चार्वाकीय भूत-चैतनिक सिद्धान्त रूपान्तर मे वेदान्तियो के लिए भी मान्य हो उठता है। क्योकि सावयव कोई भूत ही हो सकता है इसलिए अन्त करण को भी जिसे कि वेदान्तियो ने सावयव माना है भूतात्मक ही मानना होगा। और अन्त करण की ही वृत्ति को वेदान्तियो की ओर से कहा गया है ज्ञान। यदि वेदान्तियो की ओर से यह कहा जाय कि अन्त करण की वृत्ति तत्त्वत ज्ञान-रूप से मान्य नही है किन्तु उस अन्त करण की वृत्ति मे प्रतिविम्वित होने वाला चैतन्य है ज्ञान। उक्त अन्त करण की वृत्ति को ज्ञान औपचारिक रूप मे कहा जाता है अनौपचारिक रूप मे नही। जो अन्त करण की वृत्ति मे प्रतिविम्वित चैतन्य ज्ञान कहलाता है वह अज्ञान और आज्ञानिक से सर्वथा विलक्षण है। इसलिए वेदान्त-सिद्धान्त के ऊपर यह कलक नही लगाया जा सकता कि वह भी रूपान्तर मे भूत-चैतनिक बन जाता है। तो इस पर वक्तव्य यह समझना चाहिए कि तब फिर वह प्रश्न उपस्थित हो उठेगा कि चैतन्यात्मक ज्ञान तो और भी सावयव नही हो सकता। फिर कैसे वेदान्तियो का यह कथन सगत होगा कि ज्ञान, विषय-अश मे भ्रम होता है।

अपरोक्षत्व का सम्पादन किया जाय तो भूत-चैतनिक चार्वाक-सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हो जाती है। और यदि वृत्ति मे प्रतिबिम्बित चैतन्य को ज्ञान माना जाय तो यह कथन वेदान्तियो का असगत हो जाता है कि एक ही ज्ञान एक अश मे परोक्षात्मक और अपर अश मे अपरोक्षात्मक होता है। क्योकि चैतन्य कोई सावयव वस्तु, वेदान्त के सिद्धान्त मे है नही कि वेदान्तियो का उक्त कथन किसी प्रकार सगत हो पाये।

चार्वाक-मत अख्यातिवाद को भी नही अपना सकता

मीमासको के अन्दर भट्ट का सम्प्रदाय तो अन्यथा-ख्याति को ही मान्यता देता है नैयायिको और वैशेषिको की तरह। परन्तु प्रभाकर का दल उसे पसन्द नही करता। उसका कहना है कि भ्रम शब्द का वाक्यो मे प्रयोग लोग प्रचुर रूप से करते हैं सही, किन्तु वैवेचनिक दृष्टिकोण से भ्रम नाम का कोई ज्ञान सिद्ध होता नही, इसलिए भ्रम-व्यवहार स्थल मे किसी प्रकार की ख्याति को मान्यता न देकर अख्याति मानना एव तन्मूलक प्रवृत्त्यात्मक एव निवृत्त्यात्मक व्यवहार का सम्पादन उचित प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि कोई भी रजतार्थी व्यक्ति जो चमकते हुए काँच खण्ड या सीप को देख कर चाँदी पाने की इच्छा से उस सीप या काँच खण्ड की ओर अग्रसर होता हुआ पाया जाता है, सो इसलिए नहीं कि वह उस सीप या काँच खण्ड को चाँदी समझता है और समझकर उस ओर प्रवृत्त होता है। किन्तु वह व्यक्ति देखी जाती हुई सीप और तदानी स्मृत चाँदी मे विद्यमान भेद को अर्थात् विभिन्नता को पहचान नही पाता। इसलिए रजतार्थी होते हुए भी वह व्यक्ति चमकती हुई सीप की ओर दौड पडता है। अख्यातिवादी मीमासको का विशद अभिप्राय यह है कि द्रष्टा व्यक्ति की आँख जब कि सीप या काँच खण्ड से जुटती है तब वह "यह" इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान करता है और उसमे चमक के अवलोकन से पूर्व अनुभूत चाँदी को विषय करने वाला सस्कार जग पडता है। जिसका फल यह होता है कि वह द्रष्टा जो कि ठीक उसके पहले "यह" इस प्रकार सामान्य रूप से उस सीप या काँच खण्ड को प्रत्यक्ष किया रहता है उसे "रजत" इस प्रकार चाँदी का स्मरणात्मक ज्ञान हो उठता है। ये दोनो ज्ञान,[113] जिनके अन्दर एक "यह" यह प्रत्यक्षात्मक हुआ रहता है और दूसरा "रजत" यह स्मरणात्मक। अत्यन्त विभिन्न होते हुए भी उन

(११३) तथा च रजत इदमिति च द्वे विज्ञाने स्मृत्यनुभवरूपे। तत्रेदमिति पुरोवर्त्ति-द्रव्यमात्रग्रहणम्। दोषवशात्तद्गत-शुक्तित्व-सामान्य-विशेषस्याग्रहात्। तन्मात्रं च गृहीत सदृशतया सस्कारोद्बोधक्रमेण स्मृतिं जनयति।

—अध्यासभाष्य, भामती।

प्रकार व्यवधानरहित-भाव से होते एव प्रतीत होते है कि उस ज्ञाता व्यक्ति को भी यह पता नही चलता कि उक्त "यह" और "रजत" ये दोनो ज्ञान भिन्न हैं। इन दोनो ज्ञानो के अन्दर होने वाले भेद को वह बिलकुल नही समझ पाता। इसीलिए उस निकटवर्ती सीप या काँच खण्ड मे विद्यमान रजतभिन्नता को भी नही समझ पाता। इसलिए वह द्रष्टा एव स्मर्ता व्यक्ति जो कि रजत को चाहता रहता है अपने उपयोग के लिए, उस सीप या काँच खण्ड की ओर दौड पडता है। साराश यह कि उस व्यक्ति को "यह चादी है" इस प्रकार "यह" और "चाँदी" दोनो को विशेष्य-विशेषणभावापन्न रूप मे विषय करने वाला कोई एक ज्ञान होता ही नही, कि उसे किसी प्रकार की "ख्याति" की सज्ञा दी जा सके। अत उक्त प्रकार व्यक्ति के लिए प्रवर्त्तक रूप मे कोई भी एक ख्याति मान्य नही है, अख्याति ही मान्य है। इस अख्याति-सिद्धान्त मे जीवनगत किसी प्रकार की भी प्रवृत्ति के लिए किसी भी इष्ट या अनिष्ट मे इष्ट वस्तुगत असाधारण धर्म को विशेषण रूप मे विषय करने वाला या इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु मे इष्ट वस्तु का अभेद का ज्ञान अपेक्षित नही होता है किन्तु भेद का ज्ञान न हो पाना ही प्रवर्त्तक होना है।

चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इस अख्यातिवाद की आलोचना इस प्रकार की जा सकती है कि भेद की अख्याति से प्रवृत्ति होती है, ऐसा मानने पर सुषुप्त-व्यक्ति को भी प्रवृत्ति आपन्न होनी चाहिए। क्योकि सुषुप्तिकाल मे किसी प्रकार का भी ज्ञान मान्य न होने के कारण भेद की ख्याति का भी अस्तित्व नही बताया जा सकता। अत यह नही कहा जा सकता कि सुषुप्त व्यक्ति को इष्टभेद की ख्याति रहती है, अत वह प्रवृत्त होता नही। यदि अख्यातिवादियो की ओर से यह कहा जाय कि केवल भेद की अख्याति को प्रवर्त्तक नही मानना है किन्तु साथ ही इष्ट का ज्ञान भी प्रवृत्ति के लिए अपेक्षित मान्य होता है। सुषुप्तिकाल मे जिस प्रकार भेद की ख्याति नही रहती उसी प्रकार इष्ट की ख्याति भी रहती नही, इसलिए प्रवृत्ति होती नही, और प्रदर्शित स्थल मे या अन्य जागरणीय-स्थलो मे इष्ट वस्तु की ख्याति और भेद की अख्याति ये दोनो रहते हैं, अत प्रवृत्ति हो पाती है। तो इसके विरुद्ध इस चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे यह कहा जा सकता है कि ऐसा मानने पर जहा सुषुप्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण मे इष्ट का ज्ञान हुआ होगा वहाँ सुषुप्ति-द्वितीय क्षण मे अर्थात् उस इष्ट-ख्याति के तृतीय क्षणमे प्रवृत्ति की आपत्ति अनिवार्य होगी। क्योकि सुषुप्ति-प्रथम क्षण मे जो कि प्रकृत आपाद्य प्रवृत्ति का अव्यवहित पूर्व क्षण होगा, भेद की अख्याति भी रहेगी और इष्ट की ख्याति भी। यह कहना अख्यातिवादियो के लिए सहसा कठिन है कि इष्ट ख्याति को कार्यसहभूत रूप मे अर्थात् कार्य काल तक स्थायी रूप मे कारणता मान्य है। ऐसा मानने पर उक्त आपत्ति का निरा-

करण अनायास इसलिए हो जाता है कि उक्त इप्ट ख्याति अपने अग्रिम तृतीय क्षण मे नप्ट होने के कारण उस क्षण मे आपाद्य प्रवृत्ति की वह सहभूत वन नही पायेगी। अत इस प्रकार अख्याति को प्रवर्त्तक माना जा सकता है। क्योकि निमित्त कारण की अपेक्षा कार्य के लिए कार्य सहभावत, फलत कार्य-सहभूत रूप मे कही पायी जाती नही। तुरी और तन्तु के बीच होने वाला सयोग पट-कार्य के लिए अपेक्षित होते हुए भी ऐसा नही होता कि वह पट-कार्य का सहभूत होकर उसके लिए अपेक्षित माना जाय। क्योकि तुरी और तन्तु का सयोग तब तक रह नही पाता जब तक कि पट-कार्य विद्यमान रहता है। अत यह नही कहा जा सकता कि इप्ट-ख्याति को प्रवृत्ति के प्रति कार्य-सहभूत कारण मान कर अख्यातिवाद का समर्थन किया जा सकता है।

एतदतिरिक्त यहाँ इस अख्यातिवाद के विरुद्ध यह भी एक ध्यान देने योग्य वात है कि अख्यातिवादी-प्रभाकर के सिद्धान्त मे ज्ञान को अपने मत के अनुसार स्वप्रकाश माना जाता है, यह वात पहले भी बतलायी जा चुकी है। तदनुसार केवल "यह" और "रजत" इस प्रकार प्रत्यक्ष और स्मरण स्वरूप दो ज्ञान हो ही नही सकते। उनके मत मे प्रकृत दो ज्ञानो का आकार यह होना चाहिए कि "यह, इसे मै प्रत्यक्ष कर रहा हूँ" और "रजत, इस रजत को मै स्मरण कर रहा हूँ"। ऐसी परिस्थिति मे उनकी ओर से यह कैसे कहा जा सकता कि "यह" और "रजत" इस प्रकार दो ज्ञान होते है और इन दोनो मे स्वत तथा विषयत होने वाले भेदो को न जानने के कारण ही वह रजतार्थी ज्ञाता सीप की ओर अग्रसर हो उठता है। यदि प्रभाकर-साम्प्रदायिक लोग इस प्रकृत स्वकीय अख्यातिवाद को वचाना चाहेगे तो उनका उक्त प्रकार का ज्ञानगत स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त नप्ट हो जायेगा, और यदि वे ज्ञानगत उक्त प्रकार स्वप्रकाशत्व की रक्षा करना चाहेगे तो उक्त प्रकार अख्यातिवाद उनका ध्वस्त हो जायगा क्योकि उक्त दोनो ज्ञानो के अन्दर "प्रत्यक्ष कर रहा हू" और "स्मरण कर रहा हूँ" इनके द्वारा "यह" और "रजत" इन दोनो ज्ञानो मे विद्यमान भेद का स्फुटी-भाव होकर ही रहेगा। और भेद स्फुट रूप मे प्रतीत हो जाने पर यह कथन किस प्रकार सगत कहला पायेगा कि भेद की ख्याति होती नही अत उक्त प्रकार ज्ञाता प्रवृत्त हो उठता है ? अत गम्भीरतापूर्वक विवेचन करने पर अख्यातिवाद टिक नही पाता। यह यहा प्रत्यक्ष-स्थलीय प्रवृत्ति को लेकर विचार किया गया है। इसी प्रकार प्रभाकर-सम्मत अनुमिति उपमिति, आदि भ्रमस्थलीय प्रवृत्ति स्थल मे भी इस प्रकार की कठिनता, फैला कर दिखलायी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त अख्यातिवादियो से यह भी पूछा जा सकता है कि पवन अग्नियुक्त है" इत्यादि अनुमिति आदि स्थलो मे भी क्या "पवन' इस ज्ञान को अलग प्रत्यक्षात्मक और 'अग्नियुक्त है' इस ज्ञान को अलग स्मृत्यात्मक वे मानेगे ? यदि हा तो "यह पवन

अग्नियुक्त हे ऐमा मैं अनुमान कर रहा हूँ" ऐसा ज्ञान उनके मत मे नही हो पायेगा जैसा कि उनके सिद्वान्त के अनुसार होना चाहिए। इसके स्थान मे होगा इस प्रकार का ज्ञान कि "यह पर्वत हे इमे मै प्रत्यक्ष कर रहा हूँ" और "अग्नियुक्त है यह मै अनुमिति कर रहा हूँ"। ओर ऐसा मानने पर उस अग्न्यर्थी—आग के अनुमाता की प्रवृत्ति नियमत पर्वताभिमुख नही हो पायेगी जिस प्रकार हुआ करती है। क्योकि पर्वत मे अग्नियुक्तता न तो "यह पर्वत है इमे मै प्रत्यक्ष कर रहा हूँ" इस ज्ञान का विषय हो पायेगी और न "अग्नियुक्त है इसे मै जानता हू" इस ज्ञान का विषय हो पायेगी। यदि अख्यातिवादी यह कहें कि वहाँ भी अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति भेदाग्रह से ही होती है, तो जहाँ अनग्निपर्वत के सम्बन्ध मे "यह पर्वत है मुझे ऐसा प्रत्यक्ष हो रहा हे" और "अग्नियुक्त है ऐसा अनुमान कर रहा हूँ" इस प्रकार ज्ञान-द्वय होगा वहाँ की प्रवृत्ति को भी भेदाग्रह-मूलक ही मानना होगा। और ऐसा होने पर पर्वत मे आग की विद्यमानता और अविद्यमानता दोनो परिस्थितियो मे या तो प्रवृत्ति का साफल्य ही होना चाहिए या प्रवृत्ति का वैफल्य ही होना चाहिए। क्योकि भेद की अख्याति तो दोनो स्थलो मे ज्ञाता व्यक्ति के लिए समान ही रहेगी।

मानना उचित कहा जायगा। और ऐसा मान लेने पर सीप को चाँदी समझना आवश्यक होगा, रजतार्थी की सीप की ओर होने वाली प्रवृत्ति के लिए। यदि सीप को चाँदी समझ कर रजतार्थी की प्रवृत्ति सीप की ओर होती है यह बात मान ली जाय तो फिर वहाँ किसी-न-किसी ख्याति को ही स्वीकार करना होगा। भेद का अख्याति-मूलक अख्यातिवाद मान्य नही ठहराया जा सकता।

इस अख्यातिवाद के विरुद्ध यह भी एक ध्यान देने योग्य विषय है कि प्रवृत्ति के प्रति यदि भेदाग्रह को कारण माना जायगा तो निवृत्ति के प्रति भी भेदाग्रह ही कारण मान्य होगा। साराश यह कि किसी भी वस्तु मे यदि किसी भी व्यक्ति को अपने किसी इष्ट से अर्थात् अपनी इच्छा के विषयभूत किसी वस्तु से विभिन्नता ज्ञात नही होगी तो उस व्यक्ति की उस ओर होगी प्रवृत्ति और किसी व्यक्ति को किसी वस्तु मे यदि अपने अनिष्ट वस्तु की अर्थात् जिसे वह चाहता न होगा उस वस्तु की अभिन्नता ज्ञात होगी तो उस व्यक्ति को उस वस्तु की ओर से होगी निवृत्ति। अर्थात् वह व्यक्ति जो कि किसी वस्तु को ऐसी वस्तु से भिन्न नही समझता होगा जिसे कि वह अपने लिए अनिष्ट समझता होगा तो वह व्यक्ति उस वस्तु की ओर उसे पाने के लिए अग्रसर होगा नही, यह नियम मानना होगा। किन्तु ऐसा मानने पर आपत्ति यह होगी कि किसी भी वस्तु मे जब कि व्यक्तिविशेष को अपने इष्ट वस्तु के भेद एव अनिष्ट वस्तु के भेद दोनो का अग्रह रहेगा अर्थात् उस वस्तु को वह व्यक्ति न अपना इष्ट समझता होगा और न अनिष्ट, तब उस वस्तु की ओर उस व्यक्ति की प्रवृत्ति और उस वस्तु की ओर से उस व्यक्ति की निवृत्ति ये दोनो एक ही समय आपन्न हो उठेगी। क्योकि वहाँ इष्ट-भेदाग्रहस्वरूप प्रवृत्ति का कारण भी विद्यमान होगा और अनिष्ट-भेदाग्रहस्वरूप निवृत्ति का कारण भी विद्यमान रहेगा। एक ही व्यक्ति की एक ही वस्तु की ओर एक ही समय प्रवृत्ति और निवृत्ति मान्य हो नही सकती[११४]। एक ही व्यक्ति एक ही समय किसी भी एक ही वस्तु की ओर बढ भी रहा है और उस ओर से मुड भी रहा है ऐसा कभी देखा नही जाता। ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। अत इस आपत्ति को कोई भी व्यक्ति सह्य नही करार दे सकता। विशिष्ट ज्ञान को प्रवर्त्तक मानने पर यह आपत्ति इसलिए नही हो पाती कि कोई भी व्यक्ति एक ही समय एक ही किसी वस्तु को अपना

(११४) अपि च यत्र रगजतयोरिमे रजतरगे इतिज्ञान तत्रोभयत्र युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम्। रगेरग-भेद-ग्रहे रजते रजतभेद-ग्रहे चान्यथाख्यातिभयात्। त्वन्मते दोषादेव रगे रजतभेदाग्रहस्य रजते रगभेदाग्रहस्य च सत्त्वात्।

—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, गुणनिरूपण।

इष्ट एवं अनिष्ट भी समझ नहीं सकता। क्योंकि इष्टत्व और अनिष्टत्व आपस में हैं परस्पर अत्यन्त विरुद्ध। दो विरुद्ध धर्म एक ही किसी धर्मी में एक ही व्यक्ति के द्वारा एक ही समय यदि समझे जायें तो धर्मों का विरोध ही समाप्त हो जाय। इसलिए इष्ट-भेदाग्रह को प्रवृत्ति के प्रति कारण नहीं माना जा सकता। सुतरां विशिष्ट-ज्ञान को ही प्रवर्तक मानना होगा। सीप को चाँदी समझ कर लोग उसे प्राप्त करने के लिए सीप की ओर प्रवृत्त होते हैं यह निर्विवाद है। अतः यह भी मानना ही होगा कि उस प्रवृत्ति का सम्पादक ज्ञान है अज्ञान नहीं। इसलिए यह बिलकुल नहीं कहा जा सकता कि अख्याति ही मान्य है, किसी प्रकार की ख्याति नहीं।

अन्यथा-ख्याति—

बात बिलकुल सही है परन्तु अलौकिक सन्निकर्ष का अस्तित्व वहाँ दिखलाया जा सकता है। सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज ये तीन, प्रत्यक्ष-स्थल मे अलौकिक-सन्निकर्ष होते है यह बात विस्तृत रूप से न्याय-वैशेषिक-मत-सिद्ध प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के विवेचन के अवसर पर बतलायी जा चुकी है। और यह भी बतलाया जा चुका है कि दूर से किसी फूल को देखते समय द्रष्टा व्यक्ति को जो "यह फूल सुगन्धयुक्त है" इस प्रकार फूल के साथ उसके सुगन्ध का भी चाक्षुप-प्रत्यक्ष होता है ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के सहारे, तदनुसार सीप को चाँदी देखते समय भी, यह कहा जा सकता है कि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के सहारे सीप को चाँदी देखा जाता है। साराश यह कि सीप के साथ आँख का तो सयोगात्मक लौकिक ही सन्निकर्ष विद्यमान रहता है। रही बात दूरवर्त्ती चाँदी के साथ सन्निकर्ष के अस्तित्व की, तो सो, इस प्रकार ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष समस्या हल कर देता है कि किसी प्रकार की अनुपपत्ति अन्यथा-ख्याति की मान्यता मे रह नही जाती। चमकती हुई सीप को देख कर चमकती हुई चाँदी का स्मरण हो आना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। इसके अनुसार वह चाँदी का स्मरणात्मक-ज्ञान, प्रत्यक्ष-ज्ञान के द्वारा चाँदी के विषयीकरण के निमित्त, सन्निकर्ष हो जाता है। अत उस परिस्थिति मे, सीप की अन्यथा-ख्याति होती है अर्थात् रजतगत रजतत्व धर्म से पुरस्कृत रूप मे सीप का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है इस प्रकार मानने पर न तो कोई अनुपपत्ति दिखलायी जा सकती है और न आपत्ति।

कुछ ऐसे भी अन्यथा-ख्याति के स्थल मिलते है जहाँ कि किसी के विषयीकरणार्थ ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष का आश्रयण नही करना पडता है। उदाहरण के रूप मे ऐसा स्थल भलीभाति उपस्थित किया जा सकता है कि [११६]"जहाँ राँगे और चाँदी के दो टुकडे आसपास द्रष्टा के सामने विद्यमान हो और द्रष्टा असावधानतावश रागे को चाँदी और चादी को राँगा समझे, तो वह उसका समझना स्वरूप अन्यथा-ख्याति के लिए ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष की कोई आवश्यकता नही होती। क्योकि वहाँ राँगा और चादी दोनो के साथ आँख का सयोगात्मक लौकिक ही सन्निकर्ष विद्यमान रहता है। और उसीके सहारे रागे का चादी और चादी को रागा समझा जा सकता है। इसलिए जो लोग यह सोचते है कि अन्यथा-ख्याति की मान्यता के लिए ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष की मान्यता सर्वथा अनिवार्य है वह उनका सोचना सर्वथा सही नही कहा जा सकता। क्योकि सर्वत्र अन्यथा-ख्याति-स्थल मे उसके सम्पादनार्थ ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष अपेक्षित होगा ही, यह दावा नही किया जा सकता। जैसा कि प्रदर्शित उदाहरण से सर्वथा स्पष्ट है।

(११६) किंच यत्र रगरजतयोरिमे रजते रगे वेति ज्ञान जात तत्र न कारणबाधोऽपि।
—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, गुणनिरूपण।

रजत पर व्यावहारिकत्व का प्रतिभास किया जायगा उतने समय के लिए, उस निषेध-प्राति-भासिक-शुक्तिरजत को प्रातिभासिक-व्यावहारिकत्व से युक्त प्रातिभासिक मानना नितान्त आवश्यक होगा। ऐसी परिस्थिति मे प्रातिभासिक-व्यावहारिकता-युक्त रूप मे भी उस प्रातिभासिक शुक्तिरजत का त्रैकालिक निषेध फिर असम्भव हो जाता है। क्योंकि कुछ काल के लिए उक्त व्यावहारिकत्वात्मक प्रातिभासिक-धर्म उस प्रातिभासिक शुक्तिरजत पर रह जाता है। इस विकट परिस्थिति की उपस्थिति मे आखिर अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी उक्त ब्रह्माद्वैतियो को यही कहना पडता है, कि यह बात सही है कि प्रातिभासिक शुक्ति-रजत के त्रैकालिक-निषेध की प्रतीति के सम्पादनार्थ व्यावहारिकतायुक्त-रूप मे उस प्रातिभासिक-रजत की, जो कि निषेध्य होता है, प्रतीति आवश्यक होती है। परन्तु वह प्रातिभासिक-शुक्तिरजत-धर्मिक व्यावहारिकत्व की प्रतीति, अनिर्वचनीय-ख्याति-स्वरूप मान्य न होकर अन्यथा-ख्यातिस्वरूप मान्य है। कहने का तात्पर्य यह कि सीप, जिसमे या जिससे अवच्छिन्न चैतन्य मे रजत का अध्यास होता है, व्यावहारिक ही होता है। अत उस शुक्तिगत-व्यावहारिकता से युक्त रूप मे प्रातिभासिक-रजत को समझ लेना कठिन नही। इस प्रकार व्यावहारिकत्व-धर्मयुक्त रूप मे प्रातिभासिक-रजत की प्रतीति होने के कारण, उसका निषेध अप्राप्त का निषेध नहीं, प्राप्त का ही निषेध होता है। प्रातिभासिक-शुक्तिरजत मे व्यावहारिकता की प्रतीति इस प्रकार होगी कि "यह दृश्य-मान रजत व्यावहारिक है"। इस प्रतीति के अन्दर पश्चात्-निषेध्य-शुक्तिरजत स्वगत-धर्म प्रातिभासिकत्व से युक्त रूप मे प्रतीत न होकर उस व्यावहारिकत्व-धर्म से युक्त रूप म प्रतीत होता है, जो कि उसका निजी धर्म न होकर व्यावहारिक सीप का धर्म होता है। अत उस प्रतीति को अन्यथा-ख्याति मानना उनके लिए भी अति आवश्यक हो उठता है जो कि अनिर्वचनीय-ख्याति के मोह को फिर भी न छोड पाते।

स्फटिक मे देखी जाने वाली लाली प्रातिभासिक नही होगी, अनिर्वचनीय, आविद्यक[११७] नही होगी, अत वहाँ की स्फटिक-खण्डगत-रक्तता की प्रतीति, जो कि वहाँ विद्यमान द्रष्टा को होगी, अनिर्वचनीय-ख्याति न होकर, अन्यथा-ख्याति ही होगी। क्योकि वहाँ द्रष्टा की आँख जवापुष्पगत-रक्तिमा एव स्फटिक खण्ड दोनो से सम्बद्ध रहेगी। किन्तु वहाँ ही यदि ऐसी परिस्थिति हो कि द्रष्टा की आँख और जवापुष्प के बीच व्यवधान हो किन्तु रक्तजवा के सान्निध्य के कारण द्रष्टा स्फटिक को लाल देखे तो वहाँ के उस स्फटिकगत-रक्ततादर्शन को अनिर्वचनीय-ख्याति ही ब्रह्माद्वैत-सिद्धान्त मे माना जायगा, अन्यथा ख्याति नही। ब्रह्माद्वैतवादी-वेदान्तियो के इस निजी सिद्धान्त से ऐसा मालूम पडता है कि वे लोग विपर्ययात्मक-भ्रम-ज्ञान को दो भागो मे विभक्त मानते है, जैसे अन्यथा-ख्याति और अनिर्वचनीय-ख्याति। अनुमिति, शाब्द आदि परोक्ष-विभ्रम स्थल मे वे नियमत अनिर्वचनीय-ख्याति ही मानते हैं, अन्यथा-ख्याति बिलकुल नही। और अपरोक्ष-विभ्रम-स्थल मे आरोप्य के साथ भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष रहने पर मानते हैं अन्यथा-ख्याति और उसके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न रहने पर मानते है अनिर्वचनीय-ख्याति। जैसा कि ऊपर वर्णित हुआ है।

परन्तु वेदान्तियो का यह सिद्धान्त उचित इसलिए नही कहा जा सकता कि जब अन्यथा-ख्याति भी उन्हे माननी ही पडती है तब केवल उसे ही क्यो नही सर्वत्र मान्यता दी जाय भ्रम-स्थल मे ? वे क्यो नही ऐसा ही मानते, इसका कारण तो स्पष्ट है। क्योकि अनिर्वचनीय-ख्याति को बिलकुल मान्यता न देने पर उनका पूरा जगन्मिथ्यात्व ही चौपट चला जायगा। इसलिए स्थलविशेष मे अन्यथा-ख्याति को भी मान्यता देने के लिए बाध्य किये जाने पर भी वे सर्वत्र भ्रम-स्थल मे उसे मान्यता दे नही सकते। किन्तु उनका जगन्मिथ्यात्व बिगड जायगा इसलिए अनिर्वचनीय-ख्याति को मान्यता अवश्य देनी चाहिए इस बात से अन्य विवेचक भला क्यो सहमत होगा जो कि दृश्य-जगत् को स्थिर, पूर्ण-सत्य मानता है। अत तटस्थभाव से भी विवेचन करने पर यही उचित प्रतीत होता है कि जब अन्यथा-ख्याति को भी मान्यता उन्हें देनी ही पडती है तब उसके साथ अनिर्वचनीय-ख्याति को भी मान्य ठहराना सही नही।

चार्वाक-मत भी अन्यथा-ख्याति का ही उपासक—

उक्त प्रकार ख्याति-अख्याति आदि की मान्यता के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार मतो को देखते हुए यह प्रश्न विवेचको के अन्तस्तल मे उठना स्वाभाविक है कि चार्वाकीय-दृष्टिकोण

(११७) यत्रारोप्यमसन्निकृष्ट तत्रैव प्रातिभासिक वस्तूत्पत्तेरगीकारात्। अत-एवेन्द्रिय सन्निकृष्टतया जपा-कुसुमगत-लौहित्यस्य स्फटिके भान-सम्भवात् न स्फटिकेऽनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्ति। —वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद।

इनके अन्दर किसे पसन्द करता है ? तो चार्वाकीय-मतवाद की प्राचीनता एव दृश्य-जगत् के सम्बन्ध मे इसकी मान्यता की ओर ध्यान देते हुए,प्रतीत यह होता है कि भ्रम स्थलमे अन्यथा-ख्याति का सिद्धान्त सर्वप्रथम चार्वाकीय-दृष्टिकोण ने ही सम्भवत उपस्थित किया था । जिसे परवर्ती वैशेषिक एव नैयायिको ने दृश्य-जगत् की वास्तविकता के अनुकूल पाकर अपनाया । चार्वाक-मत की प्राचीनतमता का निरूपण आगे किया जायगा । उक्त बौद्ध-सम्मत आत्मख्याति को मान्यता देना चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे इसलिए भी कठिन प्रतीत होता है कि ज्ञान का निरूपण विषय के सहारे ही हुआ करता है । विषय को अमान्य कर देने पर ज्ञान का पता भी नही चल सकता । अथवा यो कहा जाय कि ज्ञान हो ही नही सकता । इसीलिए नैयायिको के मूर्द्धन्य आचार्य उदयन ने इस बात को माना है कि ज्ञान निराकार होने के कारण उसका वैलक्षण्य अर्थ के द्वारा अर्थात् स्थायी विषय के द्वारा ही सम्भव है"[११८]। जो सत्ता भूतात्मक-तत्त्व के बिना न उदित हो सकता और न प्रतीत हो सकता उसे ही अकेले मौलिक तत्त्व मान कर उसकी आधारशिला का स्थान लेने वाले भूतात्मक विषयो को न मानना कैसे बुद्धिमत्ता कही जा सकती ? बाह्य सारी वस्तुएँ जो कि दृश्य रूप मे सबके समक्ष उपस्थित है आन्तर क्षणिक विज्ञान के ही आकार है, यह बौद्ध विद्वानो का कथन भला कैसे सङ्गत कहा जा सकता ? क्योकि आकार कहने पर लम्बाई-चौडाई, नीचाई-ऊँचाई इत्यादि की ही प्रतीति होती हुई पायी जाती है। ऐसा आकार कभी किसी भी प्रकार अमूर्त आन्तर-विज्ञान का सम्भव नही कहा जा सकता । उक्त प्रकार का आकार भूततत्त्व मे ही सम्भव है स्वतन्त्र आन्तरविज्ञान मे नही । ऐसी परिस्थिति मे आन्तर-क्षणिक-विज्ञान ही तथ्य है और बाह्य सारे दृश्य उसी के आकार है, यह कथन सगत नही कहा जा सकता । ऐसी परिस्थिति मे क्षणिक विज्ञान मात्र की तत्त्व रूप मे मान्यता पर आधारित आत्म-ख्याति मान्य नही हो सकती ।

और भी एक बात यहा यह ध्यान देने योग्य है कि तत्त्वभूत आन्तर-विज्ञान जब कि क्षणिक अर्थात् बिलकुल क्षणमात्र स्थायी होगा तो उसे आकार ग्रहण करने का समय कैसे प्राप्त हो पायेगा ? जो स्वय स्वाभाविक क्षणनाश्यता के पजे मे फसा होगा, अपनी उत्पत्ति के क्षण के अनन्तर क्षण मे ही चल बसेगा, वह नट की तरह विभिन्न आकार परिग्रह करके विश्व रङ्गमच पर कैसे दृश्य बन कर उपस्थित हो पायेगा ? इसलिए भी क्षणिक-विज्ञान-मात्र-तत्त्वतावाद पर आधारित आत्मख्याति को मान्यता नही दी जा सकती ।

सबसे बडी जो कठिनता क्षणिक-विज्ञान-मात्र-तत्त्वतावादी आत्मख्याति-सिद्धान्त मे प्राप्त होती है वह है जातिक व्यवस्था का विलोप । जब कि श्रद्धा और विश्वासपूर्वक

(११८) अथनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् । —कुसुमाञ्जलि ।

यह मान लिया जाय कि क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तब भक्ष्य, भक्षण और भक्षक, शास्य, शासन एव शासक, उपदेश्य, उपदेश और उपदेष्टा, प्रमेय, प्रमा और प्रमाता इत्यादि सभी सर्वथा मिथ्या मान्य होंगे। और यदि ये सभी मिथ्या ही हो तो किसी भी प्रकार की व्यवस्था जो कि सभी लोगो की दृष्टि मे नितान्त आवश्यक है उचित रूप से चल नही सकती। सम्भवत इसी कमी के कारण बौद्ध लोग अव्यवस्थित उच्छृंखल-प्रवृत्ति के हो गये थे जिसके फलस्वरूप उनका सिद्धान्त एव उनकी विचारधारा का अस्तित्व यहाँ लुप्तप्राय हो गया। दृष्टिकोण तो ऐसा होना चाहिए जिससे कि स्वराष्ट्र एव पर-राष्ट्र की व्यावहारिक सुव्यवस्था स्थिर हो। इस क्षणिक-विज्ञान मात्र को ही तात्त्विक मान कर किसी भी राष्ट्र की सु-व्यवस्था स्थिर नही की जा सकती।

यह बात यद्यपि अवश्य मान्य है कि कोई भी दृष्टिकोण, कोई भी नया विचार किसी आवश्यकता के अनुसार ही उदित होता है। तदनुसार उक्त बौद्ध विचारधारा भी अवश्य ही किसी आगन्तुक समस्या के हल के लिए उदित हुई होगी किन्तु ऐसी विचारधारा अधिक दिनो तक टिकाऊ नही हो सकती। जो विचारधारा प्राणिजीवन के दैनन्दिन उपयोग मे न आ पाये उसे जनता सदा के लिए कैसे अपना सकती है? जो सिद्धान्त, यह तथ्य लोगो के समक्ष उपस्थित करे कि तुम और तुम्हारे इनमे कोई अन्तर ही नही है, वह भला क्योकर किसी भी वस्तु को अपने से अन्य किन्तु अपना समझ कर उसके लिए प्रवृत्त होगा? क्यो उसके लिए चेष्टाशील होगा? और प्रवृत्ति एव चेष्टा के बिना कोई भी व्यक्ति अपने अभि-प्रेत पदार्थ को कैसे पा सकता? इसीलिए तो नीतिकारो ने जगह-जगह पर यह कहा है कि परोसी हुई थाली किसी के सामने आ भी जाय तो वह जब तक अपने हाथ को नही चलायेगा, उस परोसी हुई थाली से कवल उठाकर मुँह मे नही ले जायेगा तब तक स्वय वह खाद्य पदार्थ मुँह मे नहीं जा घुसेगा। यदि कोई व्यक्ति खाद्य मुँह मे भी दे दे फिर भी जब तक वह व्यक्ति मुँह नही चलायेगा तब तक खाद्य उस व्यक्ति के पेट मे नही जा सकता। इसलिए उक्त बौद्ध-दृष्टिकोण किसी निर्वाण मात्र के इच्छुक व्यक्ति के लिए भले ही उपयुक्त हो सके किन्तु सासारिक वस्तुओ एव उनसे प्राप्त होने वाले उपभोगो के लिए इच्छुक व्यक्ति के लिए उपयुक्त नही कहा जा सकता।

सम्भवत इसीलिए कुछ बौद्ध विवेचक बाह्यास्तित्ववाद के उपासक बन गये। परन्तु क्षणिकत्व की वासना ने उन्हे भी छोडा नही। साथ ही वे परमाणुपुञ्जवाद को मान्यता दे बैठे। करते क्या? इस हरे-भरे जगत् को उन्हे निस्सार जो सिद्ध करना था। अत्यधिक अनुचित-प्रवृत्तिशील जनता को निवृत्ति की ओर जो उन्हे मोडना था। परन्तु विवेचना की कसौटी पर कसने के अनन्तर उन बाह्यास्तित्ववादी बौद्धो का सिद्धान्त भी जागतिक अपेक्षित सुव्यवस्था के लिए उपयुक्त नही कहा जा सकता। क्योकि सभी सासारिक वस्तुओ

को यदि परमाणुपुञ्ज रूप ही मान लिया जाय तो पथ्य-अपथ्य, खाद्य-अखाद्य, हेय-उपादेय आदि की वास्तविक सुव्यवस्था नही की जा सकती। उक्त दृष्टिकोण को वास्तविक प्राणि-जीवन का उपयोगी नही कहा जा सकता। बौद्ध दार्शनिको के निर्वाण-मार्ग पर उन्हे अग्रसर करने मे उसका भले ही कुछ उपयोग हो सके। अत चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे जो कि जागतिक उद्देश्यो को ठोस सत्य एव प्राणि-जीवन के लिए नितान्त उपयोगी मानता है उक्त बौद्ध दृष्टिकोण को उपादेय नही कहा जा सकता हे।

जब कि बाह्य परमाणुपुञ्जात्मक दृश्य को मान्यता देने वाले बौद्धदृष्टिकोण मे यह बल नही पाया गया कि उसके आश्रयण के सहारे जागतिक सुव्यवस्था बनायी जा सके, तब वह शून्याद्वैतवादी माध्यमिक-सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता जो कि जगत् को सर्वथा शून्य करार देकर अपने को भी शून्य ही सिद्ध कर दिखलाता। जो भला अपने को बिलकुल शून्य कहता हुआ कर्त्तव्य मार्ग भी दिखलाये उसकी बात पर वैसा ही व्यक्ति विश्वास कर सकता है, और कोई नही। सम्भव है कुछ लोग यहाँ यह कहने के लिए तत्पर हो कि व्यावहारिक जीवन तो जैसा लोगो को चलता आ रहा है वह चलता ही रहेगा। जो बौद्ध लोग क्षणिक-विज्ञान मात्र को तत्त्व मानते या परमाणुपुञ्जवाद का ही समादर करते है अथवा शून्य को ही तत्त्व मानते है उनकी जीवन-यात्रा क्या स्थगित रहती है? जिस प्रकार जागतिक वस्तुओ को स्थिर सत्य मानने वालो की जीवन-यात्रा निरन्तर भाव से चालू रहती है उक्त सभी बौद्ध विचारको की भी जीवनयात्रा उसी प्रकार अबाधित गति से चलती ही है। इसलिए केवल उक्त प्रकार उपहास मात्र से उक्त प्रकार बौद्धवाद को अनुपयुक्त ठहराना उचित नही ठहराया जा सकता। तो इसके उत्तर मे कहना यह है कि यही तो नितान्त अनुचित है कि दर्शन और आचरण मे बिलकुल सामजस्य न हो। दैनन्दिन जीवन जब कि उनका भी उसी प्रकार होगा जैसा कि प्रत्येक जागतिक वस्तुओ को स्थिर सत्य मानने वालो का, तब उस दर्शन को सर पर उठा कर क्या लाभ उठाया जा सकेगा? दर्शन है ज्ञान, अत उसका उपयोग इच्छा के द्वारा जीवन की दैनन्दिन प्रवृत्ति या निवृत्ति मे ही अवश्य होना उचित है।

होने पर भी परमाणुपुञ्ज दृश्य हो सकता है। अत दृश्यो की अदृश्यता की आपत्ति नही दी जा सकती। तो यह कथन इसलिए सही नही माना जा पायगा कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक मे तुल्यता नही है। एक भी केश निकटस्थ होने पर तो देखा जाता है परन्तु एक परमाणु को निकटस्थित होने पर भी कहाँ कोई देख पाता ? दूसरी बात यह कि घडे को यदि एक स्वतन्त्र अवयवी पार्थिव-द्रव्य न मान कर पार्थिव-परमाणुपुज माना जाय तो उसमे होने वाली एकता की बुद्धि उपपन्न नही हो सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धियाँ दो तरह की होती है यथार्थ एव अयथार्थ। घडे, कपडे आदि एक-एक दृश्य में होने वाली एकत्व की बुद्धि को यथार्थ-बुद्धि इसलिए नही कहा जा पायेगा कि इस पुजवाद की मान्यता-पक्ष मे घडे, कपडे आदि दृश्यो के अन्दर कोई भी, एक नही हो पायेगा। अनेक मे होने वाली एकता की बुद्धि को भला कैसे यथार्थ कहा जा सकता ? अयथार्थ भी उक्त एकत्व की बुद्धि को इसलिए नही कहा जा सकता कि अयथार्थ बुद्धि नियमत यथार्थ बुद्धिपूर्वक ही हुआ करती है। जो व्यक्ति सच्ची चाँदी को बिलकुल जानता नही उसे कभी सीप मे "यह चाँदी है" इस प्रकार अयथार्थ-बुद्धि नही होती। प्रकृत मे इसके अनुसार परमाणुपुजात्मक-घडे मे अयथार्थ एकत्व बुद्धि करने के लिए कही-न-कही एकत्व की यथार्थ बुद्धि कर लेनी होगी। परन्तु वह सर्वथा असम्भव होगी। क्योकि सारे दृश्य जब कि पुजात्मक ही होगे तो सचमुच एक कौन होगा ? जिसमे होने वाली एकत्व की बुद्धि यथार्थ होगी ? यदि यह कहा जाय कि किसी द्रव्य मे एकत्व की बुद्धि यथार्थ न होने पर भी द्रव्यगत गुणो एव क्रियाओ के अन्दर एक गुण मे, जैसे घडे के रूप मे, एव किसी एक पल्लव के एक कम्पन मे, होने वाली एकत्व की बुद्धि यथार्थ होगी। अत तत्पूर्वक अयथार्थ एकत्व-बुद्धि घडे, कपडे आदि में हो सकती है। तो यह कथन भी चार्वाकीय दृष्टिकोण से इसलिए सगत नही हो सकता कि यहाँ गुण और गुणी, क्रिया और क्रिया का आश्रय, इनमे भेद मान्य होता नही। ऐसी परिस्थिति मे घडा पुजात्मक होने पर उससे अभिन्न होने वाला रूप या कम्पन कैसे तत्त्वत एक हो सकता ? और यदि नही हो सकता तो उसमे होने वाली एकत्व की बुद्धि को यथार्थ बुद्धि कैसे कहा जा सकता ? अत परमाणु-पुजवाद मान्य नही हो सकता। पुज के अन्तर्गत एक परमाणु मे होने वाली एकत्व की बुद्धि यथार्थ होगी और उसके आधार पर पुजात्मक घट-पट आदि मे एकत्व की अयथार्थ बुद्धि होती है, यह इसलिए नही कहा जा सकता कि अणुत्व के कारण परमाणु का प्रत्यक्ष ही दुर्लभ है, फिर उसमे एकत्व की बुद्धि कैसे की जा सकती ? नही की जा सकती। अत इस प्रकार भी पुजात्मक घट-पट आदि प्रत्येक मे होने वाली एकत्व की बुद्धि का सम्पादन नही किया जा सकता।

इसी प्रकार बौद्धो के पुजवाद की मान्यता पक्ष मे घट-पट आदि मे होने वाले महत्त्व सम्बन्धी प्रत्यय का भी उपपादन असम्भव है। क्योकि पुज को पुजी से अतिरिक्त और

इसी प्रकार गुणगत विरोध को लेकर प्रतीयमान विरुद्ध धर्म की अनुपपत्ति दिखला-कर भी पुजवाद को नही स्थिर किया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह कि बौद्ध लोग चित्र-पट स्थल को लेकर जो उसकी एकता के विरुद्ध पुजता की सिद्धि इस प्रकार कह कर करते है कि रक्तता और अरक्तता ये दोनो धर्म आपस में सर्वथा विरुद्ध है, यह, "रक्त" और "अरक्त" इन दोनो शब्दो के सुनने पर अनायास प्रतीत होता है। चित्रपट यदि एक हो तो प्रतीयमान रक्तता और "अरक्तता" ये दोनो धर्म कैसे उस एक चित्रपट मे रह सकते ? अत चित्रपट को एक नही कहा जा सकता। बौद्धो का यह कथन भी उक्त सकम्पता और अकम्पता को लेकर किये गये कथन की खाण्डनिक युक्ति से अनायास खण्डित हो जाती है। तात्पर्य यह कि एक पट के भिन्न अवयवो मे रक्तता और अरक्तता इन दोनो प्रतीयमान धर्मों का अस्तित्व जब कि चार्वाक-सिद्धान्त मे उपपन्न हो सकता है तब रक्ता और अरक्तता इन विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व दिखला कर बौद्धो के द्वारा परमाणुपुजवाद का स्थिरीकरण सम्भव नही।

यहाँ यह भी ध्यान रखने की एक बहुत बडी बात है कि व्यवस्थित जगजीवन के प्रवाह-गत आनन्त्य को अक्षुण्ण बना रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि ज्ञानो को अर्थात् व्यवहार से सम्पर्क रखने वाले ज्ञानो को सही और गलत इन दो भागो मे विभक्त माना जाय। क्योकि ज्ञानगत इस विभाजन को मान्यता न देने का अर्थ यही होगा कि सारे व्यावहारिक ज्ञान या तो सही ही है, या गलत ही है। इस मान्यता का फल यह होगा कि ससार के सारे प्राणी या तो सर्वथा भ्रान्त होगे या सर्वथा अभ्रान्त। यदि सभी को भ्रान्त मान लिया जाय तब भी दण्ड-व्यवस्था नही चल सकती क्योकि दण्ड-व्यवस्थापक भी भ्रान्त ही मान्य होगा। कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यवस्थापक पद पर तभी आरूढ एव स्थिर रह सकता है यदि उसे जनता अभ्रान्त एव अपने अभ्रान्त-ज्ञान के अनुरूप उचित निर्णय देने वाला मानती है। परमाणु पुजमात्र की यथार्थता मानने पर लौकिक व्यवहार से सम्पृक्त सभी प्राणियो के अन्तर्गत होने वाले सारे मानवो को एक जैसा ही भ्रान्त मानना होगा अत कभी किसी भी विपय के सम्बन्ध मे वह निर्णायक नही बन पायेगा। व्यवस्था करने वाला नही मान्य होगा। जिसका कुफल यह होगा कि वर्त्तमान को अतीत से और अनागत को वर्त्तमान से यथासम्भव समानता को, यो कहा जाय कि सूसन्तुलन को, सरक्षित रखने वाली

भिक्षुको एव भिक्षुणियो के लिए भी दण्ड एव प्रायश्चित्त की व्यवस्था उन ग्रन्थो मे पायी जाती है ? तो इनका उत्तर यह समझना चाहिए कि यही तो कहना है कि वे पुजवादी भी सचमुच अपने इस कपोलकल्पित पुजवाद का अपने जीवन मे नही उतार पाये थे। उनका यह सिद्धान्त केवल उस कागजी घोडे पर ही आरूढ था जो कि चलाने पर भी नही चल पाता था। यहा तक कि उनके अपने छोटे-से व्यावहारिक जीवन के आगन मे भी नही हिल-डुल पाता था। तभी तो वे व्यावहारिक जीवन मे इष्ट का उपादान और अनिष्ट का ज्ञान कर पाते थे। उपेक्षणीय उनके सिद्धान्त मे भले ही न मान्यता हो, क्योकि उसे भी वे हेय ही मान लेते थे। परन्तु हेय और उपादेय तो मान्य थे ? क्या वे हान और उपादान से बिलकुल परे थे ? ऐसा तो सम्भव नही। क्योकि यदि विचार की कसौटी पर कसके देखा जाय तो यही तो है जीवन। मृत शरीर किसे कहा जाता है ? उसी को तो, जो कि हान और उपादान बिलकुल नही करता ? उस मृत शरीर के अन्दर भी जो कीट या कीटाणु हान और उपादानयुक्त रहते है वे जीवित ही कहलाते है। फलत जीवन की इस परिभाषा के अनुसार यदि वे परमाणु-पुजमात्रवादी जीवित थे तो वे भी औरो की तरह ही व्यावहारिक जीवन बिताते थे, यह मानना ही होगा। अत उनका वह कल्पित परमाणु-पुजवाद उनके जीवन मे नही उतरा था। उनके जीवन से वह सदा और सर्वथा असम्पृक्त ही था। वह दर्शन क्या जो कि उसके प्रवर्त्तक के जीवन मे भी न उतर पाये ? अत यह मानना ही होगा कि वह पांजिक-विचारधारा या तो गलत थी या उसके मूल मे कोई तात्कालिक उद्देश्य, रहस्य रूप मे छिपा था।

यहाँ इस प्रकार उपन्यस्त होने वाला यह विचार केवल हीनयानी बाह्यास्तित्ववादी बौद्धो की ही दार्शनिक विचारधारा से सम्पर्क नही रखता अपितु महायानी बौद्धो की क्षणिक-विज्ञान-सन्तान-मात्र विचारधारा और शून्याद्वैत-विचार-धारा भी उसी प्रकार इसमे सम्पृक्त होती है जिस प्रकार उक्त हीनयानी बौद्धो की पारमाणविक-पुञ्ज-विचार-धारा। क्योकि गम्भीर-भाव से विचार करने पर वे बौद्ध विचारधाराए भी व्यावहारिक जीवन स्तर पर बिलकुल पाँव नही रख पाती। वे प्रयत्न चाहे कितनी भी क्यो न करे उन विचारधाराओ मे बहने वाले, परन्तु उनका परिश्रम व्यर्थ चला जायगा। वे सच्ची ठोस दाण्डिक-व्यवस्था का उपपादन कर नही सकते। अपने दृष्टिकोण को लेकर अपना भी जीवन नही चला सकते ? जब वे तत्त्वत सभी वस्तुओ को समान रूप से क्षणिक-विज्ञान ही समझेगे तो अपनी प्रवृत्ति और निवृत्ति का कुछ भी कारण बतला सकेंगे ? कभी नही। यदि वे सचमुच सबको शून्य ही समझें, यहाँ तक कि अपने को भी शून्य ही समझे तो क्या वे एक पग भी आगे-पीछे हो सकते ? कभी नही। यह बात बिलकुल सही है कि वैसा मानना या वैसा कहना सर्वथा मिथ्याचार होगा जिसे कि

मानने एव कहने वाला अपने जीवन के साथ कुछ भी सम्बन्ध न जोड सके। अत यह अनिच्छापूर्वक भी मानना ही होगा कि बौद्धो की उक्त ख्यातियाँ एव उन पर आधारित विचारधाराएँ या तो सही नही थी या उनके प्रवर्त्तन का भी रहस्य कुछ और था।

अनिर्वचनीय-ख्याति की परिस्थिति कुछ और तरह की है सही, क्योकि सम्भवत इसी ओर ध्यान देकर ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियो ने पारमार्थिक और प्रातिभासिक इन दो सत्ताओ के बीच तीसरी एक व्यावहारिक सत्ता भी मानी, चार्वाक-दर्शन का मानो उन पर प्रभाव पडा।[११९] उन्होने देखा कि इस दृश्य-जगत् को शून्याद्वैतवादी बौद्धो की तरह आकाश-कुसुम-तुल्य कह कर सर्वथा असत् या क्षणिक-विज्ञान-मात्र-तत्त्वतावादी योगाचार-साम्प्रदायिक बौद्धो की तरह स्वाप्न-दृश्य-तुल्य या जाग्रद्-दृश्य-शुक्तिरजत आदि-तुल्य नही कहा जा सकता। क्योकि आशा-मोदक और वास्तविक व्यावहारिक मोदक इन दोनो मे कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिए। आशामोदक कोई भी व्यक्ति निरन्तर जीवन-भर खाता रहे उसे उससे रुकने के लिए बाध्य होने की परिस्थिति नही आयेगी। मानसिक चिन्तामात्र की बात जो ठहरी। परन्तु वास्तविक व्यावहारिक मोदक को कोई निरन्तर खाता नही रह सकता। पेट भर जाने पर वह खाने वाला व्यक्ति किसी भी प्रकार और खा नही सकता। ऐसी परिस्थिति मे उक्त दोनो प्रकार के मोदको को एक कैसे कहा जा सकता ? आग मे प्रवेश करने का चिन्तन कोई निरन्तर कर सकता है किन्तु व्यावहारिक प्रज्वलित आग मे कोई प्रवेश नही कर सकता। ऐसी परिस्थिति मे चैन्तनिक-अग्नि-प्रवेश और व्यावहारिक अग्निप्रवेश दोनो को एक कैसे कहा जा सकता ? इस प्रकार की अगणित पारिस्थितिक अन्तरो ने ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियो को भी यह मानने के लिए बाध्य करके ही छोडा कि जागतिक दृश्य प्रातिभासिक नही, वे अपेक्षाकृत प्रातिभासिक दृश्यो से कही अधिक सत्य है। इसीलिए इन वेदान्तियो ने यहाँ तक कहा कि "यह दृश्य जगत् तब तक बिलकुल सही, सर्वथा प्रामाणिक है, जब तक अद्वैत-ब्रह्म का साक्षात्कार न हो जाय। अद्वैत-ब्रह्म का साक्षात्कार तो हुआ किसी को, और हो रहा है ? फिर क्या है ? व्यावहारिक दृश्य जगत् सर्वथा ठोस, सर्वथा सत्य ही रह गया। सचमुच तरीका अच्छा निकाला। इतना ही नही, अद्वैतब्रह्म मीमासा का अधिकारी भी ऐसे लोगो को करार दिया कि कोई भी व्यक्ति ऐसा मिले या न मिले इसका बिलकुल ठिकाना नही। वेदान्त-दर्शन के आरम्भ मे ही यह कहा गया कि नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहिक

(११९) यद्वा त्रिविध सत्त्वम्। पारमार्थिकसत्त्व ब्रह्मण। व्यावहारिक सत्त्वमाकाशादे प्रातिभासिक सत्त्व शुक्तिरजतादे।

—वेदान्त-परिभाषा, अनुमान-परिच्छेद।

एव पारलौकिक फल के उपभोग मे पूर्ण वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा आदि अर्थात् अन्तरिन्द्रिय का निग्रह एव बहिरिन्द्रिय का निग्रह, सहनशीलता इत्यादि तथा मुमुक्षा अर्थात् मोक्ष के लिए प्रबल इच्छा ये चार जिस किसी व्यक्ति को अविच्छिन्न-रूप मे प्राप्त हो, वही है वेदान्त सुनने एव पढने का अधिकारी। सोचिये कितनी बडी अग्नि-परीक्षा है वेदान्तदर्शन की विचारधारा मे प्रवेश के लिए ? क्या कोई भी एक व्यक्ति इस परीक्षा मे खरा उतरेगा ? कभी नही। एक नित्य-अनित्य वस्तुओ के विवेक को ही लिया जाय। सचमुच नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक तो तभी हो पायेगा जब कि अद्वैत-ब्रह्म को ही तात्त्विक और अन्य वस्तुओ को अतात्त्विक समझेगा। क्योकि वेदान्तियो के यहा मे नित्यता और अनित्यता की सच्ची परिभाषा तात्त्विकता और अतात्त्विकता के अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकती। यह इसलिए कि वेदान्त का यह अटल सिद्धान्त है कि जो है वह कभी नष्ट नही हो सकता और जो है नही वह कभी हो नही सकता। यदि सिद्धान्त रूप मे इसे पूर्ण रूप मे मान न लिया जाय तो अद्वैत-निष्ठा हो भी तो नही सकती ? क्योकि ऐसा न मान लेने पर यह निर्णय कैसे सम्भव हो पायेगा कि अनन्त-भविष्य मे भी कोई और तात्त्विक पदार्थ नही निकल आयेगा ? ऐसी परिस्थिति मे जब कि किसी व्यक्ति को नित्य एव अनित्य वस्तु का विवेक होगा, तो उसका आकार अर्थात् विविक्त रूप मे ज्ञान यही होगा कि ब्रह्म ही वस्तु अर्थात् त्रिकाल मे अबाधित है और सभी कुछ यहाँ तक कि जगत् का परिणामी उपादान अज्ञान जिसे अन्य शब्दो मे माया, अविद्या आदि शब्दो से भी कहा जाता है त्रिकालबाध्य है अर्थात् तात्त्विक वस्तु नही है। परन्तु किसी भी व्यक्ति को यदि *ऐसा ज्ञान पहले ही हो जायेगा, जिसे कि वेदान्त ज्ञान के लिए सर्व प्राथमिक* अधिकार बतलाया गया है, तो फिर उसे ब्रह्म को समझने के लिए प्रवृत्ति क्या होगी ? श्रवण, मनन आदि के पचडे मे क्यो पडने जायगा ? अद्वैत-वेदान्त के विवेचको ने इस प्रश्न को सक्षेप मे उठा कर जो इसका उत्तर दिया है वह अन्य दार्शनिको के समक्ष भले ही अमोघ उत्तर सिद्ध हो, परन्तु चार्वाकीय-दृष्टिकोण के निकट वह किञ्चित्कर नही हो सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्तियो ने उक्त प्रश्न के उत्तर मे यह कहा है कि ज्ञान दो तरह के होते हैं परोक्ष और अपरोक्ष। तदनुसार जिस व्यक्ति को परोक्ष रूप मे ब्रह्म की अबाध्यता स्वरूप नित्यता का ज्ञान हो लेगा वह अपरोक्ष रूप में अद्वैत ब्रह्म मात्र को त्रिकालाबाध्य समझने के लिए वेदान्त की शरण मे आयेगा। श्रवण, मनन और निदिध्यासन करेगा। परन्तु यह उत्तर चार्वाकीय-विचारधारा के समक्ष कारगर इसलिए नही हो पायेगा कि यहाँ विस्तृत विचारपूर्वक यह सिद्ध कर दिया जा चुका है कि ज्ञान अपरोक्ष ही होता है, परोक्ष नही। अत परोक्ष का सहारा उत्तर मे नही लिया जा सकता।

जा सकता।

कहाँ तो ब्रह्माद्वैती लोग ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ सत् मानते ही नही, अपने के शब्दो मे यह डिण्डिमघोषपूर्वक घोषित करते है कि "पहले केवल सत् ब्रह्म ही था कुछ भी नही" और जब उक्त प्रश्न उनके सामने रखा गया तो यह कहने लगे कि "ये चीजें अनादि है।" क्या पहले एक सत् मात्र का होना, और उक्त छ का भी ह ये दोनो परिस्थितियाँ विरुद्ध नही ? अवश्य विरुद्ध है। ऐसी परिस्थिति मे अद्वैतवे न्तियो के कथन को कैसे मान्यता दी जाय ?

अन्य एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उस दृश्य जगत् को वेदान्ती लो यह कह कर मिथ्या सिद्ध करते है कि पारमार्थिक रूप से यह दृश्य जगत् न कभी था, और न अभी है, एव न कभी रहेगा, अत त्रिकालबाधित है, और इसी लिए मिथ्या है।[121] परन्तु यहाँ सोचना यह भी तो चाहिए कि जिस प्रकार पारमार्थिक रूप में दृश्य जगत् का अभाव लिया जाता है उसी प्रकार व्यावहारिक एव प्रातिभासिक रूप मे ब्रह्म का भी तो अभाव लिया जा सकता है ? ऐसी परिस्थिति मे जगत् की तरह ब्रह्म भी बाध्य क्यो न हो जाय ? और यदि ऐसा मान लिया जाय तो माध्यमिक बौद्ध सम्प्र-

(१२०) जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योग षडस्माकमनादय ॥ —अद्वैतसिद्धि।

(१२१) नहि तत्र रजतत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावो निषेधधी-विषय । किन्तु लौकिक-पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक । व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताका-भावाभ्युपगमात् । —वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद ।

देखने वाला देख पाये अपनी इच्छा के अनुसार गोल। अत यह मानना सर्वथा उचित है जैसा कि वेदान्तियो ने भी माना है। इस मान्य सिद्धान्त की ओर ध्यान देने पर वेदान्तियो को यह मानना ही पडेगा कि उनका सिद्धान्त उनके मान्य मोक्ष के लिए जिस पूर्ण वैराग्य एव पूर्ण औदास्य तथा पूर्ण नैष्कर्म्य की अपेक्षा बतलाता है कभी होने वाला सम्भव नही। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ तक व्यावहारिक जीवन की सुश्रृंखलता एव सुव्यवस्था के लिए शम और दम की अपेक्षा है सुदृढ प्रयत्न एव सुदृढ चेष्टा के अनन्तर यदि उतना भी शम और दम लोगो को प्राप्त हो तो वही बहुत बडी बात होगी। उससे अधिक उसके सम्बन्ध मे आशा करना व्यर्थ है। इतिहास इसका साक्षी है। जिन वेदव्यास को वेदान्त का सर्वाधिक प्रवर्त्तक माना जाता है, वेदान्तदर्शन का प्रणेता कहा जाता है क्या उन्हे वह हार्दिक परिस्थिति प्राप्त थी जिसे वेदान्त सिद्धान्त मे मोक्ष के लिए अति आवश्यक माना जाता है? क्या वे अपने पुत्र शुकदेव के गृहत्याग के अवसर पर रोते हुए, पुत्र-पुत्र पुकारते हुए उनके पीछे-पीछे दौड नही पडे थे? क्या श्रीमद्भागवत मे लिखित यह बात झूठ है? सही नही है? वह झूठ है सही नही है यह बात तो वेदान्ती लोग भी नही कहेगे। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह वैराग्य, वह नैष्कर्म्य सर्वथा असम्भव है जिसकी अपेक्षा वेदान्ती लोग परम मुक्ति के लिए बतलाते हैं। तभी तो शून्याद्वैतवादियो ने यह कहा कि जब तक आत्मा के अस्तित्व का मोह न छोडोगे, शून्यता को नही अपनाओगे तब तक निर्वाण नही प्राप्त हो सकता। अत सन्यास और नैष्कर्म्य सर्वथा असम्भव है जिस पर वेदान्त का सिद्धान्त आधारित है।

साथ ही यह भी एक गम्भीरतापूर्वक विवेचनीय है कि निवृत्ति भी तत्त्वत एक प्रकार की प्रवृत्ति ही है। यदि ऐसी बात न होती तो किसी यन्त्र को कार्यार्थ प्रवर्त्तन के लिए जिस प्रकार यान्त्रिक-व्यक्ति को कुछ करके उस यन्त्र को प्रवृत्त करना पडता है, उसे रोकने के लिए, निश्चल बनाने के लिए भी व्यक्ति को कुछ करना नही पडता, वह स्वत बन्द हो जाता। किन्तु ऐसा होता नही। किसी यन्त्र की निष्क्रियता में भी मौलिक रूप से प्रवृत्ति का हाथ रहता ही है। और प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाधनता ज्ञान को ही वेदान्ती लोग करण मानते हैं। अत निवृत्ति-स्थल मे भी काम्यात्मक इष्ट एव उसका साधन इन दोनो से छुटकारा नही लिया जा सकता और सर्वथा प्रवृत्ति-राहित्य नही बतलाया जा सकता। तभी तो मोक्ष की इच्छास्वरूप मुमुक्षा का समादर साधन-चतुष्टय के अन्दर वेदान्ती लोग करते है। ऐसी परिस्थिति मे यह कैसे कहा जा सकता कि पूर्ण-नैष्कर्म्य, पूर्ण त्याग, पूर्ण औदास्य, सम्भव है?

वेदान्त के सम्बन्ध मे यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि ब्रह्माद्वैत-वेदान्तियो के अन्दर भी जीव की एकता और अनेकता को लेकर गृहकलह है। जो लोग जीव को

से विषयीकृत होते नही। क्योंकि जहाँ "घडा है" इस प्रकार प्रतीति होती है वहाँ कपडे का विषयीकरण होता नही और जहाँ "कपडा है" इस प्रकार प्रतीत होती है वहाँ घडा का विषयीकरण होता नही। परन्तु सत्ता का विषयीकरण इस प्रकार कही भी व्यभिचरित होता नही। ऐसी कोई प्रतीति नही दिखलायी जा सकती है जिसमे "है" इस प्रकार सत्ता का विषयीकरण होता नही। ऐसी परिस्थिति मे सचमुच सत्ता ब्रह्म की ही माननी चाहिए और "घडा है", "कपडा है" इत्यादि सारी जागतिक वस्तु-विषयक प्रतीतियो के विषयभूत घडे, कपडे आदि मे प्रतीयमान सत्ता सचमुच ब्रह्म की ही होती है, उन विषयो की निजी नही। परन्तु वेदान्तियो का यह कथन कैसे सगत कहला सकता ? क्योकि वेदान्ती लोग भी जिस ब्रह्म को विषय तक नही मानते सर्वथा अहेय एव अनुपादेय मानते, सर्वथा क्रियामात्र से, सर्वदा असम्पृक्त मानते, उसे लेकर व्यावहारिक जीवन मे भला क्या लाभ उठाया जा सकता ? ज्ञान कही भी स्वत फल होता हुआ नही दिखाई देता कि यह समाधान उपस्थित किया जा पायेगा कि जिज्ञासुओ को ब्रह्म का ज्ञान होगा यही फल कहा जा सकता है, अत ब्रह्म की सत्ता अपेक्षित है। इस पर यदि यह कहा जाय कि ज्ञान स्वत फल न हुआ तो क्या हुआ सफल तो होता ही है ? यदि कोई भी व्यक्ति सकीर्ण मार्ग पर पडी हुई रस्सी को साँप समझ कर डर से काँपता हुआ खडा हो, आगे बढ न पाता हो, और पीछे या अगल-बगल मुडने की भी परिस्थिति न हो, ऐसी परिस्थिति मे किसी विश्वस्त व्यक्ति के कथन से यदि उस डरे खडे व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाय कि "यह साँप नही, रस्सी है" तो उसका भय, कम्प आदि हट जाते है या नही ? अवश्य हट जाते है। ऐसी परिस्थिति मे ब्रह्मज्ञान स्वत फल नही होने पर भी मुक्ति-सम्पादक रूप मे सफल तो होगा ही। अत ब्रह्मज्ञान अपेक्षित होने पर उसके विषयरूप मे ब्रह्म भी अपेक्षित होगा। तो यह कथन इसलिए उचित नही हो पायेगा कि वेदान्त सिद्धान्त मे ब्रह्म विषय कहाँ माना जाता है ? जो विषय ही न हो पाये उसका ज्ञान कैसा ? दूसरी वात यह भी कि मुक्ति होगी कैसे ? क्योकि वेदान्तसिद्धान्त मे नयी कोई भी वस्तु तो होती नही। न सत् का अभाव हो सकता है और न असत् का भाव। ऐसी परिस्थिति मे कैसे यह कहा जा सकता कि "ब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति मिलेगी ? क्योकि यदि मुक्ति कोई वस्तु है तो अवश्य पहले से ही है। और यदि पहले से नही है तो कोई भी शक्ति उसे वना नही सकती। यदि कहा जाय कि यह नियम भावात्मक वस्तु के लिए है, अभावात्मक के लिए नही। मुक्ति तो वेदान्त-सिद्धान्त मे अविद्या की निवृत्तिस्वरूप है। वह निवृत्ति भावात्मक नही, अभावात्मक है। अत उसके लिए सत्कार्यवाद लागू नही हो सकता। वह ब्रह्म के ज्ञान से निष्पन्न हो सकती है। तो यह कथन भी इसलिए सगत नही कहा जा सकता कि आरोप जैसे निराधार नही हो सकता निवृत्ति भी उसी

षष्ठ प्रकरण

चार्वाक-मत और अप्रमा के प्रभेद

विवेचित अप्रमा ज्ञानो को नैयायिक एव वैशेषिक दार्शनिक लोग तीन प्रभेदो मे वर्गीकृत मानते हैं। उनका कहना यह है कि [123] सशय, विपर्यय और तर्क इन तीन प्रभेदो मे अप्रमा ज्ञान को विभक्त समझना चाहिए। परन्तु यहाँ चार्वाक सिद्धान्त मे तर्क को अप्रमाज्ञान का प्रभेद नही मानना है। कहने का तात्पर्य यह कि नैयायिक लोग तर्क की परिभाषा यह करते हैं कि "व्याप्य के आरोप से होने वाला व्यापक का आरोप है तर्क। वे कहते हैं कि धूम और अग्नि इन दोनो के बीच कार्यकारण-भाव समझने वाला व्यक्ति पर्वत मे धूम को देखते हुए यह सोचता है कि यदि इस पर्वत मे आग न हो तो आग से ही उत्पन्न होने वाला धूम कैसे यहाँ देखा जा सकता ? अर्थात् यह पर्वत यदि अग्नियुक्त न मान्य हो, तो धूमयुक्त भी नही हो सकता यह ज्ञान लोगो को होता है। यह ज्ञान एव अन्यस्थलीय एतत्सदृश अन्य भी सारे ज्ञान होते हैं तर्क। तर्क का काम यह होता है कि ज्ञापक मे ज्ञाप्य के व्यभिचार की शका को वह मिटा डालता है। जैसे धूम अग्नि की उक्त प्रकार व्याप्ति से युक्त है या नही ? इस प्रकार उदित होने वाली शका का वह निराकरण करता है। यह इसलिए कि धूमार्थी व्यक्ति अग्नि चाहता है यह लोकप्रसिद्ध ही रहता है। यदि अग्नि धूम का उत्पादक न हो, उन दोनो के बीच कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध स्थापित न हो, तो यह लौकिक स्थिति क्यो हो कि धूमार्थी व्यक्ति पहले अग्नि-सग्रह करे। अत इन दोनो के बीच कार्यकारण-भाव अवश्य है। अग्नि है धूम का जनक और धूम है अग्नि-जन्य। ऐसी परिस्थिति मे वह धूमद्रष्टा यह सोचता है कि जहाँ आग न हो वहाँ धूम भी नही होना चाहिए। एतदनुसार वह धूमद्रष्टा इस विषय पर सदा के लिए निर्णय प्राप्त कर लेता है कि धूम अवश्य ही आग का व्याप्य है। अत तर्क मे ज्ञापक मे ज्ञाप्य के व्यभिचार की शका हटायी जाती है, यह है तर्क का प्रयोजन। और वह है ज्ञानात्मक। नैयायिक एव वैशेषिको का इस तर्क के सम्बन्ध मे यह भी कहना है कि इसके द्वारा वास्तविक व्याप्यव्यापक-भाव का यथार्थ निश्चय होता है। अत है तो यह

(१२३) अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणज·। स त्रिविध.—
सशय स्तर्को विपर्यय श्चेति। —तर्कभाषा।

जाने वाली किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे उसके विपरीत शङ्का के उदय होने पर उसके निरासार्थ उक्त वैपरीत्य के सम्बन्ध मे किया जाने वाला दोष कथन है तर्क" यह निर्वचन "पर्वत अग्नियुक्त है क्योकि धूमयुक्त है" इस प्रकार अनुमान स्थल मे इस प्रकार लागू होता है कि जो व्यक्ति इस अनुमान के विपरीत यह सन्देह उपस्थित करेगा कि धूमगत जिस अग्नि-व्याप्ति के आधार पर तुम पर्वत मे अग्नि का अनुमान करते हो वही सन्दिग्ध है, अनिर्णीत है। अत उक्त अनुमान सही नही कहा जा सकता कि पर्वत अग्नियुक्त है। तो इसके विपरीत पर्वत में अग्नि का निर्णय रखने वाला व्यक्ति उसे यह कहेगा कि "यदि पर्वत में आग न हो तो वहाँ धूम भी नही होगा" यह कथन ही होगा तर्क। यह तर्क यह बतलायेगा कि धूमार्थी व्यक्ति जब कि अग्नि के लिए प्रवृत्त होता हुआ पाया जाता है तो धूम कभी आग के बिना हो नही सकता। फलत जहाँ आग नही होगी वहाँ धूम भी नही हो सकता। ऐसी परिस्थिति मे यदि पर्वत मे आग का अस्तित्व नही माना जायगा तो धूम का अस्तित्व, जो कि प्रत्यक्षसिद्ध है नही वन पायेगा। यह तर्क प्रत्यक्ष का भी साहाय्य करता है इसके उदाहरण के रूप मे उक्त कर्ममीमासको ने यह कहा है कि न्याय-वैशेषिक एव मीमासा आदि दर्शनसिद्धान्त मे घट-पट आदि स्वतन्त्र अवयवी द्रव्य मान्य है। वहाँ यदि वाह्यास्तित्ववादी वौद्धो की ओर से यह कहा जाय कि घट-पट वृक्ष आदि की जो प्रतीतियाँ हुआ करती है उनके विषय परमाणुपुञ्ज ही होते है स्वतन्त्र अवयवी द्रव्य नही। तो इसके विरुद्ध यह तर्क ही उपस्थापित होकर घट-पट आदि के प्रत्यक्षो का साहाय्य करता हुआ घटपट आदि अवयवी द्रव्य का निर्णय करायेगा कि "यदि घट-पट आदि को स्वतन्त्र अवयवी द्रव्य न मान कर परमाणुपुञ्ज रूप ही माना जायगा तो घट-पट आदि का प्रत्यक्ष जो कि सभी को होता है उपपन्न नही हो पायेगा" इस तर्क-वाक्य का अभिप्रेत अर्थ यह होगा कि घडे, कपडे आदि प्रत्येक वस्तु को "यह एक है और वडा है" इस रूप से प्रत्यक्ष किया जाता है। यह प्रत्यक्ष तभी सम्भव हो सकता है जव कि स्वतन्त्र अवयवी माना जाय। परमाणु मे महत्त्व न होने के कारण वह चाहे एक हो या उसका पुञ्ज हो उक्त प्रकार प्रत्यक्ष वन नही सकता। अत अवयवी मानना चाहिए। इस प्रकार तर्क प्रत्यक्ष प्रमाण का भी सहकारी वनता है। फलत तर्क की उपादेयता मान्य होने पर भी उसे ज्ञानात्मक न होकर शब्दात्मक होने के कारण अप्रमात्मक ज्ञान का प्रभेद नही माना जा सकता।

नैयायिक एव वैशेपिक लोग तर्क के अतिरिक्त सशय को भी अप्रमाज्ञान मानते है। सशय ज्ञान के सम्वन्ध मे प्राचीन नैयायिको का कहना यह है कि सशय ज्ञान को[१२५] साधारण-

(१२५) समानानेक-धर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्धि-व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्श सशय २३। —न्यायदर्शन।

विद्यमान वस्तु की होती है और कही वस्तु न रहने पर भी उस वस्तु की भ्रमात्मक प्रतीति हो जाती है। अत इस वस्तुस्थिति की ओर ध्यान जाने पर द्रष्टा को दृष्ट वस्तु के सम्बन्ध मे यह सन्देह हो उठता है कि "सचमुच वह वस्तु वहाँ है या नही ?" जैसे श्याम का ध्यान यदि इस बात की ओर चला जाता है कि कभी तो जलाशय मे सचमुच विद्यमान जल "यह जल है" इस रूप मे प्रतीत होता है और कभी जल के न होते हुए भी मरुमरीचिका मे "यह जल है" इस प्रकार जल की प्रतीति होती है। तो श्याम को "वह जल है" इस प्रतीति के होते हुए भी यह सन्देह अवश्य हो उठता है कि "वह सचमुच जल है या नही ? अत इस प्रकार होनेवाला सशय कहलाता है "उपलब्धि की अव्यवस्थाजनित सशय"। उपलब्धि की अव्यवस्था है उसकी अनियतता। इसी प्रकार अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी सशय होता है। क्योकि कही सचमुच वस्तु के न होने के कारण उसकी उपलब्धि अर्थात् प्रतीति होती नही और कही वस्तु के रहते हुए भी किसी अन्य प्रतिबन्धक की विद्यमानता-प्रयुक्त उसकी उपलब्धि होती नही। अत अनुपलब्धि की इस अनियमितता की ओर जब अनुपलब्धा व्यक्ति की दृष्टि जाती है तब किसी अपेक्षित वस्तु को ढूँढने वाला वह व्यक्ति उस वस्तु को न पाता हुआ भी इस प्रकार सन्देह करता है कि "क्या वह वस्तु सचमुच यहाँ नही है या होते हुए भी नही पायी जा रही है ?" प्राचीन-नैयायिक लोग सशय के कारण गत उक्त पञ्चविधता के आधार पर सशय को पञ्चविध माना है। परन्तु परवर्ती नैयायिको ने इसमे कटौती की है। उन्होने यह कहा कि सशय के प्रति कारण साधारण-धर्मज्ञान, असाधारण-धर्मज्ञान और विप्रतिपत्ति इन तीनो को ही मानना चाहिए। उनका हृद्गत आशय यह है कि उपलब्धि की अव्यवस्था स्थल मे उपलब्धि, और अनुपलब्धि की अव्यवस्था स्थल मे अनुपलब्धि, ये दोनो फलत साधारण ही धर्म हो जाते है। अत उन दोनो स्थलो मे होने वाले सशय भी साधारण-धर्मज्ञान-प्रयुक्त ही हो जाते है। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने सशय की उक्त पञ्चविधता की मान्यता मे यह युक्ति दी है कि साधारण एव असाधारण धर्म ज्ञेयस्थ होते है किन्तु उपलब्धि एव अनुपलब्धि ज्ञेयस्थ न होकर ज्ञातृस्थ होते है। अत महर्षि गौतम ने सशय को पञ्चविध माना है। परन्तु परवर्ती नैयायिको को यह युक्ति कोई ऐसी प्रबल जँची नही। अत उन्होने तीन को ही मान्यता दी।

किन्तु वैशेषिक लोग इस मतवाद से भी सहमत हुए नही। उन्होने यह कहा कि साधारण-धर्मज्ञान और विप्रतिपत्ति इन दोनो से ही सशयज्ञान की उत्पत्ति होती है। अत यदि कारणगत भेद के आधार पर सशय का विभाजन अभीष्ट हो, तो सशय-ज्ञान को दो भागो मे ही विभक्त समझना चाहिए। वैशेषिको के इस कथन के मूल मे रहस्य यह छिपा है कि ये लोग असाधारण-धर्मदर्शन मे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को सशय नही मानते। उस ज्ञान को

परिभाषा अनुचित नही कही जा सकती, तो यह कथन इसलिए उचित नही होगा कि "यह स्थाणु है या पुरुष" इस आकार से उक्त भाव और अभावकोटिक सशयद्वय स्वरसत प्राप्त नही होता। और यहाँ कथञ्चित् इस प्रकार कह सकने पर भी जहाँ काव्यात्मक वाक्यो के अन्दर ऐसा कहा जायगा कि "यह चन्द्र है या कमल है या रमणीमुख ?" तो इससे होनेवाली प्रतीति अवश्य सशय होगी। यहाँ "यह चन्द्र है या नही", "यह कमल है या नही", "यह रमणी मुख है या नही ?" इस प्रकार भाव और अभावकोटिक सशयत्रय इसलिए नही बनाया जा सकता कि उक्त वक्ता का अभिप्राय प्रत्येक कोटिगत-सौन्दर्य को विषय करता हुआ प्रतीत होता है। सशयत्रय बनाने पर अभावकोटि मे सौन्दर्य का विषयीकरण सम्भव नही हो पाता।

नैयायिको की सशयीय-परिभाषा के सम्बन्ध मे कहना यह है कि "निश्चयभिन्न ज्ञान है सशय" इस परिभाषा के अन्दर निश्चय की परिभाषा के सम्बन्ध मे प्रश्न उपस्थित करने पर यह भी कहा जा सकता है कि "सशय से भिन्न ज्ञान है निश्चय"।

और ऐसा कहने पर परिस्थिति यह प्राप्त होगी कि सशय और निश्चय दोनो के उक्त निर्वचन असगत हो उठेंगे। क्योकि जब तक निश्चय का निर्वचन नही हो पायेगा तब तक तद्भिन्न रूप मे सशय का उक्त निर्वचन नही बन पायेगा। और जब तक सशय का निर्वचन नही हो पायेगा तब तक तद्भिन्न रूप मे निश्चय का भी निर्वचन नही हो पायेगा। फलत इस पद्धति से सशय और निश्चय दोनो ही अनिर्वचनीय हो उठेगे। साधारण आदि उक्त धर्मों के ज्ञान से होने वाला ज्ञान है सशय, यह भी सशय की परिभाषा इसलिए उचित नही हो पायेगी कि साधारण धर्म का ज्ञान तो एक कोटि का निश्चय हो जाने पर भी होता ही है, अत उस कारण के रहने के कारण सशय की धारा अविच्छिन्न हो उठेगी जिसे कि इष्ट नही कहा जा सकता। क्योकि वस्तुस्थिति यही है कि जिस वस्तु का निश्चय हो जाता है उस निश्चय के परवर्ती क्षण मे उस वस्तु का सन्देह नही होता। इस पर यदि यह कहा जाय कि ज्ञान को सशय होने के लिए साधारण आदि उक्त धर्मज्ञानजन्यता के समान विशेषापेक्षा भी आवश्यक होती है। कहने का तात्पर्य यह कि साधारण धर्म का ज्ञान हो और साथ ही विशेष धर्म का निश्चय उस धर्मी मे न होने के कारण विशेष धर्म की जिज्ञासा हो तब सशय होगा। विशेष धर्म का निर्णय हो जाने पर उसके सहारे वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाने के कारण सशय हो पाता नही। इसीलिए निश्चय हो जाने के अनन्तर साधारण धर्म के ज्ञान के रहने पर भी सशय होता नही। क्योकि विशेष धर्म-जिज्ञासात्मक विशेषापेक्षा रह जाती नही। तो यह कथन भी युक्त इसलिए प्रतीत नही होगा कि तब तो "विशेषापेक्ष ज्ञान है सशय" इतना ही सशय की परिभाषा का आकार पर्याप्त होगा। अत साधारण-धर्म का ज्ञान सशय विशेष की उत्पत्ति के लिए भले ही अपेक्षित हो किन्तु सशय की परिभाषा

के अन्दर उसका प्रवेश व्यर्थ हो उठेगा। क्योंकि विशेषापेक्षा की आवश्यकता कहने से ही यह व्यक्त हो उठता है कि उस विशेष-जिज्ञासु व्यक्ति को सामान्य-धर्म का ज्ञान पहले रहेगा ही।

यदि यह कहा जाय इस पर, कि रहे यही संशय की परिभाषा कि "विशेषापेक्ष ज्ञान है संशय" तो यह कथन भी इसलिए नहीं उचित हो पायेगा कि ऐसा मानने पर वस्तु का निश्चय हो जाने पर भी तद्गत विशेष की अपेक्षा रहने पर निश्चित वस्तु के सम्बन्ध में भी सन्देह की आपत्ति हो उठेगी। क्योंकि विशेषापेक्षा तो रहेगी ही। साधारण-धर्म का ज्ञान भी रहेगा ही। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि "यह आम है" इस प्रकार आम फल का निश्चय होते हुए भी वह मीठा है या नहीं यह जिज्ञासा भलीभाँति हो सकती है। उस जिज्ञासा को विशेषापेक्षा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता? साधारण धर्मज्ञान और विशेषापेक्षा दोनों उक्त परिस्थिति में रह जाने के कारण "यह आम है" इस निश्चय के रहते हुए भी "यह आम है या नहीं" इस प्रकार सन्देह अनिवार्य हो उठेगा। जैसा कि होता नहीं। अतः संशय का निर्वचन यही उचित प्रतीत होता है "जिज्ञासा का उत्पन्न करने वाला ज्ञान है संशय"। इसका अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु के सम्बन्ध में लोगों को पूर्ण रूप में निर्णयात्मक ज्ञान हो जाता है उस वस्तु के सम्बन्ध में जिज्ञासा फिर होती नहीं। उस विषय को जानने की उत्सुकता उस निश्चयवान् व्यक्ति को होती नहीं यह अनुभवसिद्ध है। साथ यह भी अनुभवसिद्ध है कि जिस व्यक्ति को जिस वस्तु के सम्बन्ध में संशयात्मक ज्ञान होता है उस व्यक्ति को उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है अर्थात् वह व्यक्ति उस सन्दिग्ध वस्तु को निर्णयात्मक रूप में जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। सुतरां इस वस्तुस्थिति के आधार पर संशय का इस प्रकार निर्वचन भलीभाँति किया जा सकता है कि "जिज्ञासा का अर्थात् निर्णयात्मक ज्ञान की इच्छा का जनक ज्ञान अर्थात् उक्त निर्णयात्मक ज्ञान की इच्छा को उत्पन्न करने वाला ज्ञान है संशय। इस निर्वचन को मान्यता देने पर उक्त "यह क्या है" इस प्रकार होने वाला अनध्यवसायात्मक ज्ञान भी संशय लक्षणाक्रान्त हो जाने के कारण संशय ही हो जाता है। उसकी अतिरिक्त ज्ञानता का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। क्योंकि "यह क्या है" इस आकार की इच्छास्वरूप जिज्ञासा "यह क्या है," एतदाकारक ज्ञान से उत्पन्न होती ही है। संशय के सम्बन्ध में इस प्रकार विवेचन करने पर यह भी एक नयी बात निकल आती है कि संशय ज्ञान को लोग न तो अप्रमाज्ञान कहते हैं वह भी सही नहीं है। क्योंकि यह "यह क्या है" इस प्रकार होने वाला अनध्यवसायात्मक संशय ज्ञान तद्भाववान् में तत्प्रकारक होने वाला होता नहीं। किन्तु जिज्ञासा विषयता स्वरूप जिज्ञासितत्व को विशेषण करने वाला होता है। तदभावयुक्त में तत्प्रकारक होने वाला ज्ञान अर्थात् जो जहाँ न हो वहाँ होने वाला उसका ज्ञान होता है

अप्रमात्मक, यह बात पहले कही जा चुकी है। "यह क्या है" यह ज्ञान जब कि तद्भाववान् मे तत्प्रकारक नही है तब अप्रमालक्षण से आक्रान्त न होने के कारण इसे अप्रमाज्ञान नही कहा जा सकता।

अब यहाँ प्रश्न यह उठ खड़ा होगा कि "तो क्या सशय ज्ञान को प्रमात्मक मानना उचित होगा? तो इसके उत्तर मे वक्तव्य यह है कि नही, सशय को अप्रमा की तरह प्रमा भी नही मानना है। उचित यही प्रतीत होता है कि सशय ज्ञान को प्रमात्व और अप्रमात्व इन दोनो धर्मों से रहित एक प्रकार तृतीय ज्ञान ही मानना उचित प्रतीत होता है। इसीलिए दाण्डिक-क्षेत्र मे न्यायाधीश को जब अभियुक्त के सम्बन्ध मे अपराध का न तो निर्णय हो पाता है और न अपराध के अभाव का, तब वह अपने निर्णयपत्र मे अपने अपराधानध्यवसाय का ज्ञापन करके दण्डनिर्णय मे अपनी असमर्थता बतलाता है। इसलिए सशय को प्रमा और अप्रमा दोनो से परे ज्ञान मानना ही उचित प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध मे एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि "यह पर्वत अग्नियुक्त है या नही" इत्यादि भाव और अभावकोटिक सशय स्थल मे दोनो कोटियो के अन्दर एक किसी-न-किसी कोटि को लेकर वह ज्ञान अवश्य ही तदभावयुक्त मे तत्प्रकारक होगा। क्योकि अग्नि और अग्नि का अभाव ये दोनो आपस मे विरुद्ध होने के कारण दोनो तो एकदा एकत्र रह सकते नही। ऐसी परिस्थिति मे सशयात्मक ज्ञान को अप्रमाज्ञान मानना उचित है यह यदि कोई व्यक्ति कहे तो उसके उत्तर मे यह भी तो कहा जा सकता है कि तब उस ज्ञान को प्रमा ही क्यो न माना जाय? क्योकि विरुद्ध दो कोटियो के अन्दर एक कोटिक परिस्थिति तो सही निकलेगी ही। उस कोटि को लेकर तद्वान् मे तत्प्रकारक भी होने के कारण उस ज्ञान को उक्त प्रकार से जैसे अप्रमाज्ञान कहने का दावा किया जाता है उसी प्रकार उसे प्रमाज्ञान कहने का भी दावा भलीभाँति कोई कर सकता है। परन्तु यह भी कहना कठिन इसलिए प्रतीत होता हे कि प्रमात्व और अप्रमात्व ये दोनो आपस मे अत्यन्त विरोधी होने के कारण एक ही ज्ञान मे एकदा रह नही सकते। प्रमात्व और अप्रमात्व ये दोनो सयोग और उसके अभाव की तरह अव्याप्य-वृत्ति अर्थात् अपने आश्रय के कुछ अश मे ही रहने वाले नही है कि एक वृक्ष मे कपिसयोग और कपिसयोग के अभाव इन दोनो की तरह एक सशयात्मक ज्ञान मे एकदा दोनो को रखा जा सके। यह इसलिए भी कहना कठिन है कि आश्रय की सावयवता स्थल मे ही उसमे विभिन्न अवयव को लेकर विभिन्न विरोधी वस्तुओ को रखा जा पाता है। वृक्ष यदि सावयव न होता, उसके मूल शाखा आदि विभिन्न प्रदेश न होते, तो उस वृक्ष मे भला कैसे कपिनयोग और कपिमयोग का अभाव ये दोनो रह पाते। विभिन्न वृक्षावयवो को लेकर ही मूल देश मे कपिमयोग का अभाव और शाखा देश मे कपि-सयोग विद्यमान है यह कह सब एक ही वृक्ष को कपिमयोग और कपिसयोग का अभाव दोनो से युक्त बतलाया

जा पाता है। प्रकृत मे ज्ञान कोई सावयव वस्तु नही कि उसके विभिन्न अवयवो को लेकर प्रमात्व और अप्रमात्व इन दोनो परस्परविरोधी धर्मो को लेकर एक ही सशय ज्ञान को प्रमात्मक और अप्रमात्मक दोनो बतलाया जा सके। अत सशय ज्ञान को अप्रमाज्ञान नही ठहराया जा सकता। फलत अप्रमाज्ञान निर्भेद है उसके प्रभेद मान्य नही हैं। सम्भवत इन्ही सब बातो की ओर ध्यान देते हुए सशय को स्वतन्त्र अप्रमाज्ञान मानने मे विभिन्न प्रकार की कठिनाइयो को देख कर मिश्र वाचस्पति ने गौतम के प्रत्यक्ष सूत्र के विवेचन के अवसर पर अपनी "वार्तिक-तात्पर्य टीका मे" सशय के सम्बन्ध मे अपना यह नवीन दृष्टि-कोण उपस्थित किया है कि "सशय भी नियत को अनियत रूप मे विषय करने के कारण व्यभिचारी ही ज्ञान हो जाता है, अत सूत्रगत "अव्यभिचारि" इस पद से ही उसकी प्रत्यक्षता निराकृत हो जाती है अत सशय मे प्रत्यक्षता की आपत्ति के निराकरणार्थ निश्चयात्मक अर्थक "व्यवसायात्मक" यह विशेषण सूत्रकार गौतम ने अपने सूत्र मे दिया है यह बात नही कही जा सकती। वाचस्पति के इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे सशय को अप्रमा मानते हुए भी विपर्यय के ही अन्तर्भुक्त मानते हैं। परन्तु विपर्यय के अन्दर उसे तभी अन्तर्भुक्त किया जा सकता यदि सारे सशय तदभाववान् में तत्प्रकारक ही होते। किन्तु ऐसे होते नही। तद्वान् मे तत्प्रकारक भी होते ही हैं यह बात बतलायी जा चुकी है। इसलिए सशय को प्रमा और अप्रमा दोनो से बहिर्गत ही मानना उचित प्रतीत होता है। अब सम्भव यहाँ यह है कि कुछ लोग यह प्रश्न यहाँ उठावे कि यह बात कैसे सगत कही जा सकती है? क्योकि आचार्य उदयन ने अपनी कुसुमाजलि मे यह कहा है कि "परस्पर दो विरुद्ध वस्तुओ की उपस्थिति स्थल मे प्रकारान्तर स्थिति होती नही"[१२८] इसीलिए तो नैयायिक एव वैशेषिक लोग भाव और अभाव इन दो वस्तुओ से अतिरिक्त कोई वस्तु मानते नही? प्रमात्व और अप्रमात्व भी तो इसी प्रकार परस्पर विरोधी है ऐसी परिस्थिति मे प्रत्येक ज्ञान को प्रमा और अप्रमा इन्ही दो के अन्दर किसी एक मे गतार्थ होना चाहिए। इन दोनो से बाहर कोई भी ज्ञान कैसे मान्य हो सकता? तो यह कथन इसलिए सगत नही कहा जा सकता कि नैयायिक एव वैशेषिक लोग निर्विकल्पक ज्ञान को न तो प्रमात्मक मानते हैं और न अप्रमात्मक। दोनो से अतिरिक्त ही मानते यह बात प्रसिद्ध है। ऐसी परिस्थिति मे सशय के सम्बन्ध मे ही ऐसा प्रश्न क्यो सगत हो पायेगा? सच बात तो यह है कि उक्त भाव और अभाव का दृष्टान्त यहाँ लागू नही हो पाता। क्योकि "हाँ" और "ना" इनके अतिरिक्त अथवा माध्यमिक कोई परिस्थिति सम्भव नही। परन्तु प्रमा और अप्रमा के अतिरिक्त करोडो पदार्थ विद्यमान है। क्योकि प्रमात्व और अप्रमात्व ये केवल ज्ञान-धर्म है विषय-धर्म

(१२८) परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तर-स्थिति। —न्यायकुसुमाञ्जलि।

नही। अत यह कथन सगत नही कहला सकता कि प्रमा भी न हो, अप्रमा भी न हो ऐसी वस्तु अप्रसिद्ध है। यदि इस पर यह कहा जाय कि यह बात और कोई दार्शनिक भले ही कह पाये किन्तु भूताद्वैतवादी चार्वाकीय-दृष्टिकोण को अपनाने वाला यह नही कह सकता है कि प्रमात्व और अप्रमात्व ये ज्ञान के धर्म हैं विषय धर्म नही। क्योकि भूत से अतिरिक्त जब कोई चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे है ही नही, तब सारे धर्म और धर्मी वहाँ जाकर अभिन्न ही हो जायेगें। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि चार्वाकीय-भूताद्वैत भेद-सहिष्णु मान्य है, यह बात पहले भी कही जा चुकी है। अत अवान्तर सारे भेद सही रह जाते हैं कोई अनुपपत्ति रहती नही।

अथवा सशय को केवल प्रमा एव केवल अप्रमा से अतिरिक्त प्रमा और अप्रमा एत-दुभयात्मक भले ही मान लिया जाय किन्तु सर्वथा अप्रमात्मक ही नही माना जा सकता। युक्ति पहले कही जा चुकी है। कहने का तात्पर्य यह कि सशयो को प्रथमत निष्कोटिक और सकोटिक इन दो भागो मे विभक्त समझना चाहिए। जिनके अन्दर "यह क्या है" इस प्रकार होनेवाला सशय होता है निष्कोटिक और अन्य सशय होते है सकोटिक। सकोटिक-सशयो को फिर भावमात्र-कोटिक एव भावाभावोभय-कोटिक रूप मे दो भागो मे विभक्त समझना चाहिए। भावमात्रकोटिक सशयो को फिर कोटिद्वय-युक्त, कोटित्रयादि-युक्त रूप मे विभक्त समझा जा सकता है। इसी प्रकार भावाभावोभय-कोटिक सशयो को भी कोटिगत-द्वित्व एव त्रित्वादि के आधार पर विभक्त किया जा सकता है। सभी सकोटिक सशयो को प्रबलैक कोटिक और समबल-सकलकोटिक इन दो भागो मे विभक्त समझना चाहिए। इन दोनो प्रभेदो के अन्दर प्रबलैक-कोटिक सशयो को फिर इष्ट-प्रबल-कोटिक और अनिष्ट-प्रबल-कोटिक—इन दो प्रभदो मे वर्गीकृत समझना उचित है। इष्ट-प्रबल-कोटिक सशय स्थल मे प्राणियो को इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति होती है और अनिष्ट-प्रबल-कोटिक सशय स्थल मे प्रवृत्ति होती नही। निष्कोटिक सशय स्थल मे प्रवृत्ति तभी होती है जब कि उसके साथ उत्सुकता भी होती है। अन्यथा प्रवृत्ति होती नही।

किये गये इस विस्तृत विचार से यह स्थिर हो गया कि नैयायिक वैशेषिक आदि दार्श-निको ने जो सशय ज्ञान को बिलकुल अप्रमात्मक माना है उसे उचित नही कहा जा सकता।[१२९] या तो सशय को प्रमा और अप्रमा दोनो ज्ञान-प्रभेदो से अलग उसी प्रकार मानना चाहिए जैसे वे लोग निर्विकल्पक ज्ञान को अपने सिद्धान्त मे प्रमा और अप्रमा दोनो

(१२९) तच्छून्ये तन्मतिर्यास्यादप्रमा सा निरूपिता।
तत्प्रपञ्चो विपर्यास सशयोऽपि प्रकीर्त्तित ॥
—भाषापरिच्छेद, गुण-निरूपण।

से परे मानते । या प्रमा और अप्रमा उभय रूप मानना चाहिए। इससे फलितार्थ यह प्राप्त होता है कि सर्वथा अप्रमा होने वाला ज्ञान केवल एक विपर्यय ही है अन्य कोई नही। वाचस्पति मिश्र ने जो सशय को भी व्यभिचारी ज्ञान कह कर एक प्रकार से विपर्यय ज्ञान मे ही गतार्थ माना है उसे मान लेने पर भी यद्यपि इस निर्णय मे कोई बाधा नही उपस्थित होती कि अप्रमा ज्ञान सर्वथा निर्भेद है। विपर्यय ही केवल सर्वथा अप्रमाज्ञान है। क्योकि प्रतिपादित पद्धति से सशय को प्रमाप्रमात्मक मानने पर भी वह एक प्रकार से नृसिहकल्प हो जाता है। नृसिह को जैसे केवल नर या केवल सिह नही कहा जा सकता तैसे प्रमाप्रमात्मक सशय को भी केवल अप्रमा नही कहा जा सकता। अत अप्रमा ज्ञान निष्प्रभेद है। केवल विपर्यय ही अप्रमाज्ञान है यह निर्णय सर्वथा अक्षुण्ण है। यहाँ सशय विशेष की निष्कोटिकता के ख्यापन से नव्यनैयायिको का वह सशय-निर्वचन भी अनायास आलोचित हो जाता है कि कोटिताख्य-विषयताशाली ज्ञान है सशय। और भी उसके सम्बन्ध मे अधिक वक्तव्य यह हो सकता है कि यदि कोटिता नामक विषयता सशय की ही होगी तो विषयता, ज्ञान निरूप्य होने के कारण अवश्य ही उस कोटिताख्य विषयता को सशय निरूप्य मानना होगा। फलत उस कोटिता से सशय का निरूपण और सशय से उस कोटिता का निरूपण मान्य होगा इसलिए ज्ञप्तिगत अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो उठेगा। क्योकि कोटिता को समझे बिना सशय को नही समझा जा पायेगा और सशय के बिना कोटिता को नही समझा जा सकेगा।

चार्वाक-मत और अप्रमात्व का परतस्त्व–

प्रमात्मक ज्ञानगत प्रमात्व के उत्पत्ति एव ज्ञप्तिगत स्वतस्त्व एव परतस्त्व सम्बन्धी विचार पहले किया जा चुका है। तदनुसार विवेचित अप्रमाज्ञान गत अप्रमात्व स्वत होता एव ज्ञात होता या नही ? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। तो इसके सम्बन्ध मे अधिकतर दार्शनिको का यही मत है कि अप्रमात्व होता भी है परत और जाना भी जाता है परत । नैयायिक, वैशेषिक और वेदान्ती तथा कर्ममीमासक सभी लोग इस बात पर राजी है कि ज्ञान मे अप्रमात्व होता है दोष प्रयुक्त। और वह ज्ञात भी होता है प्रवृत्ति की निष्फलता के अनुभव के अनन्तर ही। कुछ बौद्धो का कहना यह है कि अप्रमात्व, ज्ञान मे स्वत होता भी है और गृहीत भी होता है। उनका अभिप्राय यह है कि आन्तर विज्ञानाकार मे जब कि बाह्यता की प्रतीति होती है तब यह मानना ही होगा कि बाह्य रूप मे होने वाली सारी प्रतीतियाँ अप्रमा ही होती है। एव उन अप्रमाओ मे होने वाला अप्रमात्व जो कि आन्तर विज्ञान के आकार से अतिरिक्त और कुछ हो सकता नही, वह गृहीत भी होता है स्वत । क्योकि इस सिद्धान्त मे किसी का ग्रहण एव गृहीत होने वाली वस्तुएँ सभी विज्ञानाकार ही

हैं तदतिरिक्त नही। अत यदि विचार कर देखा जाय तो "पर" है ही नही फिर प्रमात्व परत होता एव गृहीत होता है यह भला कैसे कहा जा सकता ? अत अप्रमात्व न परत होता है और न परत उसका ग्रहण ही होता है।

किन्तु इस भेद-सहिष्णु भूताद्वैतवादी चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे ज्ञानगत अप्रमात्व स्वत न होता है और न गृहीत ही होता है। क्योकि ज्ञान मे अप्रमात्व को यदि स्वत माना जाय तो सारे ज्ञान अप्रमा-ज्ञान ही हो उठेगे। अन्यथा-ख्याति ही अन्यथा-ख्याति हो जायगी। परन्तु यह भी सम्भव इसलिए नही कि अन्यथा-ख्याति कही सत्ख्याति को मान्यता देकर ही हो सकती है। अब रही बात यह कि वह "पर" कौन है यत्प्रयुक्त ज्ञान मे अप्रमात्व होता है ? तो इस सम्बन्ध मे समझना यह चाहिए कि बाह्यभूत के साहाय्य से ज्ञान प्रमात्मक होता है यह बात पहले कही जा चुकी है। तदनुसार यहाँ यह समझना चाहिए कि विषयात्मक बाह्यभूत का साहाय्य प्राप्त नही होने के कारण ज्ञान अप्रमात्मक हो उठता है। अत "परत" पद घटक "पर" पद से उक्त बाह्यभूत से साहाय्य की अप्राप्ति को लिया जा सकता है। इसलिए ज्ञानगत अप्रमात्व मे उत्पत्तिगत परतस्त्व मान्य होता है। और ज्ञप्तिगत परतस्त्व इसलिए अप्रमात्व मे मान्य है कि उक्त नैयायिक वैशेषिक आदि मत के समान यहाँ भी चेप्टा की विफलता का अनुभव करने के अनन्तर भूत-ज्ञान को अप्रमात्मक समझा जाता है।

चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे प्रमाता और अप्रमाता

प्रमा और अप्रमा इन दोनो का विवेचन अवसित होने पर प्रमाता और अप्रमाता के स्वरूप के सम्बन्ध मे जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है। सभी दार्शनिक इस बात से तो सहमत पाये जाते हैं कि प्रमाता एव अप्रमाता है आत्मा। परन्तु वह आत्मा क्या है एव कैसा है ? इस प्रश्न का उत्तर सभी दार्शनिको की ओर से एक नही प्राप्त हो सकता। बाह्यास्तित्ववादी एव क्षणिकविज्ञानाद्वैतवादी तीनो बौद्धो का इस सम्बन्ध मे कहना यह है कि क्षणिक आलय-विज्ञान-धारा ही है आत्मा। और शून्याद्वैतवादी माध्यमिक-साम्प्रदायिक-बौद्धो का कहना यह है कि मेरे मत मे जब कि सभी सासारिक वस्तुएँ शून्य ही है तब आत्मा भला उससे बाहर कैसे जा सकता ? अत शून्य ही आत्मा है। जब इस वादी के समक्ष कोई यह प्रश्न उपस्थित करता है कि फिर यह अनुभूयमान जागतिक व्यवहार कैसे सम्पन्न हो पाता है ? तो उत्तर मे इनका यह कथन होता है कि जिसे व्यवहार कहा जाता है वह भी तो तत्त्वत शून्य से अतिरिक्त और कुछ नही है ? ऐसी परिस्थिति मे जागतिक व्यवहार सम्बन्धी अनुपपत्ति का प्रश्न स्थान कहा पाता है ? इस शून्यता के सम्बन्ध मे शून्याद्वैतवादी बौद्धो की युक्ति यही है कि स्वाभाविक परिस्थिति है सुपुप्ति। उसमे जब कि कुछ

रहता नही तब उस शून्य-परिस्थिति को ही तात्त्विक मानना चाहिए। ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती-लोगो का कहना यहाँ यह है कि आत्मा सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। सत् का अर्थ होता है सत्य और चित् का अर्थ ज्ञान एव आनन्द का अर्थ है सुख। आत्मा को ये लोग सत् इसलिए मानते हैं कि आत्मा को छोड कर अन्य सारी प्रतीयमान वस्तुएँ आत्मा के ऊपर ही अध्यस्त हैं, आरोपित हैं। आरोप जिसे कि अन्य शब्द मे अध्यास भी कहा जाता है कभी निरधिष्ठान होता नही। और आधार-शिलात्मक उस अधिष्ठान को कोई कल्पित-वस्तु इसलिए नही माना जा सकता कि वह भी यदि आरोप्य होगा तो उसके आरोप के लिए भी फिर उस अधिष्ठान की आवश्यकता होगी जिस पर उसका आरोप होगा। इस प्रकार निरन्तर आरोप की धारा मान्य होने के कारण अधिष्ठान की भी धारा अनन्त होगी। जिसके फलस्वरूप अनवस्था-दोष अनिवार्य हो उठेगा। सत् को अधिष्ठान मान लेने पर यह अनवस्था इसलिए स्वय वारित हो जाती है कि अधिष्ठान तो आरोप्य होता नही कि उसके आरोपार्थ अधिष्ठानान्तर की आवश्यकता हो। आत्मा को चित् अर्थात् ज्ञानस्वरूप इसलिए वे लोग मानते हैं कि उपनिषत् ने उसे नित्य विज्ञान-स्वरूप बतलाया है। एतदतिरिक्त ऐसा मानने का कारण यह भी है कि जब वही केवल परमार्थ सत् मान्य होगा तो वही सर्वथा निरपेक्ष होगा। वह उसकी सर्वथा निरपेक्षता तभी सम्भव हो सकती है जब कि उसे स्व-प्रकाश माना जाय। अन्यथा उसका प्रकाशन अन्यापेक्ष मानना होगा। ऐसी परिस्थिति मे उस सद्भूत आत्मा को जिसे दूसरे शब्दो मे ब्रह्म भी कहा जाता है निरपेक्ष नही कहा जा सकेगा। जिसका कुफल यह होगा कि वह अपेक्षित परवस्तु इसकी अपेक्षा सत् हो बैठेगी। जिससे वेदान्त मान्य अद्वैत एव उसी की मान्य सर्वाध्यासाधिष्ठानता दोनो खण्डित हो उठेंगे। इस प्रकार उस सत् को स्वप्रकाश मानने पर उसे चित्-स्वरूप अर्थात् ज्ञान-स्वरूप मानना ही होगा। क्योकि किसी भी दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान को ही प्रकाशात्मक मानना उचित प्रतीत होगा। चन्द्र, सूर्य आदि के विततप्रकाश के रहते हुए भी मृत व्यक्ति को या मूर्च्छित व्यक्ति को किंवा सुषुप्त व्यक्ति को या पत्थर आदि जडो को उस चन्द्र, सूर्य आदि वितत प्रकाश एव उसके सहारे अन्य भी किसी दृश्य का विषयीकरण होता नही यह अनुभवसिद्ध है। इसलिए स्वप्रकाश यदि कोई हो सकता है तो ज्ञान ही हो सकता है। उक्त युक्तियो से जब कि सत्स्वरूप आत्मा ही स्वप्रकाश मान्य हो चुका है और इस युक्ति से ज्ञान को ही स्वप्रकाश होना चाहिए, तब उस स्वप्रकाश सत् स्वरूप आत्मा को चैतन्य स्वरूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप भी मानना ही होगा। वेदान्ती लोग आनन्दस्वरूप अर्थात् सुखस्वरुप इस दृष्टिकोण से उस अद्वैत-सत् ब्रह्म को मानते हैं कि निरपेक्षभाव से इष्ट कहलाता है सुख। परन्तु वह विषयसुख भी जब कि अपने लिए अर्थात् आत्मा के लिए ही अपेक्षित होता है तो सचमुच विषयसुख को निरपेक्ष भाव से अपेक्षित नही कहा जा सकता है। किन्तु वह

विषयसुख भी जिसके लिए अपेक्षित है, वह उक्त स्वप्रकाश सत् आत्मा ही, वास्तविक अन्यानपेक्ष इष्ट हो पाता है। अन्यानपेक्ष इष्ट ही है सुख यह अभी कहा जा चुका है। अत सत् एव चित् स्वरूप आत्मा ही वास्तविक आनन्द अर्थात् सुख है। वेदान्तिया के समक्ष जब और दार्शनिको की ओर से यह प्रश्न उपस्थापित होता है कि अद्वैत ही पारमार्थिक सत्य होने पर लोकदृष्टि मे सही प्रतीत होनेवाली जगत्-रचना और भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की सुख-दु ख आदि मूलक अनुभूयमान विभिन्न परिस्थितियाँ ये सभी कैसे उपपन्न होती है? तब वे इसके उत्तर मे कल्पित भेद का आश्रयण करते हुए इस प्रकार उपपत्ति प्रस्तुत करते है कि उक्त सत् चित् आनन्दात्मक ब्रह्म यद्यपि स्वत अपरिच्छिन्न है फिर भी अनादि रूप से कल्पित अज्ञानात्मक माया से परिच्छिन्न होता हुआ वही, सगुण ईश्वर होता है जिसे जगत् की सृष्टि की मान्यता पक्ष मे इस दृश्य व्यावहारिक जगत् का स्रष्टा माना जाता है। और वही ब्रह्म चैतन्य मूल अज्ञानात्मक माया के परिणाम विभिन्न अन्त करणो से परिच्छिन्न होता हुआ विभिन्न जीव होता है। वैषयिक ज्ञान सुख-दु ख आदि अन्त करण के ही परिणाम होने के कारण उसी के धर्म है। अत परिणामी अन्त करण की विभिन्नता के कारण अनुभूयमान विभिन्न-परिस्थितियाँ तात्त्विक-अद्वैत मान्य होने पर भी उपपन्न होती है। कोई सुखी है तो कोई दुखी, कोई किसी वस्तु को समझ रहा है तो उसी समय दूसरा व्यक्ति उसे नही समझ रहा है इत्यादि विभिन्न परिस्थितियाँ तत्त्वत अद्वैत आत्मा की मान्यता के होते हुए भी उपपन्न होती है, यह हम वेदान्तियो के कथन का साराश है। फलत वेदान्त-सिद्धान्त मे आत्मा चैतन्यस्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप है।

शैवसिद्धान्ती लोग भी आत्मा[१३०] को अद्वैत एव चैतन्य स्वरूप ही मानते है। किन्तु वेदान्तियो से विशेषता इनकी यह है कि वेदान्ती लोग जहाँ आत्मा को सक्रिय नही मानते शैव लोग आत्मा को सक्रिय मानते है। क्रिया को भी आत्मा की शक्ति मानते है। शक्ति और शक्त दोनो तत्त्वत एक ही होते है अत द्वैत की आपत्ति इनके मत मे होती नही। इन लोगो के मत मे अभिन्न प्रकाशस्वरूप आत्मा ही अपने को विभिन्न "अह" रूप से और उसके अनन्तर "इद" रूप से भासित करता है। विभिन्न "अह" रूप मे भासन-प्रयुक्त वही विभिन्न जीव भी होता है और इद रूप से भासन-प्रयुक्त वही प्रकाशस्वरूप आत्मा अह से अतिरिक्त दृश्य रूप से भी भासित मात्र होता है। अत है सब कुछ तत्त्वत वही। इसलिए अद्वैत भी अक्षुण्ण रह जाता है और विभिन्न अह भानप्रयुक्त जीव की विभिन्नता होने के

(१३०) आत्मा यदि भवेन्मेयस्तस्य माता भवेत्पर ।
पर आत्मा तदानीं स्यात् स परो यदि दृश्यते ।
—सर्वदर्शनसग्रह, शैवदर्शन ।

कारण सुख-दु ख आदि की अनुभव व्यवस्था भी बन जाती है। जीव भी तत्त्वत अद्वैत-प्रकाशस्वरूप महेश्वर ही है। यह इसलिए सिद्ध होता है कि अहभावापन्न प्रकाशात्मक जीव भी यथासम्भव अपने-अपने कार्य का कर्ता होता ही है। कर्तृत्व ही है ऐश्वर्य, सो जब कि अहकारास्पद प्रकाश मे देखा ही जाता है। प्रत्येक जीव कुछ-न-कुछ कार्य करता ही है तब उसे ईश्वर कैसे नही कहा जा सकता ? अत अहकारास्पद प्रवितत प्रकाशात्मक ईश्वर है जीवात्मा, वही है प्रमाता। अद्वैत[१३०ख] महाप्रकाशस्वरूप शिव आणव, मायिक एव कार्ममलो के कारण सकोचशील बन कर विभिन्न प्रमाता कहलाता है।

सौत्रान्तिक, वैभाषिक और योगाचार इन तीनो सम्प्रदायो के बौद्धो का मत प्रकृत विवेच्य प्रमाता के सम्बन्ध मे यह है कि क्षणिक आलय अथवा अनालय विज्ञानाधारा ही है आत्मा, फलत प्रमाता। योगाचारी बौद्धो का तात्पर्य यह है कि स्वाकार के विषयी-करण के अतिरिक्त और कुछ प्रमातृत्व नही। स्वप्रकाश क्षणिक आन्तर विज्ञान के द्वारा स्वाकारभूत उन घट-पट आदि का जो कि लोकदृष्टि मे विषय कहे जाते है विषयीकरण होता है। इसी विषयीकरण को ध्यान मे रख कर आन्तर क्षणिक-विज्ञानधारा को प्रमाता कहा जाता है। तत्त्वत जब कि घट-पट आदि भी क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही, तब प्रमातृत्व का कोई प्रश्न ही नही उठता। हाँ, बाह्यास्तित्ववादी, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मत मे बाह्य घट-पट आदि की परमाणुपुज रूप मे ही सही, सत्ता मान्य है अत उन दोनो के मत मे बाह्य वस्तु का तत्त्वत विषयीकरण होता है। अत उन मतो मे उक्त विषयीकरणात्मक प्रमातृत्व कहा जा सकता है। फलत शून्याद्वैती के अतिरिक्त त्रिविध बौद्धो के मतो मे आन्तर क्षणिक आलय या अनालय विज्ञानधारा ही है प्रमाता। वही है जीव।

(१३०क) अखण्डितस्वभावोऽपि विचित्रा मातृकल्पनाम्।
स्वहृत्मण्डल चक्रे य प्रथयेत् त स्तुम शिवम्॥
—प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, आगमाधिकार।

(१३०ख) एष प्रमाता मायान्ध ससारी कर्म बन्धन २।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, आगमाधिकार।

(१३०ग) स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाऽऽणव मलमिद खस्वरूपापहानित॥ ४॥
भिन्नवेद्यप्रमाऽत्रैव मायाख्य जन्म योगदम्।
कर्त्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तन्मयम्॥ ५॥
—ई० प्र० आगमाधिकार।

साङ्ख्यमत मे भी वेदान्त मत की तरह आत्मा चैतन्य ही है।[१३१] और वेदान्त मत की ही तरह वह सर्वथा असङ्ग और अतएव अक्रिय है। इस बात को साख्यानुयायी लोग यह कह कर व्यक्त करते है कि आत्मा पुष्कर पलाश के समान निर्लिप्त है किन्तु वह जड नही है। क्योकि जडता त्रिगुणात्मिका प्रकृति और उसके परिणामो का ही स्वभाव है। जीवात्मा जब कि असङ्ग चैतन्य स्वरूप है तब उसे किसी से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव न हो सकने के कारण, विशेषत कर्त्तृत्व उसमे मान्य न हो सकने के कारण प्रमाकर्त्तृत्व स्वरूप प्रमातृत्व कैसे उसमे सम्भव होगा ? इस प्रकार प्रश्न जब कि साख्यसिद्धान्त के समक्ष उपस्थित होता है तब साख्यसिद्धान्ती लोग उत्तर यह प्रस्तुत करते हैं कि सही है, आत्मा प्रमाता सचमुच होता नही। क्योकि निश्चयात्मक अध्यवसाय है चरम अथवा प्रथम अन्त करण बुद्धि का स्वभाव फलत धर्म। फलत प्रमात्मक निश्चय भी सचमुच बुद्ध्यात्मक अन्त करण का ही धर्म है चैतन्यस्वरूप आत्मा का नही। प्रमातृत्व प्रमा के अतिरिक्त और कुछ हो सकता नही। अत प्रमातृत्व भी अन्त करण विशेष-बुद्धि का ही धर्म अर्थात् स्वभाव है। पुरुष में अर्थात् आत्मा मे वह प्रमातृत्व प्रतीत इसलिए होता है कि बुद्ध्यात्मक अन्त करण और पुरुष इनमे एक प्रकार की परस्पर छायापत्ति होती है। जैसे चलते हुए जल मे सूर्य-चन्द्र आदि की प्रतिबिम्बात्मक छाया पडने पर जलगत चलन सूर्य-चन्द्र आदि मे प्रतीत होता है, तैसे बुद्धिगत प्रमातृत्व पुरुष मे प्रतीत होता है। साराश यह कि साङ्ख्य-सिद्धान्त मे प्रमाता तत्त्वत अन्त करण ही होता है, जीवस्वरूप पुरुष नही। यह कहा जा चुका है कि वेदान्त-सिद्धान्त की तरह यहाँ भी आत्मा चैतन्य स्वरूप ही है। परन्तु वेदान्त सिद्धान्त से जीवात्मा के सम्बन्ध मे महान् अन्तर यहाँ यह है कि वहाँ एक ही चैतन्य को अन्त करणात्मक परिच्छेदक से परिच्छिन्न करके विभिन्न समझा जाता है और साङ्ख्य सिद्धान्त मे जीव देहभेद से स्वत भिन्न होते हैं, परिच्छेदक द्वारा होने वाले परिच्छेद के कारण नहीं। जीवगत विभिन्नता मान्य इसलिए होती है कि इसके बिना अनुभूयमान सुख-दु ख आदि की व्यवस्था उपपन्न नही की जा सकती। इस सिद्धान्त मे जीव को कर्त्ता नहीं भी मानते हुए भोक्ता माना जाता है। परन्तु भोग भी सुख-दु खयुक्त बुद्धि के साथ छायापत्ति के अतिरिक्त और कुछ कहा नही जा सकता।

जहा तक जीवात्मा और उसके स्वभाव की मान्यता का सम्बन्ध है योगसिद्धान्त भी साङ्ख्यसिद्धान्त मे सहमत है। असहमति है केवल योगसिद्धान्त की साङख्य सम्मत अनीश्वर वाद मे। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारो मे बिलकुल सम्पर्क न रखने वाला

(१३१) "अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फल चितिच्छायापत्याचाचेतनापि बुद्धि ..."
—साख्यतत्त्वकौमुदी, का० ५।

पुरुष होता है योगसिद्धान्त का मान्य ईश्वर। इसके सम्बन्ध मे मतभेद रहने पर भी प्रमाता के मम्बन्ध मे साङ्ख्य मत से कोई वैमत्य नही है। यद्यपि जीवगत अणिमा-महिमा आदि सिद्धियो की ओर ध्यान देने पर कुछ ऐसा प्रतीत-सा होता है कि योगसिद्धान्त जैसे जीवो मे कुछ कर्तृत्व मानता-सा हो तथापि दूर तक उसकी व्याख्या करने पर साङ्ख्य-सिद्धान्त के लिए भी अप्रतिकूलता प्राप्त होती है। इसीलिए साङ्सिद्धान्तियो ने भी इन सिद्धियो की चर्चा विस्तृत रूप से की है साख्यग्रन्थो मे।

जैन दार्शनिक लोग इन उक्त मतो से सम्मति नही रखते। उनका कहना यह है कि आत्मा चैतन्य रूप नही है। वह एक ठोस वस्तु है अन्य बाह्य वस्तुओ की तरह[132]। वह सचमुच प्रमाता होता है। क्योकि प्रमात्मक ज्ञान आत्मा का धर्म होता है। साङ्ख्य एव योग-सिद्धान्त मे जिस प्रकार जीवात्मा को प्रत्येक शरीर मे अलग-अलग मान्यता है उसी प्रकार जैनसिद्धान्त मे भी जीवात्मा प्रत्येक देह मे अलग-अलग ही मान्य है। इस सिद्धान्त मे एक विशेषता यह है कि यहाँ आत्मा को इस प्रकार सङ्कोच-विकासशील मध्यम परिमाण-युक्त माना जाता है कि वह जन्मान्तर ग्रहण करते समय ग्रहीतव्य शरीर मे पूर्ण रूप से प्रवेश के अनुरूप शरीरगत सकोच और विकास कर सके।[133] साराश यह कि जैन सिद्धान्त मे आत्मा को रबड की तरह फैलने एव सकुचने वाला माना जाता है। जिसके फलस्वरूप परिस्थिति यह होती है कि आत्मा क्षुद्रकीटाणु शरीर को छोड कर जन्मान्तर परिग्रह करते समय जब ग्रहीतव्य बृहदाकार हाथी के शरीर मे प्रवेश करने लगेगा, हाथी होकर जन्म प्राप्त करने लगेगा तब फैलकर उस हाथी मे प्रवेश के अनुरूप उतना बडा हो जायगा जितना बडा वह हाथी होगा। और जब मरते समय उस हाथी शरीर को छोड कर ग्रहीतव्य क्षुद्र कीटाणु शरीर मे प्रवेश करने वाला होगा तो सकुचकर उस शरीर मे प्रवेश के अनुरूप छोटा हो जायगा। यही परिस्थिति है जैनसिद्धान्तसम्मत जीवात्मा की।

कर्म-मीमासक लोग भी आत्मा को जैनो की तरह कर्त्ता और भोक्ता भी मानते है। इस सिद्धान्त मे भी आत्मा प्रत्येक देह मे अलग मान्य है। अपने किये हुए अच्छे कर्मो के अच्छे फलो को और किये गये बुरे कर्मों के बुरे फलो को अवश्य भोगता है। कहने का तात्पर्य यह कि मीमासा सिद्धान्त मे कोई भी कर्म निष्फल नही जाता। अत कोई भी किसी अच्छे या बुरे कर्म का करने वाला जीव, कृत कर्मगत अच्छाई एव बुराई के आधार पर

(१३२) जीवा द्विविधा ससारिणो मुक्ताश्च। भवाद्भवान्तरप्राप्तिमन्त ससारिण। ते च द्विविधा समनस्का अमनस्काश्च।

(१३३) न च जैनवदव्यापक, नापिबौद्धवत्क्षणिक

——सर्वदर्शनसग्रह, आर्हतदर्शन, शैवदर्शन।

अच्छे या बुरे फल का उपभोग अवश्य करेगा। मानो उसे भोग करना ही होगा। क्योकि अच्छे कर्म के करने से वह करने वाला "पुण्य" प्राप्त करता है, जो कि वर्त्तमान जन्म या जन्मान्तर मे होने वाले फल-भोग के अव्यवहित पूर्व समय तक अवश्य रहता है। इसी प्रकार बुरे कर्म के करने से वह कर्त्ता "पाप" प्राप्त करता है जो कि तब तक नष्ट नही होता जब तक कि उस बुरे कर्म का बुरा फल उस कर्ता को प्राप्त न हो जाता, वह दु ख का उपभोग नही कर लेता। अत मीमासा सिद्धान्त मे आत्मा कर्त्ता और भोक्ता अवश्य है। करना, समझने वाले का ही धर्म हो सकता है। ऐसी स्थिति मे आत्मा को कर्त्ता एव भोक्ता के समान ज्ञाता भी मानना ही होगा। अत प्रमाता भी आत्मा को छोड कर अन्य कोई नही हो सकता।

नैयायिक तथा वैशेषिक ये दोनो दर्शन भी मीमासका की तरह प्रत्येक देह मे आत्मा[१३८] को अलग-अलग वर्तमान, कर्त्ता एव भोक्ता मानते है। इनके यहाँ भी बुद्धि सुख दु ख इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि आत्मा के ही गुणात्मक धर्म माने जाते है। अत प्रमाता भी यही स्थायी शरीरातिरिक्त आत्मा है। आत्मा को ये लोग जीवात्मा और परमात्मा इन दो प्रभेदो मे विभक्त मानते हैं। जीवात्मा प्रत्येक शरीर मे अलग अलग मान्य होने पर भी व्यापक रूप से मान्य है। कहने का तात्पर्य यह कि विभिन्न प्राणिदेह मे विभिन्न रूप से विद्यमान प्रत्येक जीवात्मा न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त मे व्यापक ही मान्य है। अनेक व्यापक आत्माओ की मान्यता इन लोगो के यहाँ इसलिए खलती नही कि न्याय वैशेषिक सिद्धान्त मे आकाश काल दिक् और आत्मा ये चारो द्रव्य व्यापक मान्य होते है। जब एकाधिक व्यापक को मान्यता दी गयी तब असख्य शरीरो मे विद्यमान असख्य शरीरी आत्मा भी अर्थात् जीव भी व्यापक क्यो नही हो सकेगे ? सभी जीवात्माओ के व्यापक होने पर भी अलग-अलग शरीर ही उनके उपभोग साधन रूप मे मान्य होते है इसलिए सब शरीरो मे सब आत्माओ को उपभोग नही प्राप्त होता है। आत्मा के रूप मे जीवात्मा और परमात्मा इन दोनो प्रभेदो मे समानता होने पर भी अन्तर यह माना जाता है कि परमात्मा मे ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये तीनो नित्य होते हैं और जीवात्माओ मे ये गुण नित्य न होकर अनित्य होते है, अर्थात् आत्मा और मन के विलक्षण सयोग मे उत्पन्न होते है। जीवात्माओ मे इस गुणत्रय के अतिरिक्त सुख दु ख द्वेष आदि भी रहते हैं परन्तु परमात्मा मे सुख दु ख आदि माने नही जाते। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि सुख दु ख इच्छा द्वेष प्रयत्न और सख्या परिणाम पृथक्त्व

(१३८) ज्ञानाधिकरणमात्मा। प्रतिशरीर भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

—तर्कसग्रह।

सयोग और विभाग तथा स्मारक भावना-नामक-सस्कार धर्म और अधर्म ये चौदह गुण जहाँ जीवात्माओ मे नैयायिक तथा वैशेषिक दार्शनिक लोग मानते है वहाँ परमात्मा मे ज्ञान इच्छा प्रयत्न और सख्या परिमाण पृथक्त्व सयोग तथा विभाग ये आठ ही गुण माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त जीवात्मा और परमात्मा इन दोनो मे महान् अन्तर यह भी नैयायिक एव वैशेषिको के घर मे माना जाता है कि जीवात्माओ को जहाँ परोक्ष तथा अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्षात्मक ये दोनो प्रकार के ज्ञान होते हैं वहाँ परमात्मा को केवल प्रत्यक्षात्मक ही ज्ञान होता है परोक्षात्मक नही। पाप और पुण्य ये दोनो यत जीवात्माओ मे ही होते हैं, अत मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ इस प्रकार मानस साक्षात्कारात्मक उपभोग जीवात्माओ को ही होता है, परमात्मा को नही। जीव अपना मानस प्रत्यक्ष करता है और अन्य जीवात्मा का अनुमान करता है। परमात्मा जगत् की सृष्टि करता है जीव जगत् की सृष्टि कर नही सकता। परमात्मा जहाँ सर्वज्ञ होता है जीवात्मा वहाँ सर्वज्ञ न होकर अल्पज्ञ ही मान्य है। परमात्मा के ज्ञान इच्छा और प्रयत्न ये तीनो जहाँ प्रत्येक सासारिक कार्य के प्रति निमित्त रूप से कारण होते हैं जीव के ज्ञान इच्छा और प्रयत्न ये तीनो गुण वैसे होते नही। इसलिए न्याय वैशेषिक सिद्धान्त असख्य जीवात्मा और एक परमात्मा इनके बीच विद्यमान भेद को सर्वथा नित्य मानता है। जीव कितना भी अच्छा कर्म क्यो न करे वह परमात्मा कभी नही हो सकता।

इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध मे विभिन्न मतो की उपस्थिति के अनन्तर चार्वाकीय दृष्टिकोण इस आत्मा के सम्बन्ध मे क्या है ? इस जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है। तो इस सम्बन्ध मे यहाँ यह समझना चाहिए कि आत्मा का ऐसी ही वस्तु होना उचित माना जा सकता जिसे की प्रत्येक प्राणी जानता हो। क्योकि सभी प्राणी प्रवृत्तिशील पाये जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति अवश्य ही अपने को समझते हुए अपने हित की प्राप्ति के लिए हुआ करती है। ऐसी परिस्थिति मे यह कभी नही कहा जा सकता कि आत्मा शरीर के अतिरिक्त और कुछ वस्तु है। क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी भी सर्वाधिक भाव से इसी बात से डरता हुआ सा प्रतीत होता है कि "ऐसा न हो कि मैं मर जाऊँ" इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है सभी प्राणी अपने शरीर को ही सर्वाधिक प्रिय जानते हैं। "जिसके लिए अन्य सारी वस्तुएँ अपेक्षित हो, वह है आत्मा" आत्मा की यह परिभाषा अन्य दार्शनिक विवेचको को भी मान्य है। तदनुसार शरीर को ही आत्मा मानना उचित कहा जा सकता। शरीर के अतिरिक्त नित्य अमूर्त्त आत्मा को मानने वालो के लिए आत्मा की यह परिभाषा ठीक से लागू हो नही सकती। क्योकि शरीरातिरिक्त आत्मा को जो कि सर्वथा अमूर्त्त ही होगा, और अन्य सासारिक वस्तुओ के अस्तित्त्व और नास्तित्व, प्राप्ति और अप्राप्ति दोनो ही पक्षो मे समान रूप से विद्यमान रहेगा, उसके लिए किसी भी

वस्तु की सच्ची अपेक्षा कैसे मानी जा सकती ? शरीर की सुव्यवस्थित-भाव से स्थिति नियमत सासारिक अन्य वस्तुओ की अपेक्षा रखती है। अत अन्य सारी वस्तुएँ शरीरात्मा के लिए अपेक्षित होती है। अत "जिसके लिए अन्य सब कुछ अपेक्षित हो वह है आत्मा" आत्मा की यह परिभाषा शरीर मे ही लागू होती है अन्य मे नही। आत्मा की यह परिभाषा मान्य नही है यह बात इसलिए मान्य नही ठहरायी जा सकती कि ऐसा मानने पर शरीरातिरिक्त आत्मा को कोई किसी भी प्रकार सिद्ध नही कर सकता। क्योकि मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ इत्यादि प्रतीति के बल पर तो शरीर को ही आत्मा मानना होगा। "मैं जानता हूँ", "मैं चाहता हूँ", "मै प्रयत्न करता हूँ" इत्यादि प्रतीतियाँ भी शरीर को ही आत्मा मान कर बन पाती है, शरीर से अतिरिक्त आत्मा को मान कर नही। क्योकि ज्ञान इच्छा प्रयत्न आदि आत्मा के गुण शरीर के ही धर्म है यत ज्ञान भूत धर्म ही है। भूतो से अतिरिक्त और कोई द्रव्य है ही नही यह बात सक्षेप में पहले भी बतलायी जा चुकी है और विस्तृत भाव से आगे भी बतलायी जाने वाली है।

शरीर को ही आत्मा इसलिए भी मानना उचित है कि इस ससार-रथ के चक्र युगल दण्ड और वार्त्ता ये दोनो शरीर को ही अन्य मान कर चल सकते है, अन्यथा नही। किसी भी प्रकार का भी दण्ड शरीर को ही दिया जा सकता है शरीर से अतिरिक्त अमूर्त्त आत्मा को नही। अपराध भी शरीर मूलक ही होते है अन्य मूलक नही। अपराध और दण्ड इन दोनो का सामानाधिकरण्य-नियम भी सर्वथा अनिवार्य रूप से मान्य है। अन्यथा भारी अव्यवस्था उपस्थित होगी। अपराध करेगा कोई और भोगेगा अन्य कोई, इसे उचित कभी नही कहा जा सकेगा। अत अपराध और दण्ड दोनो का अधिकारी शरीर को ही मानना होगा। इसलिए दाण्डिक, एव वार्त्ता के सुरक्षक चार्वाकीय दृष्टिकोण मे शरीर को ही आत्मा मानना उचित है। यहाँ इस पर यदि यह कहा जाय कि जन्मान्तर नही मानने पर "कृतहान" और "अकृत का अभ्यागम" दोष आपन्न होता है। अर्थात् कोई जन्म मे ही सुखी या दुखी देखा जाता है। जन्मान्तर की अमान्यता पक्ष मे वह सुख या दुख उस व्यक्ति को अपराध किये बिना ही प्राप्त होने वाला मानना होगा, जो कि उचित नही कहा जायगा। इसी प्रकार किसी ने यदि जन्म भर अच्छे ही काम किये या बुरे ही काम किये किन्तु तदनुरूप उन्हे अच्छा या बुरा फल पाया जाता देखा नही गया तो यहा पर पुन जन्म न मानने पर उन अच्छे या बुरे कर्मो को व्यर्थ ही मानना होगा, निष्फल ही मानना होगा। क्योकि जब उसे पर-जन्म मिलेगा ही नही, तो उन कर्म का फल भोगेगा कौन ? इसलिए किये की हानि अर्थात् निष्फलता स्वरूप "कृतहान" दोष होगा। और वर्णित पूर्व परिस्थिति मे अर्थात् जन्म से ही आरम्भ होने वाले सुख या दुख के उपभोग स्थल मे "अकृत का अभ्यागम" दोष होगा। क्योकि

जो उसने किया नही, उसका फल उसे भोगना पडेगा। इसे भला उचित कैसे कहा जा सकता ? अत पूर्व और पर जन्म मानना ही होगा। इस प्रकार जन्मान्तर की मान्यता प्राप्त होने पर शरीर से अतिरक्त एक स्थायी आत्मा मानना होगा। फिर कैसे इस स्थूल शरीर को ही आत्मा माना जाय ? तो इसका एक उत्तर यह समझना चाहिए कि इस भौतिक शरीर से ही प्राणान्त के समय कुछ भूत निर्गत होकर अन्य भूतो के साहाय्य से नूतन शरीर हो जाते है, ऐसा जन्मान्तर शरीर को आत्मा मानने के पक्ष मे भी मान्य हो सकता है और इसके आधार पर उक्त कृतहान और अकृत का अभ्यागम इन दोनो दोषो को हटाया जा सकता है। साख्य एव वेदान्त मत में मान्य लिंग-शरीर के अन्दर भी तो सूक्ष्म रूप मे भूत का अस्तित्व मान्य होता है ? और उस भूत की गति शरीरान्तर मे मानी जाती है ? जब कि उक्त कृतहान और अकृत के अभ्यागम को हटाने के लिए जन्मान्तर मान्य है तब इस प्रकार भौतिक-जन्मान्तर ही मान कर भौतिक-शरीर को ही आत्मा मानने मे कल्पना लाघव होगा। कहने का तात्पर्य यह कि साङ्ख्य एव वेदान्त ये दोनो दर्शन शरीर के सम्बन्ध मे यह स्वीकार करते पाये जाते हैं कि प्राणियो के शरीर दो प्रकार के होते हैं एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। स्थूल शरीर तो यही है जिसे लोग शरीर समझते हैं। जो कि नाक कान हाथ पाँव आदि से युक्त है, शोणित मास मेद मज्जा शुक्र अस्थि स्नायु आदि का सुव्यवस्थित एक समुदाय है। और दूसरा लिंग-शरीर प्राण इन्द्रिय एव सूक्ष्म भूत इनका एक समुदाय स्वरूप मान्य है। इस द्वितीय लिङ्ग शरीर के अन्दर होने वाली इन्द्रियाँ भी साङ्ख्य-सिद्धान्त मे नही सही, किन्तु वेदान्त सिद्धान्त मे तो भौतिक ही होती है। ऐसी परिस्थिति मे जन्मान्तरीय कहलाने वाले अव्यवहृत परवर्त्ती शरीर तक पूर्व शरीर से भौतिक अश जाते हैं यह बात और दार्शनिक को भी जब कि मान्य है, तब यही क्यो न मान लिया जाय कि इस प्रसिद्ध भौतिक शरीर से कुछ भौतिक अश जन्मान्तर तक जाता है जो कि अन्य सजातीय भूतो के साहाय्य से स्थूल रूप धारण करके स्थूल शरीर कहलाता है। इस प्रकार पूर्व और परजन्म के बीच सम्बन्ध स्थापित हो सकने के कारण उक्त "कृतहान" और "अकृत अभ्यागम" ये दोनो दोष शरीरात्मवादी चार्वाकीय दृष्टिकोण मे भी निवारित हो सकते हैं। फिर क्यो नही शरीर को ही आत्मा माना जाय, जिसे आकीट पतङ्ग सभी प्राणी स्वस्वरूप मानते हैं और सर्वाधिक प्रिय मानते हैं ? पहले भी कहा जा चुका है कि क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी को भी यह भय होता है कि "कही मैं मर न जाऊँ" इसलिए शरीर को ही आत्मा मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान देने योग्य है कि उपनिषद् मे प्रतिपादित पञ्चाग्नि विद्या की ओर ध्यान देने पर भी इसकी पुष्टि प्राप्त होती है कि शरीर आत्मा है। क्योकि वहाँ यह स्पष्ट रूप मे प्रतिपादित हुआ है कि "पाँचवी आहुति मे जाकर

अर्थ मे ही हुआ है। इसके सम्बन्ध मे वेदान्ती विवेचको का यह कथन सगत नही कहा जा सकता कि "परवर्त्ती कोशो की आत्मता प्रतिपादन से पूर्व कोश की आत्मता खण्डित हो जाती है। अन्नमय कोश की चर्चा प्रथम स्थान मे ही की गयी है अत वह परवर्त्ती प्राणमय मनोमय आदि की आत्मता के प्रतिपादन से सर्वथा खण्डित हो जाती है अत पचकोश विवेचन के आधार पर शरीरात्मवाद का स्थापन नही किया जा सकता।"

क्योकि यह उनका कथन उनके अपने ही सिद्धान्त से खण्डित हो जाता है। उपक्रम को तात्पर्य का निर्णायक उन लोगो ने स्वय माना है। उपक्रम प्रारम्भ का ही दूसरा नाम है। एतदनुसार पञ्चकोश विवेचन स्थल मे जब कि शरीरात्मा को सर्वप्रथम अन्न रसमय पुरुष कहा गया है तब उपक्रान्त अर्थात् सर्व प्रथम-स्थानोक्त होने के कारण उसे ही प्रबल रूप से तात्पर्य का विषय मानना ही होगा। इसी उपक्रम गत पराक्रम की ओर ध्यान देकर कर्म मीमासा का पूर्व प्राबल्य और परदौर्बल्य का सिद्धान्त प्रवृत्त होता है। इसके अनुसार भी अन्नमय-कोश की प्रधानता मान्य होगी। और यह भी इस सम्बन्ध मे ध्यान देना उचित होगा कि पर पर कोश के निर्देश से पूर्व पूर्व कोश के आत्मत्व खण्डन की बात उस व्यक्ति के समक्ष भले ही की जा सके जो कि शारीरिक प्राण मन विज्ञान और आनन्द को शरीर से और उन परवर्त्ती कोशो को भी अन्नमय से तत्त्वत विभिन्न मानता हो। चार्वाकीय-सिद्धान्त मे तो एक अद्वैत भत मात्र की तात्त्विकता के कारण परवर्त्ती कोश चतुष्टय भी तत्त्वत अन्नमय कोशात्मक शरीरात्मा ही होते है। विभिन्न प्रकार से उसी शरीरात्मा का वर्णन परवर्त्ती कोशो से भी किया गया मान्य होता है। अत यहाँ बाध्य-बाधक-भाव का अवकाश ही नही रह जाता है कि यह कहा जा सके कि प्राणमय कोश को आत्मा कह देने पर अन्नमय कोश का आत्मत्त्व खण्डित हो जाता है।" कहने का साराश यह है कि "आत्मा द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, और निदिध्यासितव्य है" इस औपनिषद उपदेश स्थल मे पहले ही मुख्य रूप मे आत्मा की दर्शनीयता बतला कर पीछे उसके अङ्ग-रूप मे श्रवण मनन और निदिध्यासन कर्तव्य बतलाया गया है उसी प्रकार पञ्चकोश प्रतिपादन स्थल मे भी सर्व प्रथम मुख्य रूप से प्रतिपाद्य शरीरात्मा का निर्देश करके उससे अभिन्न ही होने वाले प्राणमय मनोमय आदि कोश बतलाये गये है। सम्भव है यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करें कि स्थूल शरीर स्वरूप आत्मा तो सरल रूप से ही प्रत्यक्ष गम्य है। उसे समझने मे कोई कठिनता तो किसी को हो नही सकती फिर उपनिषद् मे उक्त श्रवण मनन और निदिध्यासन का विधान कैसे सगत हो पायेगा ? जब कि उसे पञ्चमकोश स्थलीय निर्णय के लिए उसे दृष्टान्त रूप मे यहाँ उपस्थित किया गया है तब यह कह कर भी तो छुटकारा नही पाया जा सकता कि श्रवण मनन और

उसके लिए भी कोश शब्द का प्रयोग आच्छादक अर्थ मे भी सङ्गतिलाभ करता है। उपनिषद् मे किये गये पञ्चकोश विवेचन में प्रत्येक कोश को अङ्ग-प्रत्यङ्ग युक्त पक्षी के रूप मे वर्णन किया गया हे। इसलिए भी उससे अङ्ग-प्रत्यङ्ग युक्त शरीर को ही उसके आधार पर आत्मा मानना उचित कहा जा सकता है। रही बात उस वर्णित प्रतिष्ठात्मक पुच्छ ब्रह्म की, कि वह कौन होगा चार्वाक सिद्धान्त मे ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वह कथन अद्वैत-महासमवायात्मक भूत-ब्रह्म को अभिप्राय करके किया गया है। अत आत्मा को शरीर से अतिरिक्त मानना उचित नही कहा जा सकता। शरीर को आत्मा मानने मे अन्य दार्शनिको ने जगह-जगह पर यह बाधक-युक्ति उपस्थित की हे कि शरीर तो मृत शरीर भी है किन्तु उसमे चेतनोचित परिस्थिति देखी जाती नही। इच्छा, प्रयत्न आदि उसमे देखे जाते नही। यदि शरीर ही आत्मा हो तो जीवित और मृत इन दोनो शरीरो मे अन्तर नही होना चाहिए। किन्तु अन्तर स्पष्ट देखा जाता है। अत शरीर को आत्मा नही मानना चाहिए। परन्तु यह उन लोगो का कथन तब औचित्य प्राप्त कर पाता यदि जीवित और मृत दोनो शरीरो के अन्दर भौतिक परिस्थिति मे किसी प्रकार का अन्तर पाया नही जाता। परन्तु ऐसा है नही। जीवित शरीर मे थोडा भी ताप अवश्य रहता है किन्तु मृत शरीर मे ताप बिलकुल रहता नही। जीवित शरीर मे प्राणवायु का सचार जारी रहता है किन्तु मृत शरीर मे प्राणसचार बिलकुल नही रहता। इन परिस्थितियो को देखते हुए यह मानना ही होगा कि उक्त दोनो शरीरो मे भौतिक-वैषम्य अवश्य होता है। यह स्पष्ट ही है कि जीवनावस्था मे शरीर में विद्यमान तैजस कण एव वायवीय कण शरीर से अधिक मात्रा मे बाहर हो जाते है और यही है वस्तुत मरण। ऐसी परिस्थिति में यह नही कहा जा सकता कि शरीर को आत्मा मानने पर जीवित और मृत शरीर मे किसी प्रकार का अन्तर नही होना चाहिए।

चार्वाक-सिद्धान्त मे यद्यपि कण-कण चेतन होने के कारण उस समय भी चैतन्य शरीर मे रहता है जब कि वह शरीर मृत होता है। इसी लिए तो उस शरीर के ही भूत-कणो से उस मे कीटाणु उत्पन्न हो उठते है, जो कि पूर्ण चेष्टाशील, सक्रिय, देखे जाते है। यदि उस शरीर मे बिलकुल चैतन्य नही हो, तो उसमे ही उत्पन्न होने वाले कीटाणु कैसे चेतन हो सकें ? वे कैसे उस शरीर के अन्दर पूर्ण क्रियाशील हो पायें ? अत चैतन्य मृत शरीर मे भी रहता ही है, यह मानना होगा। तथापि वह तदानीन्तन चैतन्य वैसा स्फुट नही होता कि उसके कारण वह मृत शरीर सचेष्ट हो पडे। इसलिए जीवित और मृत दोनो शरीरो मे समान रूप से चेष्टा आदि का अस्तित्व क्यो नही पाया जाता, यदि शरीर ही आत्मा रूप से मान्य है ? यह प्रश्न शरीरात्मवाद के विरुद्ध नही उठाया जा सकता।

तो इसके उत्तर मे वक्तव्य यह हे कि जिस प्रकार शारीरातिरिक्त आत्मा के मान्यता-पक्ष मे स्मरण और प्रत्यभिज्ञा इन दोनो की उपपत्ति होती हे उसी प्रकार शरीरात्मवाद पक्ष मे भी उन दोनो की उपपत्ति होगी। पूर्वविहित विवेचन के अनुसार कुछ स्फुट चैतन्य भौतिक रेणु जब कि जन्मान्तर तक जाते हैं तब अनुभव ओर स्मरण के बीच शरीर के सारे रेणु बदल जाते है यह बात कैसे कही जा सकती ? अनुभविता शरीर की विद्यमानता के कारण स्मरण होने मे बाधा नही दिखलायी जा सकती। प्रत्यभिज्ञा को केवल

प्रत्यक्ष-मान कर स्मरण और प्रत्यक्ष का युग्म माना जा सकता है। अतीत काल और उस स्थान का स्मरण और इस काल और इस स्थान का तथा उससे युक्त होने वाली वस्तु का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान दोनो अव्यवहित पूर्वपश्चाद्भाव से उत्पन्न होते हैं। अति निकट मे होने के कारण दोनो ज्ञान एक जैसे प्रतीत होते हैं। तत्त्वत एक होते नही। वस्तुत स्मरण को भी प्रत्यक्ष ही मानना उचित है। क्योकि इस चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे मन ही केवल मान्य है इन्द्रिय और उसका सम्बन्ध अतीत एव दूरवर्त्ती सभी से होता है अत अतीत काल एव उस देश का भी प्रत्यक्ष वर्त्तमान काल मे होता है। अब प्रत्यभिज्ञा को एक प्रत्यक्षमात्र मानने पर भी कोई अनुपपत्ति नही दिखलायी जा सकती।

बौद्धसिद्धान्त सम्मत शरीरातिरिक्त आत्मा को मानने पर स्मरण और प्रत्यभिज्ञा बन नही सकती। क्योकि शून्याद्वैती को छोड कर उक्त तीनो प्रकार के बौद्ध, क्षणिक-विज्ञान-धारा को ही आत्मा मानते हैं। उनके मत मे किसी भी प्रकार अनुभविता और स्मर्ता ये दोनो एक नही हो सकते। क्योकि प्रत्येक विज्ञान अपने द्वितीय क्षण मे ही नष्ट हो जायेगा। ऐसा भी बौद्धसिद्धान्त में नही कहा जा सकता कि विज्ञान क्षणिक नही, नित्य है। क्योकि उन लोगो के घर मे यह अकाट्य नियम माना जाता है कि "जो भी सत् है वह क्षणिक ही है, अक्षणिक स्थायी नही। अत विज्ञान को अक्षणिक मानने पर वे अपसिद्धान्तग्रस्त हो उठेंगे। यदि उक्त बौद्धो की ओर से यह कहा जाय कि पूर्व पूर्वविज्ञान से अव्यवहित पर पर विज्ञान मे एक प्रकार का सस्कार सक्रान्त होता है[१३६]। इसके अनुसार स्मर्त्ता विज्ञान तक मे सस्कार रह जाने के कारण उस सस्कार के वल पर स्मरण की उपपत्ति हो सकती है। तो बौद्धो का यह कथन इसलिए सगत नही कहा जा सकेगा कि सस्कार ऐसी कोई द्रव्यात्मक ठोस वस्तु नही कि उसका सक्र-मणात्मक सचार हो सके। ऐसी परिस्थिति मे कैसे यह कहा जा सकता कि वासनात्मक सस्कार के बल से स्मरण बन जायगा ? इस पर यदि बौद्ध-पक्ष से फिर यह कहा जाय कि सस्कार का सचार न होने पर भी विज्ञान मे उत्पत्ति तो उसकी हो सकती ? स्मर्त्ता विज्ञान तक मे क्रमश सस्कार उत्पन्न हो आने के कारण सस्कार धारा के वल से स्मरण हो सकेगा। तो इसके उत्तर मे व्यक्तव्य यह समझना चाहिए कि योगाचार-सम्प्रदाय की ओर से यह उत्तर इसलिए नही दिया जा सकता कि उस मत मे जब कि विज्ञान के अतिरिक्त कोई वस्त्वन्तर मान्य ही नही है तब सस्कार की उत्पत्ति कैसे कही जा सकती ?

(१३६) मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्वपूर्व विज्ञानजनित सस्काराणामुत्तरोत्तर-विज्ञाने सक्रान्तत्त्वान्नानुपपत्ति स्मरणादे।

—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड।

अव्यवहित उत्तरवर्ती क्षणिक घट की ही उत्पत्ति न होकर उसी धारा के अन्त पाती दश क्षण परवर्ती घट की उत्पत्ति क्यो न होती ? एव घटधारान्त पाती किसी क्षणिक घट से पटधारान्त पाती किसी पट की उत्पत्ति क्यो नही हो जाती ? यह प्रश्न इस-लिए बौद्धो के घर मे नही हो पाती कि, उसी क्षणिक की उसी क्षणिक से उत्पत्ति मान्य ह जिस क्षणिक मे जिस क्षणिक की उत्पत्ति के अनुकूल कुर्वद्रूपत्व रहता है। कहने का सरल तात्पर्य यह कि तत्तत् वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल तत्तत् कुर्वद्रृपत्व सब मे समान रूप से रहता नही, विभिन्न तत्तत् उत्पादक मे ही रहता है इसलिए अनियत रूप से फलत विशृखल रूप से वस्तु की उत्पत्ति की आपत्ति नही दी जा सकती यह बौद्ध दार्शनिको का दावा है। परन्तु यहाँ विचारणीय यह उपस्थित हो उठता है कि यह कुर्वद्रूपत्व आखिर क्या होगा ? बौद्ध सिद्धान्त में सामान्य नामक कोई स्थायी पदार्थ तो मान्य हो ही नही सकता। क्योकि फिर वहाँ ही बौद्धो के सर्व-क्षणिकत्व-सिद्धान्त का बलिदान अनिवार्य रूप से हो उठेगा। और वह सामान्य हो भी नही सकता क्योकि उक्त अन-पेक्षित से अनपेक्षित की अनपेक्षित उत्पत्ति के निवारणार्थ उसे एक-एक मे अलग-अलग ही होने वाला मानना होगा। जिसके फलस्वरूप वह विशेष ही होकर रहेगा। वह अनेक मे रहने वाला एक हो नही पायेगा। जो लोग सामान्य को मान्यता देते है वे उसे अनेक मे रहने वाला एक ही मानते है। और उसे ऐसा मानने पर ही वह सचमुच सामान्य कहलाने का अधिकारी होता भी है। अत कुर्वद्रूपत्व को सामान्य कहा जा सकता नही। साथ ही उसे भी बौद्धसम्मत क्षणिकत्व सिद्धान्त के अनुसार क्षणिक भी मानना अनिवार्य होगा। और ऐसा मानने पर उन कुर्वद्रूपत्वो को उत्पत्तिशील भी मानना ही पडेगा। सुतरा यह भी प्रश्न स्वाभाविक रूप में उठ खडा होगा कि उन क्षणिक-कुर्वद्रूपत्वो के उत्पादक होगे कौन ? अगत्या बौद्ध-दार्शनिको को इस कथन के अतिरिक्त और कोई चारा रहेगा नही कि, उन कुर्वद्रूपत्वो की उत्पत्तियाँ भी विभिन्न तदनुरूप कुर्वद्रूपत्वो के सहारे होगी। इस कथन का फलितार्थ यह होगा कि करोडो पूर्वमान्य कुर्वद्रूपत्वो की भी उत्पत्तियो के अनुकूल करोडो अन्य कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्व भी मान्य होगे। और जब उन नवीन मान्य कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्व के सम्बन्ध मे भी उत्पादक की अपेक्षा पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार उपस्थित की जायगी तो फिर बौद्धो को उन नवीन-मान्यता-प्राप्त कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्वो की उत्पत्तियो के लिए कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्वो की भी मान्यता असख्य रूप मे उनके समक्ष अनिवार्य रूप में आपन्न हो उठेगी। जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि उनकी सारी विचारधारा अनवस्था-दौस्थ्य के पचडे मे इस प्रकार उलझ जायेगी कि उनकी सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो उठेगी। इसलिए अपनी थाती को यदि बौद्ध विवेचक बचाना चाहेगे तो उन्हें इस अजनबी कुर्वद्रूपत्व के पचडे

नही। और सामानाधिकरण्य का नियम मान्य होने पर उस अनुभविता को क्षणिक कैसे कहा जायेगा ? क्योकि उक्त अनभव के समय से लेकर और अनेक परवर्ती उक्त इच्छा के समय तक रहने वाले को जब आत्मा माना जायगा तभी उक्त अनुभव और उक्त इच्छा इन दोनो मे सामानाधिकरण्य वन सकेगा। और इतने दीर्घ समय तक रहने वाला यदि आत्मा को माना जाय, तो क्षणिकत्व-भग अनिवार्य हो उठता है जिसे उक्त बौद्ध लोग किसी भी प्रकार सहन करने के लिए राजी नही हो सकते। इसी प्रकार द्वेष की भी अनुपपत्ति होगी। इसे भी उदाहरण के द्वारा यो समझना चाहिए कि श्याम किसी एक वस्तु को अपने उपयोग मे लाकर यदि उससे दु ख का अनुभव करता है और अनेक समय बीत जाने पर भी वह वस्तु दृष्टिपथ पर कदाचित् अकस्मात् आ जाती है तो उस वस्तु मे श्याम द्वेष करता है। वह उसे न चाहता हुआ निवृत्त होता है। यह परिस्थिति तब तक उपपन्न नही हो सकती जब तक कि उस वस्तु के उपयोग से होने वाले दु खानुभव और अनेक परवर्ती उस वस्तु मे होने वाले द्वेष इन दोनो का आश्रयभूत आत्मा एक न मान लिया जाय। क्षणिकत्व और दीर्घ-काल-स्थायित्व ये दोनो आपस मे उसी प्रकार विरोधी है जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार, अत एक आत्मा मे क्षणिकत्व और दीर्घ-काल-स्थायित्व दोनो का समावेश सम्भव नही। अत आत्मा को क्षणिक नही कहा जा सकता। इसी प्रकार आत्मा को स्थायी न मानने पर प्रयत्न भी अनुपपन्न हो उठता है। क्योकि कोई भी व्यक्ति यदि किसी भी वस्तु का उपयोग करके अपने को सुखी अनुभव करता है, बीच मे अनेक समयात्यय के अनन्तर भी उस वस्तु को देख कर उसे चाहता हुआ वह अनुभविता उस वस्तु को पाने के लिए प्रयत्न करता पाया जाता है। यह भी परिस्थिति तब तक उपपन्न नही हो सकती जब तक कि पूववर्ती सुखानुभव और अनेक पश्चाद्वर्त्ती तद्व्यक्ति कर्त्तृक प्रयत्न इन दोनो के आश्रयभूत आत्मा को वहाँ से वहाँ तक रहने वाला एक न माना जाय। इसलिए भी आत्मा को क्षणिक नही माना जा सकता है। आत्मा यदि क्षणिक माना जाय तो सुख की भी अनुपपत्ति हो सकती है। क्योकि किसी मित्र को अनेक दिन के अनन्तर देखने पर द्रष्टा को सुख होता है इसमे विवाद नही है। परन्तु आत्मा को क्षणिक मानने पर यह उपपन्न इसलिए नही हो सकता कि यदि पूर्व-वर्ती मैत्री का अनुभव और अनेक परवर्ती सुख दोनो एक आश्रय मे ही रहने वाले न माने जायँ तो फिर मित्र को देख कर ही वहाँ सुख क्यो हो ? किसी को भी देख कर किसी को भी सुख हो जाय। जैसा कि वस्तुत होता नही। इसलिए इस आपत्ति के वारणार्थ यह मानना ही होगा कि पूर्वतन मैत्री का अनुभव, और पश्चात्तन सुख इनमें एकाश्रितता आवश्यक है। फलत एक आश्रयभूत आत्मा को स्थायी ही मानना होगा। क्षणिक किसी प्रकार नही माना जा सकता।

अनिवार्य रूप से मान्य आ पडती है जिनसे विनिर्मुक्त अपने मान्य को वह कहना चाहता है। इसके अनुसार जब कि अद्वैत शून्य को सत्, असत् आदि चार कोटियो से विनिर्मुक्त कहा जाता है तो शून्य के अतिरिक्त उक्त चार कोटियो की सत्ता भी मान्य हो उठती है, फिर यह कथन कैसे सगत हो सकता है कि शून्य ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नही है। यदि शून्याद्वैतवादी की ओर से यह कहा जाय कि उक्त चारो कोटियाँ पराभिमत है स्वाभिमत नही अत पराभिमत के रूप में उसे लेकर अपने मान्य शून्य को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहा जा सकता है। तो यह कथन भी इसलिए सगत नही हो पायेगा कि तब भी ऐसा कहने वाले को "पर" और उसकी "अभिमति" इन दोनो को मान्यता देनी होगी। अन्यथा उक्त सत्, असत् आदि कोटियो को वे "पराभिमत" भी नही कह सकते। ऐसी परिस्थिति मे वे कैसे यह कह सकते कि "पराभिमत रूप मे स्वीकृत सत्, असत् आदि कोटिचतुष्टय से अपने मान्य शून्य को शून्याद्वैतवादी कह सकता है" ? इसके अतिरिक्त यह भी इस सम्बन्ध मे विचारणीय है कि शून्याद्वैतवादी भी अपने मान्य शून्य का प्रतिपादन करते समय यही कहेंगे कि "शून्य है"। अब यहाँ "है" इस शब्द के द्वारा किस अर्थ को अभिव्यक्त किया जाने वाला वे मानेगे ? जो उसका सच्चा अर्थ है— "अस्तित्व" उसका ही प्रतिपादन यदि उक्त "है" शब्द के द्वारा मानेगे, तो अपने शून्य को भी वे "है" कहकर "सत्" नामक प्रथम कोटि मे अन्तर्मुक्त मान बैठेंगे। और यदि उसे सत् नही मानेंगे, तो उनका, शून्य के सम्बन्ध मे "है" यह कथन असगत हो उठेगा। यदि उनकी ओर से यह कहा जाय कि "क्या किया जाय कहते समय कहना तो ऐसे ही पडता हे परन्तु अपने कथन के अनुसार मुझे सचमुच मानना नही है, अत "है" शब्द से कहे जाने पर शून्य सत् रूप में मान्य नही है"। तो ऐसे कहने वाले के लिए किसी भी वस्तु को शून्य कहना और सत् कहना दोनो ही समान हो जाते है। क्योकि जो व्यक्ति स्वय यह स्पष्ट शब्दो मे कह बैठता है कि मै जो कहता हूँ उसे मानता नही और जो मानता, उसे कहता नही, तो उसके कथन का भला औरो की दृष्टि मे मूल्य ही क्या रह जाता ?

एतदतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि उक्त सत् आदि को अन्य-मान्य कह कर भी कैसे शून्यवादी अपने शून्य को उनसे विनिर्मुक्त बतला सकते ? क्योकि तृतीय "सत् और असत् और इनसे भिन्न" इस चतुर्थ कोटि को मानने वाला तो कोई दार्शनिक नजर आता नही कि उसे "पर" रूप मे लेकर उस चतुर्थ कोटि को तदभिमत रूप मे प्रसिद्ध करके शून्य को उससे भी विनिर्मुक्त बतलाया जा सके। अब रह जाती है बात यह कि बुद्ध जैसे सर्वज्ञ महापुरुष ने फिर शून्य का उपदेश क्यो और कैसे दिया ? तो इसके उत्तर मे अधिकतर लोग तो यही कह बैठेगे कि इसके सम्बन्ध मे भला कौन-सा प्रमाण उपस्थित किया जा सकता कि बुद्ध सर्वज्ञ थे ? बात भी सही है। जो व्यक्ति शून्य के

ससार की शून्यता का उपदेश देना नही चाहिए था किन्तु उन्होने एक ओर तो सासारिक प्रत्येक वस्तु को स्वलक्षण कह कर सत्य कहा और दूसरी ओर उन्होंने प्रत्येक ससार के वस्तु को शून्य कहा। क्या यह भी कथन उनका विरुद्ध नही हुआ ? इस प्रकार सासारिक प्रत्येक वस्तु को उन्होंने एक ओर दु ख कह कर सत्यभावात्मक कहा और दूसरी ओर सबको शन्य कहकर असत् कहा अत यह कथन भी उनका विरुद्ध ही हुआ। इन परिस्थितियो के ऊपर दृक्पात करने पर तो यह मानना होगा कि वे निश्चय विरुद्धभाषी थे। विरुद्ध भाषी व्यक्ति को कभी यथार्थ सर्वज्ञ नही कहा जा सकता। अयथार्थ सर्वज्ञ कह सकने पर भी उसका उपदेश ग्राह्य कोटि मे नही आ पाता। यदि ऐसा यथार्थ सर्वज्ञ माना जाय कि उपदेष्टा व्यक्ति जानता तो सब कुछ सही है परन्तु दूसरो को उसके विपरीत उपदेश देता है तब भी उस व्यक्ति को आप्त नही कहा जा सकता, उपदेश-ग्रहण-योग्य नही ठहराया जा सकता। इसलिए बुद्धदेव के कथन के आधार पर जगत् को एव उसके अन्तर्गत आत्मा को शून्य नही माना जा सकता। बुद्धदेव के उक्त परस्परविरोधी कथन के सामजस्यार्थ परवर्ती बौद्ध विद्वानो ने जिस इस मार्ग को अपनाया है कि "बुद्धदेव ने विभिन्न उपदेश्य की हार्दिक परिस्थिति को ध्यान मे रख कर उक्त उपदेश दिये"[१४०] वह भी उन्हें तत्त्वत एक चतुर लोकसग्रही बना कर ही छोडता है। जिससे सम्भावना इस बात की अधिक हो उठती है कि उनके ये चारो ही उपदेश आर्य सत्य न हो। इसके अतिरिक्त ही उनका कुछ वास्तविक उपदेश्य था जिसे या तो उन्होने कहा ही न हो, या कहा भी हो तो लोगो का ध्यान उस ओर नही गया हो। इस बात को तो बौद्ध लोग भी मानते ही है कि उनकी ऐहिक लीला समाप्ति के समय तक उनका कोई दार्शनिक मतवाद स्थिर नही हो पाया था। पीछे बौद्धो के सघ ने उनके उपदेशो का सकलन किया और उसे धर्म के ऊपर दार्शनिक रूप का एक चोगा ऊपर से दे डाला। बुद्धदेव पर आस्था रखते हुए यदि तटस्थ भाव से विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत ऐसा होता है कि बुद्धदेव का भावनाचतुष्टयोपदेश रहस्यपूर्ण था जिसे उनके अनुयायी लोग ठीक समझ नही पाये। जो रहस्य प्रतीत-सा होता है उसके विवेचन के लिए यह स्थान उपयुक्त नही। अत आत्मा को जो कि इस ससार का एक मुख्य सदस्य है शून्य नही कहा जा सकता।

(१४०) देशना लोकनाथाना सत्त्वाशयवशानुगा ।
भिद्यन्ते बहुधालोक उपायैर्बहुभि पुन ॥
गम्भीरोत्तान-भेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा ।
भिन्ना हि देशना भिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा ॥
—बोधिचित्त-विवरण, सर्व-दर्शन-सग्रह, बौद्धदर्शन ।

और उसकी अस्तिता पर आधारित जीव, ये सभी वेदान्त सिद्धान्त मे अनादि मान्य है। इसलिए यह प्रश्न नही उठाया जा सकता। तो यह उनका कथन इसलिए औचित्य नही प्राप्त कर पायेगा कि, किसी गुरु के, जिनके ऊपर कि उपदेश्य की अटूट श्रद्धा हो, कहने से आँख बन्द कर इसे वह उपदेश्य व्यक्ति, श्रद्धा-जाड्य-प्रयुक्त मान ले यह बात दूसरी है, परन्तु विवेचक तटस्थ कोई व्यक्ति तो, तर्क की कसौटी पर कस लेने के अनन्तर खरा निखरा पाकर ही उसे मान सकता है, अन्यथा नही। वेदान्तियो की ओर से जो ऊपर कहा गया है, जैसा कि वे लोग यह कहते हुए सचमुच मानते है कि—"जीव, ईश्वर, ब्रह्मचैतन्य, जीव और ईश्वर के बीच होने वाला भेद, अविद्या और ब्रह्मचैतन्य के साथ होने वाला उसका सम्बन्ध, ये छह हम वेदान्तियो के मत मे अनादि मान्य है" वह इसलिए नही तर्कसगत प्रतीत हो पाता कि यदि जीव आदि का अनादि अस्तित्व माना जायगा तो जीवत्व अनादि हो उठने के कारण उसकी निवृत्ति कभी सम्भव नही हो पायेगी। क्योकि अनादि भाव कभी निवृत्त नही हो सकते। अभावो के अन्दर भी प्रागभाव की मान्यता पक्ष मे उसीकी केवल निवृत्ति मान्य होती है। भेद कभी नष्ट नही हो सकता। ऐसी परिस्थिति मे छह तात्त्विक मान्य हो उठने के कारण चैतन्यस्वरूप ब्रह्म मात्र का पारमार्थिक अस्तित्व खण्डित हो उठता है। यदि इस पर वेदान्तियो की ओर से यह कहा जाय कि चैतन्यात्मक ब्रह्म को छोड कर अन्य सारी वस्तुएँ है मायात्मक अज्ञान के परिणाम होने के कारण आज्ञानिक। वह माया ही जब कि वेदान्त सिद्धान्त मे तात्त्विक नही है, अध्यस्त है, कल्पित है तब उसके परिणामस्वरूप अन्य सभी मायिको को भी अध्यस्त ही मानना होगा कल्पित ही मानना होगा। ऐसी परिस्थिति मे अन्त करण और तदधीन परिच्छिन्नता प्रयुक्त जीवत्व आदि सभी मायात्मक अज्ञान के ही अन्दर अन्तर्भुक्ति के कारण अध्यस्त ही मान्य होगे, कल्पित ही कहे जायेगे और अध्यस्त की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता के अतिरिक्त और कुछ होती नही इसलिए अन्त करण, जीव, जीवत्व आदि की भी सत्ता चैतन्यात्मक ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त होगी नही, अत उक्त चैतन्य से अतिरिक्त और कोई तात्त्विक सत् नही होने के कारण अद्वैत की मान्यता मे कोई बाधा नही उपस्थित होती है। तो यह कथन भी इसलिए सगत नही हो पायेगा कि प्रत्येक कल्पना का यह निश्चित स्वभाव पाया जाता है कि उसका कोई-न-कोई कल्पक अवश्य होता है। सीप मे चाँदी की कल्पना और माला मे सर्प की कल्पना निष्कर्त्तृक कभी नही देखी जाती। फलत समग्र जगत् के मिथ्यात्वसाधक दृष्टान्त रूप मे सारे दृष्टान्त स्थलो मे जब कि कल्पनाएँ किञ्चित्कर्त्तृक ही होती हुई पायी जाती है तब प्राथमिक माया कल्पना को भी किञ्चिकर्त्तृक ही मानना होगा। परन्तु कठिनता यह है कि वहाँ किंचित् पद का बोध्य कौन होगा ? जीव आदि की तो किसी की अस्तिता उस समय सम्भव कही जा नही पायेगी। क्योकि अज्ञानात्मक-माया की कल्पना के पूर्व आज्ञानिक

अनेक हो जाते है, विभिन्न प्रतीत होते है तद्वत् बिम्बभूत ब्रह्मचैतन्य तत्त्वत एक होने पर भी विभिन्न जलपात्र स्थानीय अन्त करणो की विभिन्नता के अनुसार अन्त करणो मे पडने वाले प्रतिबिम्ब-चैतन्य विभिन्न हो जाते हैं। अनेक हो जाते है। ये विभिन्नता-प्राप्त प्रतिविम्व-चैतन्य ही होते है जीवात्मा, जो तत्वत बिम्बचैतन्यरूप ही होते है। क्योकि प्रतिविम्व और बिम्ब इन दोनो में तत्त्वत कोई अन्तर होता नही। इस वस्तुस्थिति के अनुसार विभिन्न अन्त करण-प्रतिबिम्बित चैतन्य ही कहलाते है जीवात्मा। इसलिए वे ही होते हैं प्रमाता। इस प्रकार अवच्छेदवादी और बिम्ब-प्रतिबिम्बवादी वेदान्त-सम्प्रदायो के अन्दर प्रमाता के सम्बन्ध मे महान् मतभेद पाया जाता है।

इतना ही नही, बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद को आदर देने वाले वेदान्तियो के बीच भी प्रमाता के सम्बन्ध मे मतैक्य नही पाया जाता है। क्योकि एक दल जहाँ अन्त करणो मे प्रति-विम्वित विभिन्न चैतन्यो को जीवात्मा-मानते हुए उन्हें प्रमाता मानता है, वहाँ दूसरा बिम्ब-प्रतिबिम्बवादियो का दल ऐसा न मान कर एक अविद्या मे प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव मानता है। जिसका परिणाम यह निकलता है कि प्रमाता जीवात्मा अनेक न होकर एक ही रह जाता है। क्योकि प्रतिबिम्व-स्थानभूत अविद्या एक ही होती है, अन्त करण के समान विभिन्न नही। अत इस प्रकार भी प्रमाता जीवात्मा के सम्बन्ध मे अद्वैत-वेदान्तियो के वीच मतभेद पाया जाता है। वेदान्तियो का तीसरा सम्प्रदाय जिसे वार्त्तिककार का सम्प्रदाय कहा जाता है वह इस प्रमाता जीवात्मा के सम्बन्ध मे अपना निर्णय विवेचको के समक्ष यह उपस्थित करता हैं कि प्रमाता जीवात्मा न तो अन्त करणावच्छिन्न या अविद्या-वच्छिन्न चैतन्यस्वरूप है और न अन्त करण प्रतिबिम्ब चैतन्य या अविद्या मे प्रतिबिम्बित चैतन्यस्वरूप है। किन्तु वह अन्त करण या अविद्या मे प्रतीत होने वाला चैतन्याभासस्वरूप है। आभास और प्रतिबिम्ब मे महान् अन्तर यह होता है कि प्रतिविम्ब जहाँ तत्त्वत बिम्बात्मक होने के कारण तात्त्विक होता है आभास वहाँ तात्त्विक न होकर मिथ्या छाया-स्वरूप होता है। इस प्रकार जब कि वेदान्ती लोग स्वय प्रमाता के सम्बन्ध मे एकमत नही हो पाते आपसी फूट उनकी हटती नही तो "घर फूटे तो अमार लूटे" इस लौकिक कहावत के अनुसार और लोग तो, और वेदान्तवाद को मान्यता नही देंगे।

बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद इन दोनो मतो मे भी अवच्छेदवाद की तरह जीव की प्राथमिकता की अनुपपत्ति उसी प्रकार अनिवार्य दीख पडती है जिस प्रकार अवच्छेदवादी वेदान्त सिद्धान्त मे बतलाया गया है। क्योकि इन दोनो पक्षो मे भी प्रति-बिम्ब या आभास के आधार रूप मे इन दोनो वादो की मान्यता पक्ष मे भी अन्त करण या अविद्या की आवश्यकता अनिवार्य रूप से विवेचको को प्रतीत होती है। उक्त अन्त करण या अविद्या को यदि तात्त्विक, अनादि भाव माना जाय तो उनका विगम सम्भव न हो सकने के

ही चाहिए तो भौतिक अणुओ को अर्थात् पृथिवी, जल, तेज और वायु इनके पर
समुदाय को नित्य एक चेतन जगत्कर्त्ता परमेश्वर का शरीर माना जा सकता है।
यह कह कर चेतन परमेश्वर का खण्डन नही किया जा सकता कि शरीररहित होने
कारण जगत्कर्त्ता के रूप मे वे मान्य नही हो सकते। ईश्वर के सम्बन्ध मे इस प्र
दार्शनिक मतभेदो को देखते हुए यह अनायास लोगो के हृदय मे प्रबल रूप मे जि
उदित हो सकती है कि चार्वाक-सिद्धान्त ईश्वर मानता है या नही ? तो इसके स
मे ज्ञातव्य यह है कि यह दर्शन विशेष रूप से दाण्डिक होने के कारण अधिकतर लौ
जीवन-व्यवस्था से ही सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओ के ही विवेचन को अपना
कर्तव्य समझता है। इसके अनुसार यह चार्वाक-सिद्धान्त लोक-शासक-प्रमाता को ही उ
नोपयोगी लोकव्यवस्था के अनुकूल ईश्वर मानता है। और इसके अतिरिक्त जाग
उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के लिए यदि ईश्वर की अपेक्षा प्रतीत हो तो भूतसमष्ट्या
महासमवाय को ही ईश्वर यहाँ मान्य समझना चाहिए। अभौतिक ईश्वर की मा
इसलिए उचित एव अपेक्षित नही कही जा सकती कि जब कि भूत-चैतन्य यहाँ अनि
रूप से मान्य है तब अभौतिक कोई चैतन्य या चेतन आ ही कहाँ से सकता, जिसे ईश्व
परमेश्वर माना जाय ? अनीश्वरवादी जिन युक्तियो से ईश्वरीय सत्ता का खण्डन कर
वे युक्तियाँ इन चार्वाकीय दोनो ईश्वरो की मान्यता मे बाधक नही हो सकती। यथ
अनीश्वरवादी लोगो का ईश्वरीय मान्यता के विरुद्ध प्रबल कथन यह है कि परमे
को जगत् की सृष्टि के लिए जो इच्छा या प्रवृत्ति होती है वह स्वार्थ होती है या परा
स्वार्थ वह इच्छा एव प्रवृत्ति होती है यह बात इसलिए नही कही जा सकती कि परमे
भी यदि स्वार्थी हो, तो वह फिर परमेश्वर ही कैसे कहलायेगा ? क्योकि ऐसी इच्छ
आकीटपतङ्ग सभी प्राणी जीवात्माओ को हुआ करती है। ऐसी परिस्थिति मे वह स्व
परमेश्वर भी फलत जीवकोटि प्रविष्ट ही हो जाता है। वह भी जीव ही कहलाने
अधिकारी हो जाता है परमेश्वर कहलाने का नही। और यदि उस परमेश्वर को प
प्रवृत्तिशील एव इच्छाशील माना जाय, तो यह भी युक्तिसगत इसलिए नही कहला पा
कि शरीर और विषय आदि भौतिक-अवयवियो की उत्पत्ति होने के अनन्तर कोई भी
इन भौतिक साधनोकी असम्पन्नता-प्रयुक्त दुखीहो सकता,है,सृष्टिकेपूर्व नही। पराथ प्र
एव इच्छा करुणामूलक ही होगी परमेश्वर की। परन्तु यदि वे भौतिक वस्तुओ की उत
हीन करते तो भौतिक साधनो से सम्पन्नता और असम्पन्नता के प्रश्नही नही उठने, यत्प्र
कोई अपने को दुखी अनुभव करता और उन दुखी जीवो के दुख की निवृत्ति के
परमेश्वर और उनकी इच्छा एव प्रवृत्ति की आवश्यकता आ पडती। साराश यह
सृष्टि के पूर्व तो कोई जीव दुखी ही नही कहा जा सकता जिसके दुख निवृत्यर्थ उन्हे कर

दोनो ही दर्शनो के महान् आचार्य उदयन ने परमेश्वर की ही सिद्धि के लिए "परमात्मतत्त्व-विवेक" का, जिसे उन्होंने अपने भक्त हृदय के अनुसार "कुसुमाजलि" कहा है, प्रणयन किया है। सभी नैयायिक एव वैशेषिक लोगो का ईश्वर की मान्यता के सम्बन्ध मे मुख्य रूप मे कहना यह है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारो के परमाणु और आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये हैं नित्य द्रव्य। इन्हे छोड कर अन्य सारे द्रव्य है जन्य अर्थात् उत्पत्तिशील। क्योकि आरम्भ-वादी सिद्धान्त मे सत्कार्यवाद मान्य होता नही कि सारी वस्तुओ को पहले से ही विद्यमान माना जाय। ऐसी परिस्थिति मे यह भी मानना आवश्यक है कि इस महान् ब्रह्माण्ड स्वरूप कार्य का उत्पाद होता है और उसे कोई-न-कोई करता है। हम लोगो के अन्दर का कोई भी जीव तो इस विशाल ब्रह्माण्ड का निर्माण कर नही सकता। अत इस विशाल ब्रह्माण्डात्मक कार्य के कर्त्ता के रूप मे परमेश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक है। जब इस पर इन ईश्वरवादी विवेचको के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है निरीश्वरवादियो की ओर से कि कर्त्ता कोई भी क्यो न हो वह नियमत शरीरी अर्थात् शरीरवाला ही देखा जाता है। समग्र ब्रह्माण्ड के कर्त्ता रूप मे मान्य परमेश्वर को शरीरी मानना सम्भव नही। क्योकि शरीर नियमत भौतिक ही पाया जाता है। और भूत सारे उनके द्वारा विरचनीय ब्रह्माण्ड के ही अन्दर आने वाले होते है। कार्य कोटि मे आने वाला कारण कोटि मे कैसे जा सकता? अत परमेश्वर की मान्यता कैसे दी जा सकती? तो इसके उत्तर मे ईश्वरवादी नैयायिको और वैशेषिको की ओर से यह कहा जाता है कि कार्य के लिए किसी-न-किसी कर्त्ता का ही होना आवश्यक है। वह कर्त्ता शरीरी ही हो यह कोई नियम नही है। अत बिना शरीर का भी जगत् का कर्त्ता मान्य हो सकता है। इन लोगो के इस कथन का अभिप्राय यह है कि जो लोग जगत् को स्वाभाविक मानते है, प्राकृत मानते है उनके मत मे भी इस जगत् का आविर्भावात्मक कार्य और स्वभाव या प्रकृतिस्वरूप उसका कर्त्ता माना ही जाता है। प्रकृति और स्वभाव को भी हम लोगो की तरह नाक, कान आदि युक्त शरीरी कहा नही जा सकता। फलत अशरीरी कर्त्ता उन्हें भी मानना ही पडता है फिर हम जब चेतन अशरीरी कर्त्ता की मान्यता बतलाते है तो क्यो यह प्रश्न वे उठाते है कि अशरीरी कर्त्ता कैसे हो सकता? अत अशरीरी चेतन जगत्कर्त्ता ईश्वर अवश्य मान्य है। कुछ नैयायिको ने इस निरीश्वरवादी तर्क के उत्तर मे यह कहते पाये जाते है कि यदि जगत्कर्त्ता ईश्वर को शरीर भी होना

(१४८) कार्यायोजनधृत्यादे पदात्प्रत्ययत श्रुते।
वाक्यात संख्या विशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय ॥१॥
—न्यायकुसुमाजलि, ५ स्तवक।

ही चाहिए तो भौतिक अणुओ को अर्थात् पृथिवी, जल, तेज और वायु इनके परमाणु समुदाय को नित्य एक चेतन जगत्कर्त्ता परमेश्वर का शरीर माना जा सकता है। अत यह कह कर चेतन परमेश्वर का खण्डन नही किया जा सकता कि शरीररहित होने के कारण जगत्कर्त्ता के रूप मे वे मान्य नही हो सकते। ईश्वर के सम्बन्ध मे इस प्रकार दार्शनिक मतभेदो को देखते हुए यह अनायास लोगो के हृदय मे प्रबल रूप मे जिज्ञासा उदित हो सकती है कि चार्वाक-सिद्धान्त ईश्वर मानता है या नही ? तो इसके सम्बन्ध मे ज्ञातव्य यह है कि यह दर्शन विशेप रूप से दाण्डिक होने के कारण अधिकतर लौकिक जीवन-व्यवस्था से ही सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओ के ही विवेचन को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता है। इसके अनुसार यह चार्वाक-सिद्धान्त लोक-शासक-प्रमाता को ही जीवनोपयोगी लोकव्यवस्था के अनुकूल ईश्वर मानता है। और इसके अतिरिक्त जागतिक उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के लिए यदि ईश्वर की अपेक्षा प्रतीत हो तो भूतसमष्टयात्मक महासमवाय को ही ईश्वर यहाँ मान्य समझना चाहिए। अभौतिक ईश्वर की मान्यता इसलिए उचित एव अपेक्षित नही कही जा सकती कि जब कि भूत-चैतन्य यहाँ अनिवार्य रूप से मान्य है तब अभौतिक कोई चैतन्य या चेतन आ ही कहाँ से सकता, जिसे ईश्वर या परमेश्वर माना जाय ? अनीश्वरवादी जिन युक्तियो से ईश्वरीय सत्ता का खण्डन करते हैं वे युक्तियाँ इन चार्वाकीय दोनो ईश्वरो की मान्यता मे बाधक नही हो सकती। यथा—अनीश्वरवादी लोगो का ईश्वरीय मान्यता के विरुद्ध प्रबल कथन यह है कि परमेश्वर को जगत् की सृष्टि के लिए जो इच्छा या प्रवृत्ति होती है वह स्वार्थ होती है या परार्थ ? स्वार्थ वह इच्छा एव प्रवृत्ति होती है यह बात इसलिए नही कही जा सकती कि परमेश्वर भी यदि स्वार्थी हो, तो वह फिर परमेश्वर ही कैसे कहलायेगा ? क्योकि ऐसी इच्छा तो आकीटपतङ्ग सभी प्राणी जीवात्माओ को हुआ करती है। ऐसी परिस्थिति मे वह स्वार्थी परमेश्वर भी फलत जीवकोटि प्रविष्ट ही हो जाता है। वह भी जीव ही कहलाने का अधिकारी हो जाता है परमेश्वर कहलाने का नही। और यदि उस परमेश्वर को परार्थ प्रवृत्तिशील एव इच्छाशील माना जाय, तो यह भी युक्तिसगत इसलिए नही कहला पायेगा कि शरीर और विषय आदि भौतिक-अवयवियो की उत्पत्ति होने के अनन्तर कोई भी जीव इन भौतिक साधनोकी असम्पन्नता-प्रयुक्त दु खीहो सकता है, सृष्टिके पूर्व नही। परार्थ प्रवृत्ति एव इच्छा करुणामूलक ही होगी परमेश्वर की। परन्तु यदि वे भौतिक वस्तुओ की उत्पत्ति ही न करते तो भौतिक साधनो से सम्पन्नता और असम्पन्नता के प्रश्नही नही उठते, तत्प्रयुक्त कोई अपने को दु खी अनुभव करता और उन दुखी जीवो के दु ख की निवृत्ति के लिए परमेश्वर और उनकी इच्छा एव प्रवृत्ति की आवश्यकता आ पडती। साराश यह कि सृष्टि के पूर्व तो कोई जीव दुखी ही नही कहा जा सकता जिसके दु ख निवृत्यर्थ उन्हे करुणा-

मूलक सृष्टि की अपेक्षा प्रतीत हो। अत ससार के सृष्ट्यर्थ परमेश्वर की आवश्यकता नही बतलायी जा सकती।

परन्तु इस प्रकार किया जाने वाला ईश्वर का खण्डन चार्वाक-सम्मत ईश्वर का खण्डन नही हो पाता। क्योकि प्राणिव्यवहार के लिए अपेक्षित सुव्यवस्था के सम्पादक रूप मे मान्य लौकिक शासकस्वरूप ईश्वर भी उक्त व्यवस्था के लिए निर्णीत कानूनस्वरूप नियम को मान्यता देने वाले समाज का ही एक सदस्य होता है, वह भी उस नियम मे उसी प्रकार आबद्ध रहता है जैसे अन्य मानव। इसीलिए जब वह भी निर्णीत नियम के प्रतिकूल आचरण करता है तो समाज उसका विरोध करता है और वह ईश्वर पद से च्युत हो जाता है। प्राचीन एकतन्त्र शासन के अस्तित्व काल मे भी अनेक नियमोल्लघनकारी शासको की पदच्युति प्राचीन साहित्य मे वर्णित पायी जाती है। फलत विचारपूर्वक देखने पर लौकिक व्यवस्था की अक्षुण्णता के सम्पादक रूप मे लौकिक ईश्वर का स्थान मुख्य रूप मे उन नियमो को ही प्राप्त होता है जिनके आधार पर शासक स्वय भी उन नियमो की मान्यता मे आबद्ध रहते हुए लोकमर्यादा को सुव्यवस्थित रखता है। उन नियमो के प्रवर्त्तक एव स्थापक तथा आवश्यकता के अनुसार परिवर्त्तक होने के कारण ही लौकिक शासक ईश्वर कहलाता है। इस ईश्वर के सम्बन्ध मे उक्त प्रश्न उठता ही नही। क्योकि यह ईश्वर जगत्कर्त्ता के रूप मे तो मान्य है नही कि इसके सम्बन्ध मे उक्त प्रकार उठाया जाने वाला प्रश्न औचित्य प्राप्त कर सके। रही बात यहाँ मान्य भूतसमवायात्मक ईश्वर की, तो उसके सम्बन्ध मे भी उक्त प्रश्न इसलिए नही उठाया जा सकता कि यहाँ इस भौतिक-सृष्टि का कर्त्ता वह भूतसमवायात्मक ईश्वर, घटकर्त्ता कुम्भकार आदि के समान कोई अतिरिक्त स्फुट चैतन्य रूप मे तो मान्य है नही कि उसके सम्बन्ध मे स्वार्थ या करुणा का प्रश्न उठाया जा सके। इसे ही जगह-जगह पर भूतात्मा शब्द से महाभारत और पुराणो के अन्दर कहा गया है।

अब यहाँ शङ्का यह उठ खडी हो सकती है कि इस लोकप्रथिति का कारण क्या है कि चार्वाक-सिद्धान्त ईश्वर मानता नही ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक दर्शन एव लौकिकाधारणा मे जैसा परमेश्वर मान्य है वैसा परमेश्वर चार्वाक दृष्टिकोण मे मान्य न होने के कारण साधारणतया लोग यह कहते है कि चार्वाक-सिद्धात ईश्वर मानता नही। यदि यह जिज्ञासा व्यक्त की जाय कि वैसा ही परमेश्वर यहाँ भी क्यो न माना जाता है ? तो इसके उत्तर मे निरीश्वरवादियो द्वारा उपस्थापित उक्त एव अन्य युक्तियो को उपस्थित किया जा सकता है। उदाहरण के रूप मे वैषम्य और नैर्घृण्य दोषो को तादृश परमेश्वर की मान्यता मे बाधक रूप से उपस्थित किया जा सकता है। यदि भूतात्मा के अतिरिक्त व्यापक परमेश्वर माना जाय और उसे ही पूर्ण रूप से विधाता एव व्यवस्थापक माना जाय तो उसके ऊपर यह महान् दायित्व आ गिरता है कि उसने

प्राणियो को केवल सुखी ही क्यो न बनाया ? दु खी क्यो बनाया ? यदि सुखी और दु खी दोनो ही बनाया, फिर भी सभी प्राणियो को समान रूप से सुखी एव दुखी उन्हे बनाना चाहिए था, जैसा कि उन्होने किया नही। कुछ ईश्वरवादियो ने जो इस दोष के निराकरण मे यह कहा है कि इसे उनकी लीला समझना चाहिए। अर्थात् उनके लिए तो यह ससार एक क्रीडा मात्र है। क्रीडा मे सुख दु ख नही देखे जाते है। तो यह कथन भला तार्किक-दृष्टिकोण से कैसे सगत कहा जा सकता है ? यह उनकी क्रीडा तो फिर चिडियो को मार कर की जाने वाली लडको की क्रीडा से ऊपर नही उठ सकती। और क्रीडा मे इस प्रकार छूट देने पर तो सभी प्राणी क्रीडा के बहाने मनमाना करने के अधिकारी हो बैठते है। जिसका प्रवर्त्तनप्रयुक्त दोष उस ईश्वर के ऊपर ही आ गिरता है। यह कह कर भी इस प्रश्न को नही टाला जा सकता कि "समर्थ को दोष लगता नही"। क्योकि ऐसा मानने पर सारी लोकव्यवस्था इसलिए अस्तव्यस्त हो उठती है कि सामर्थ्य मे तारतम्य के कारण दुर्बल से सबल व्यक्ति समर्थ होता ही है। फलत प्रबल व्यक्तिकर्तृक दुर्बलो का पीडन उचित कहलाने लगेगा। जिसे कि किसी प्रकार उचित नही कहा जा सकता। यदि अतिरिक्त ईश्वरवादियो की ओर से यह कहा जाय कि उक्त वैषम्य दोष का निराकरण अदृष्टवाद का आदर करके किया जा सकता है। अर्थात् यदि यह कहा जाय कि परमेश्वर प्राणियो को उनसे किये गये अच्छे और बुरे कर्म-जनित पुण्य और पाप के अनुसार फल देते है। इसलिए उनके ऊपर पक्षपात का आरोप नही किया जा सकता, विषमता की आपत्ति नही दी जा सकती। तो यह कथन इसलिए सगत नही हो पायेगा कि तब तो ईश्वर का स्थान अदृष्ट ही ले लेगा। यह भली-भाँति कहा जा सकेगा कि तब अदृष्ट को ही भोगनियामक मान लिया जाय तदर्थ ईश्वर मानने की कोई आवश्यकता नही।

चार्वाकसम्मत भूतसमवायस्वरूप परमेश्वर की मान्यता पक्ष मे ऐसी कोई समस्या इसलिए नही उपस्थित होगी कि वह चेतनभूतात्मा स्वय समग्र चराचर रूप धारण करता है इसलिए अतिरिक्त कोई रह ही नही जा पाता जिसके कारण उक्त वैषम्य नैर्घृण्य आदि की आपत्ति दी जा सके। यदि यहाँ यह कहा जाय कि चार्वाक दर्शन तो निरीश्वरवादी नास्तिक दर्शन कहा जाता है फिर चार्वाकीय दृष्टिकोण मे परमेश्वर का अस्तित्व वर्णन कैसे सगत कहा जा सकता ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वह अमान्यता भूतसमवाय से भिन्न चेतन परमेश्वर के विषय मे समझनी चाहिए। क्योकि तादृश परमेश्वर की मान्यता पक्ष मे लोकगत सुव्यवस्था का सम्पादक दण्ड सुव्यवस्थित नही हो सकता। क्योकि वैसा परमेश्वर मान्य होने पर उसे ही कर्म के उचित फल का विधाता मानना होगा जैसा कि और लोग मानते ही है। फलत सच्चा न्यायाधीश उसे ही मानना होगा। ऐसी परिस्थिति मे कोई भी लौकिक शासक या न्यायाधीश कैसे अपराधी को दण्ड दे पायेगा। क्योकि एक

मूलक सृष्टि की अपेक्षा प्रतीत हो। अत ससार के सृष्टचर्थ परमेश्वर की आवश्यकता नही वतलायी जा सकती।

परन्तु इस प्रकार किया जाने वाला ईश्वर का खण्डन चार्वाक-सम्मत ईश्वर का खण्डन नही हो पाता। क्योंकि प्राणिव्यवहार के लिए अपेक्षित सुव्यवस्था के सम्पादक रूप मे मान्य लौकिक शासकस्वरूप ईश्वर भी उक्त व्यवस्था के लिए निर्णीत कानूनम्वरुप नियम को मान्यता देने वाले समाज का ही एक सदस्य होता है, वह भी उम नियम मे उसी प्रकार आवद्ध रहता है जैसे अन्य मानव। इसीलिए जव वह भी निर्णीत नियम के प्रतिकूल आचरण करता है तो समाज उसका विरोध करता है और वह ईश्वर पद से च्युत हो जाता है। प्राचीन एकतन्त्र शासन के अस्तित्व काल मे भी अनेक नियमोल्लघनकारी शासको की पदच्युति प्राचीन साहित्य मे वर्णित पायी जाती हे। फलत विचारपूर्वक देखने पर लौकिक व्यवम्था की अक्षुण्णता के सम्पादक रूप मे लौकिक ईश्वर का स्थान मुख्य रूप से उन नियमो को ही प्राप्त होता है जिनके आधार पर शासक स्वय भी उन नियमो की मान्यता मे आवद्ध रहते हुए लोकमर्यादा को सुव्यवस्थित रखता है। उन नियमो के प्रवर्त्तक एव स्यापक तथा आवश्यकता के अनुसार परिवर्त्तक होने के कारण ही लौकिक शासक ईश्वर कहलाता है। इस ईश्वर के सम्वन्व मे उक्त प्रश्न उठता ही नही। क्योकि यह ईश्वर जगत्कर्त्ता के रूप मे तो मान्य है नही कि इसके सम्वन्ध मे उक्त प्रकार उठाया जाने वाला प्रश्न औचित्य प्राप्त कर सके। रही वात यहाँ मान्य भूतसमवायात्मक ईश्वर की, तो उसके सम्वन्घ मे भी उक्त प्रश्न इसलिए नही उठाया जा सकता कि यहाँ इस भौतिक-सृष्टि का कर्त्ता वह भूतसम-वायात्मक ईश्वर, घटकर्त्ता कुम्भकार आदि के समान कोई अतिरिक्त स्फुट चैतन्य रूप मे तो मान्य है नही कि उसके सम्बन्घ मे स्वार्थ या करुणा का प्रश्न उठाया जा सके। इमे ही जगह-जगह पर भूतात्मा शव्द से महाभारत और पुराणो के अन्दर कहा गया है।

अव यहाँ शङ्का यह उठ खडी हो सकती है कि इस लोकप्रथिति का कारण क्या है कि चार्वाक-सिद्धान्त ईश्वर मानता नही ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक दर्शन एव लौकिकाधारणा मे जैसा परमेश्वर मान्य है वैसा परमेश्वर चार्वाक दृष्टिकोण मे मान्य न होने के कारण साधारणतया लोग यह कहते है कि चार्वाक-सिद्धात ईश्वर मानता नही। यदि यह जिज्ञासा व्यक्त की जाय कि वैसा ही परमेश्वर यहाँ भी क्यो न माना जाता है ? तो इसके उत्तर मे निरीश्वरवादियो द्वारा उपस्थापित उक्त एव अन्य युक्तियो को उपस्थित किया जा सकता है। उदाहरण के रूप मे वैषम्य और नैर्घृण्य दोपो को तादृश परमेश्वर की मान्यता मे बाधक रूप से उपस्थित किया जा सकता है। यदि भूतात्मा के अतिरिक्त व्यापक परमेश्वर माना जाय और उसे ही पूर्ण रूप से विधाता एव व्यवस्थापक माना जाय तो उसके ऊपर यह महान् दायित्व आ गिरता है कि उसने

प्राणियो को केवल सुखी ही क्यो न बनाया ? दु खी क्यो बनाया ? यदि सुखी और दु खी दोनो ही बनाया, फिर भी सभी प्राणियो को समान रूप से सुखी एव दुखी उन्हे बनाना चाहिए था, जैसा कि उन्होने किया नही। कुछ ईश्वरवादियो ने जो इस दोष के निराकरण मे यह कहा है कि इसे उनकी लीला समझना चाहिए। अर्थात् उनके लिए तो यह ससार एक क्रीडा मात्र है। क्रीडा मे सुख दु ख नही देखे जाते है। तो यह कथन भला तार्किक-दृष्टिकोण से कैसे सगत कहा जा सकता है ? यह उनकी क्रीडा तो फिर चिड़ियो को मार कर की जाने वाली लडको की क्रीडा से ऊपर नही उठ सकती। और क्रीडा मे इस प्रकार छूट देने पर तो सभी प्राणी क्रीडा के बहाने मनमाना करने के अधिकारी हो बैठते है। जिसका प्रवर्त्तनप्रयुक्त दोष उस ईश्वर के ऊपर ही आ गिरता है। यह कह कर भी इस प्रश्न को नही टाला जा सकता कि "समर्थ को दोष लगता नही"। क्योकि ऐसा मानने पर सारी लोकव्यवस्था इसलिए अस्तव्यस्त हो उठती है कि सामर्थ्य मे तारतम्य के कारण दुर्बल से सबल व्यक्ति समर्थ होता ही है। फलत प्रबल व्यक्तिकर्तृक दुर्बलो का पीडन उचित कहलाने लगेगा। जिसे कि किसी प्रकार उचित नही कहा जा सकता। यदि अतिरिक्त ईश्वरवादियो की ओर से यह कहा जाय कि उक्त वैषम्य दोष का निराकरण अदृष्टवाद का आदर करके किया जा सकता है। अर्थात् यदि यह कहा जाय कि परमेश्वर प्राणियो को उनसे किये गये अच्छे और बुरे कर्म-जनित पुण्य और पाप के अनुसार फल देते है। इसलिए उनके ऊपर पक्षपात का आरोप नही किया जा सकता, विषमता की आपत्ति नही दी जा सकती। तो यह कथन इसलिए सगत नही हो पायेगा कि तब तो ईश्वर का स्थान अदृष्ट ही ले लेगा। यह भली-भाँति कहा जा सकेगा कि तब अदृष्ट को ही भोगनियामक मान लिया जाय तदर्थ ईश्वर मानने की कोई आवश्यकता नही।

चार्वाकसम्मत भूतसमवायस्वरूप परमेश्वर की मान्यता पक्ष मे ऐसी कोई समस्या इसलिए नही उपस्थित होगी कि वह चेतनभूतात्मा स्वय समग्र चराचर रूप धारण करता है इसलिए अतिरिक्त कोई रह ही नही जा पाता जिसके कारण उक्त वैषम्य नैर्घृण्य आदि की आपत्ति दी जा सके। यदि यहाँ यह कहा जाय कि चार्वाक दर्शन तो निरीश्वरवादी नास्तिक दर्शन कहा जाता है फिर चार्वाकीय दृष्टिकोण मे परमेश्वर का अस्तित्व वर्णन कैसे सगत कहा जा सकता ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वह अमान्यता भूतसमवाय से भिन्न चेतन परमेश्वर के विषय मे समझनी चाहिए। क्योकि तादृश परमेश्वर की मान्यता पक्ष मे लोकगत सुव्यवस्था का सम्पादक दण्ड सुव्यवस्थित नही हो सकता। क्योकि वैसा परमेश्वर मान्य होने पर उसे ही कर्म के उचित फल का विधाता मानना होगा जैसा कि और लोग मानते ही है। फलत सच्चा न्यायाधीश उसे ही मानना होगा। ऐसी परिस्थिति मे कोई भी लौकिक शासक या न्यायाधीश कैसे अपराधी को दण्ड दे पायेगा। क्योकि एक

ही व्यक्ति को एक ही अपराध के फलस्वरूप दो दण्ड नही दिये जा सकते। और साथ ही लौकिक न्यायाधीश अन्य सच्चे न्यायाधीशस्वरूप परमेश्वर की ओर दृष्टि जाने पर अपने दण्ड-सम्बन्धी निर्णय पर औचित्य का निर्णय न कर सकने के कारण दण्डाज्ञा के समय सन्दिग्ध हो उठेगा। इस प्रकार दण्ड-विधान मे शैथिल्य उपस्थित हो आयेगा। भूतसमवायात्मक ईश्वर मानने पर उस दृष्टि मे दण्डय, दण्ड और दाण्डिक सभी उसके कुक्षि मे ही आ जाते हैं। इसलिए वह भूतसमवायात्मक ईश्वर दाण्डिक क्षेत्रगत न्यायाधीश का आसन ग्रहण करता नही। अत लौकिक दण्डय-दाण्डिकभाव अक्षुण्ण रह जाता है, उसकी अमान्यता अथवा उसमे किसी प्रकार की बाधा आपन्न होती नही। अत उक्त भूतसमवायात्मक परमेश्वर के अतिरिक्त शरीरात्मक प्रमाता ईश्वर लौकिक सुव्यवस्था के लिए अवश्य मान्य होता है। भूतसमवायात्मक ईश्वर की मान्यता मे "सर्वंखल्विद ब्रह्म", "इद सर्वं यदयमात्मा" (बृ २।४।६) आदि श्रुतियाँ भी पूर्ण साहाय्य करती है।

चार्वाक-सम्मत मन, मस्तिष्क——

प्रमाण शब्द के अर्थ दो होते है प्रमा और उसका करण अर्थात् उसके प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाला। इन दो प्रमाणो के अन्दर मुख्य प्रमात्मक प्रमाण पहले विस्तृत रूप से विवेचित हो चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि प्रमाकरणात्मक प्रमाण केवल मन ही इस चार्वाक सिद्धान्त मे मान्य है। इस मन से ही उत्पन्न होने के कारण यहाँ सारे प्रमात्मक-ज्ञान प्रत्यक्ष ही हो जाते है। ये सारी बाते भी पहले बतलायी जा चुकी है। एक नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि को छोड कर अन्य सभी नैयायिक एव वैशेपिक मन को अभौतिक मानते है और परमाणु-परिमाणयुक्त मानते हैं। वे लोग अभौतिक इसलिए मन को मानते हैं कि भौतिक मानने पर उसे किभौतिक माना जायगा? किसी भी एक भूतस्वरूप उसे मानने पर उसके द्वारा उस भूत मे असाधारण रूप से विद्यमान गुण काही ग्रहण हो पायेगा जैसा कि होता नही। अत मन को भौतिक नही माना जा सकता। मन को परम अणु नैयायिक और वैशेपिक लोग इसलिए मानते हैं कि उसे शरीरव्यापी अथवा व्यापक मानने पर एक ही समय अनेक ज्ञानो का उत्पाद आपन्न हो उठता है जैसा कि नैयायिक एव वैशेपिक लोग मानते नही।[१४९] मन अणु होने के कारण ही सुषुप्ति काल मे पुरीतत् नामक नाडी मे मन प्रविष्ट हो जाने के कारण न्याय वैशेषिक मत मे ज्ञान नही उत्पन्न होता। उस मन को भी कुछ लोग आत्मा मानना चाहते थे किन्तु नैयायिको ने इसके विरुद्ध यह कहा कि करणता और कर्तृता ये दोनो धर्म आपस मे अत्यन्त विरुद्ध है

(१४९) "सुषुप्तिकाले त्वच त्यक्त्वा पुरीतति वर्त्तमानेन मनसा ज्ञानाजननम्।
——न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्ष-परिच्छेद।

अत ये दोनो एकत्र किसी प्रकार भी नही रह सकते। इसलिए मन को ही कर्ता और करण दोनो नही माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि मन को कर्त्ता ही केवल मान लिया जाय, तो इस पर नैयायिको की ओर से कहा गया यह समझना चाहिए कि तब मन के स्थान मे किसी और को करण मानना ही होगा। क्योकि कर्त्ता कभी करण निरपेक्ष होकर क्रिया का सम्पादन करता हुआ पाया जाता नही। और ऐसा मान लेने पर फलत मन से अतिरिक्त ही आत्मा को मान्यता प्राप्त होगी। क्योकि ऐसी परिस्थिति मे वस्तुस्थिति यह होगी कि आत्मा को आत्मा न कह कर मन नाम से कहा जायगा और मन को मन न कह कर किसी अन्य नाम से पुकारा जायगा। फलत उक्त विवाद नाममात्र के लिए किया जाने वाला विवाद कहा जायगा।

मन को आत्मा न मानने के पक्ष मे नैयायिको और वैशेषिको की ओर से एक युक्ति यह भी बतलायी गयी है कि मन को आत्मा मानने पर अनुपपत्ति यह आ बैठेगी कि आत्मगत ज्ञान सुख, दु ख आदि का मानस प्रत्यक्ष नही हो पायेगा, जो कि लोगो को नियमत हुआ ही करता है। यह इसलिए कि प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व होता है कारण। जिस द्रव्य मे महत्त्व रहता है उसमे रहने वाले गुण क्रिया आदि के साथ भी पारम्परिक रूप से वह महत्त्व सम्बद्ध हो जाता है इसलिए महान् द्रव्य मे रहने वाले गुण और कर्म भी प्रत्यक्षत गृहीत होते हैं। इस नियम के अनुसार मन को आत्मा मानने पर तद्गत ज्ञान सुख आदि का प्रत्यक्ष इसलिए नही हो पायेगा कि परम अणु होने के कारण जब कि स्वय मन मे ही महत्त्व नही, तो उसमे रहने वाले ज्ञान सुख आदि मे कहाँ से महत्त्व आ पायेगा पारम्परिक रूप म भी ? अत स्वगत ज्ञान सुख आदि का प्रत्यक्ष नही हो पायेगा। जब नैयायिको और वैशेषिको के समक्ष अन्य-दार्शनिक यह प्रश्न उपस्थित करते है कि आप लोगो की यह मनोऽणुत्व साधक युक्ति कैसे उचित कही जा सकती कि अनेक ज्ञान एक ही समय एक व्यक्ति को होते नही ? क्योकि किसी वस्तु के खाते समय व्यक्ति को उस वस्तु का रूपदर्शन, रस का आस्वाद और गन्ध का आघ्राण ये सब साथ ही होते हुए पाये ही जाते है। तो इसके उत्तर मे नैयायिका और वैशेषिको की ओर से यह कहा जाता है कि उक्त स्थल मे भी वस्तुत एक ही समय उक्त अनेक ज्ञान नही उत्पन्न होते हैं। एककालिक विविध ज्ञानोत्पत्ति का भ्रम होता है। कहने का तात्पर्य यह कि सैकडो कोमल कमलपत्रो को यदि सूई की नोक से विद्ध किया जाय तो वहाँ मालूम तो यही पडेगा कि सब पत्रो को सुई एक ही क्षण मे पार कर गयी। परन्तु विचार करने पर यह बात बिलकुल गलत मालम होगी। यही निश्चय होगा कि सूई मे प्रत्येक पत्र का छेदन क्रमश हुआ करता है। तद्वत् उक्त भक्षणस्थल मे भी रूपदर्शन रस का आस्वाद और गन्ध का आघ्राण ये विभिन्न ज्ञान होते है क्रम से ही किन्तु उनमे अक्रमता का विभ्रम इसलिए होता है कि वहाँ का ज्ञान-कालगत व्यवधान अति अल्प, अतिसूक्ष्म होता है।

अत इस[१५०] वास्तविक स्थिति के सम्पादनार्थ मन को परम अणु ही मानना चाहिए। इस मन को सर्वविषयक अन्त करण नैयायिक एव वैशेपिक लोग भी मानते हैं। क्योकि अन्य इन्द्रिय के साथ जब तक मन का योग नही होता है तब तक आँख आदि अन्य इन्द्रिय से भी ज्ञान नही होता। सुख-दु ख, ज्ञान-इच्छा आदि के प्रत्यक्ष स्थलो मे मन स्वतन्त्र रूप से इन्द्रिय होकर उन प्रत्यक्षो का सम्पादन करता है और रूप, रस आदि बाह्य विपयो के प्रत्यक्ष स्थलो मे वह विपय के अनुरूप अन्य इन्द्रिय की भी अपेक्षा रखता है और इसी प्रकार अनुमिति आदि ज्ञानस्थलो मे मन व्याप्तिज्ञान, पदज्ञान आदि की अपेक्षा रखता है। किन्तु इस मन के बिना किसी भी प्रकार का ज्ञान कभी किसी को हो सकता नही। न्यायवैशेपिक सिद्धान्त इस मन को निष्प्रभेद मानता है। इसका अर्थ यह नही कि सबका मन एक ही होता है। क्योकि इसके अणुत्व-सिद्धान्त मे यह सम्भव कैसे हो सकता कि सबका मन एक हो। क्योकि एक समय विभिन्न मानसिक परिस्थिति अवगत होती ही है। परन्तु तात्पर्य यह कि अन्य दार्शनिक जिस प्रकार अन्त करण के प्रभेद मानते हैं नैयायिक वैशेपिक सिद्धान्त वैसा नही मानता।

साङ्ख्य और योगसिद्धान्त मे मन का स्वरूप ऐसा मान्य नही है जैसा कि न्यायवैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार उसका स्वरूप वर्णित हुआ है। साङ्ख्य और योगसिद्धान्त अन्त करण को तीन भागो मे बाँटता है। उसका कहना यह है कि मन, अहकार और बुद्धि इन प्रभेदो मे अन्त करण को तीन भागो मे विभक्त समझना चाहिए। किसी भी विपय के सम्बन्ध मे व्यक्ति को जो सर्वप्रथम सकल्प होता है वह है मन का निजी काम। मन को छोड कर और कोई भी इसका सम्पादन कर नही सकता इसलिए सकलपात्मक वृत्ति को ही मन का लक्षण अर्थात् स्वरूप समझना चाहिए। साङ्ख्ययोगसिद्धान्त मे धर्म और धर्मी अत्यन्त भिन्न होते नही, सङ्कल्पात्मक वृत्ति और मन इन दोनो को तत्वत अभिन्न समझना चाहिए। यह मन बाह्य रूप, रस आदि विषयो के ग्रहण के समय बाह्य आँख, जिह्वा आदि इन्द्रियो के सहारे स्वस्थानस्थित ही उन रूप, रस आदि विषयो को प्राप्त करता है और उनके सम्बन्ध मे निजी उक्त सकल्पात्मक व्यापार करके सकल्पित रूप मे उन विपयो को द्वितीय अन्त करण अहकार को दे देता है। साख्ययोग सिद्धान्त मे मन को उभयेन्द्रिय माना जाता है। अर्थात् उसे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो ही माना जाता है। यह इसलिए कि आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियो से उपस्थापित रूप शब्द आदि के विषय मे भी मन सङ्कल्प करता है और हाथ,

(१५०) अयौगपद्याज्ज्ञानाना तस्याणुत्वमिहोच्यते।

—भाषापरिच्छेद, प्रत्यक्ष-परिच्छेद।

(१५० क) युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्।१६। —न्यायदर्शन, अध्या० १ आ० १।

पाँव आदि कर्मेन्द्रियो से प्राप्त होने वाले द्रव्यात्मक विषयो के सम्बन्ध मे भी। साङ्ख्य-योग सिद्धान्त मे द्वितीय अन्त करण माना जाता है "अहकार", अभिमानात्मक वृत्ति जिसके निजी व्यापार रूप मे मान्य है। यदि विचार करके देखा जाय तो इस अहकार का बहुत ऊँचा महत्त्व साङ्ख्ययोग सिद्धान्त मे परिलक्षित होता है। क्योकि यही प्रत्ययसर्ग और भूतसर्ग दोनो का एक स्पष्ट समन्वित रूप प्रतीत होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और उभय-ज्ञान-कर्मेन्द्रिय उक्त मन, ये ग्यारह इन्द्रियाँ तथा इस स्थूल रूप से दृश्य होने वाले ससार के कारणभूत सूक्ष्मभूत इन सब का यह एक सूक्ष्म समुदायरूप मे मान्य होता है। यत साख्ययोग सिद्धान्त उक्त सभी इन्द्रियो एव तन्मात्र या तन्मात्रा शब्द से अभिधीयमान सूक्ष्म-भूतो का आविर्भाव इसी एक अहकार तत्त्व से मानता है। उक्त मन से सङ्कल्पित विषयो को निजी अभिमानात्मक व्यापार मे आबद्ध करके तृतीय अन्त करण रूप मे मान्य बुद्धि को दे देना यह अहकार का काम है और बुद्धि वह तृतीय अन्त करण है जहाँ जाकर प्रदर्शित करणशृखला समाप्त हो जाती है। उक्त प्रक्रिया के अनुसार अहकार द्वारा अभिमत विषयो को अध्यवसित करना यह बुद्धि का निजी काम माना जाता है। साराश यह कि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे निश्चयात्मक अध्यवसाय करना यह बुद्धि का काम है। यह बुद्धि सत्त्वगुण-प्रधान मानी जाती है इसलिए यह माना जाता है कि असङ्ग चैतन्यात्मक पुरुष की इस बुद्धि मे छायापत्ति होती है। अर्थात् एक तरह से उसके साथ बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव होता है। इस बुद्धि तत्त्व को ही साख्ययोग-सिद्धान्त मे महत्तत्त्व भी कहा गया है। यह बुद्धि मूलप्रकृति की एकमात्र पुत्री मानी गयी है। बन्ध और मोक्ष सब तत्त्वत इस बुद्धि के ही धर्म है। साख्यशास्त्रियो का कहना है कि धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य और ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ये सभी इस बुद्धितत्त्व मे ही आश्रित होते है, जिनके अन्दर सात धर्मों से बुद्धि स्वय अपने को बाँधती है और एक से अपने को मुक्त करती है। तात्पर्य यह है कि उक्त आठ भावो के अन्दर ज्ञान को छोड कर धर्म आदि उक्त सात धर्मों से बुद्धि स्वय अपने को बाँधती है और अवशिष्ट एकमात्र ज्ञानात्मक धर्म से अपने को मुक्त करती है। इस ज्ञानपद से साख्यसिद्धान्त मे विवक्षित होता है प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य-ज्ञान। इस प्रकृति-पुरुष-पार्थक्य-ज्ञान के अन्दर प्रकृति पद से बुद्धितत्त्व मात्र विवक्षित होता है। फलत यदि विचार करके देखा जाय तो इस बुद्धितत्त्व मे आकर कर्त्ता, कर्म और करण इन तीनो का विरोध समाप्त हो जाता है।[151] क्योकि बुद्धि स्वय ही अपने को बाँधती है

(१५१) रूपै सप्तभिरेव तु बध्नयात्यामानमात्मना प्रकृति ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

—ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका।

इसलिए वह बघनात्मक क्रिया का कर्त्ता भी होती हे और कर्म भी। और जिन धर्म अधर्म आदि के द्वारा बाँधती है वे सारे धर्म भी, धर्म और धर्मी इनकी साख्यसिद्धान्त मे अभिन्नता मान्य होने के कारण, वुद्धिस्वरूप ही होते हैं। वुद्धि ही अत करण भी हो जाती है। इन मन, अहकार और वुद्धि के वीच साख्यसिद्धान्त प्रकृति-विकृतिभाव मानता है। वुद्धि को अहकार की और अहकार को मन की प्रकृति और तदनुसार अहकार को वुद्धि की विकृति एव मन को अहकार की विकृति माना जाता है। परिणामी कहलाता है प्रकृति और परिणाम कहलाता है विकृति। इस प्रकृतिविकृति-भावापन्न रूप मे अन्त करण का वास्तविक त्रित्व साख्ययोग सिद्धान्त की अपनी विशेपता है। इसके अतिरिक्त इन अन्त करणो के सम्वन्ध मे मौलिक रूप से एक नयी मान्यता साख्य-योग-सिद्धान्त मे यह भी है कि ये त्रिविध अन्त करण जो कि स्वतन्त्र तत्त्वो के रूप मे मान्य है अलग-अलग स्वतन्त्र कार्य का सम्पादन करते हुए शारीरिक-प्राणधारणात्मक एक कार्य का सम्पादन आपस मे मिल कर करते हैं। इस सम्वन्ध मे साङ्ख्यशास्त्र का कहना यह है कि यदि किसी एक खाँचे या पिंजडे के अन्दर वहुत पक्षी रख दिये जायँ और उसके अन्दर विद्यमान उन वहुत पक्षियो के अन्दर प्रत्येक पक्षी चचलतापूर्वक फडफडा उठे, तो पक्षियो के उस सम्मिलित चलन के फलस्वरूप वह खाँचा या पिंजडा अवश्य चलनशील हो उठेगा, जैसा कि देखा भी जाता ही है। तदनुसार शरीर के अन्दर विद्यमान उक्त अन्त करण त्रय के सम्मिलित व्यापार के फलस्वरूप शरीर मे प्राणधारणात्मक फलत श्वास-प्रश्वासात्मक व्यापार तव तक चालू रहता है जव तक लिङ्ग शरीर के निर्गम प्रयुक्त अन्त करणो का भी इस षाट्कौशिक स्थूल-शरीर से निर्गमन नहीं हो जाता है। कुछ साख्यसिद्धान्ती इस प्राणधारणात्मक कार्य का सम्पादक केवल अन्त करण त्रय को नही मानते। उनका कहना है कि उक्त अन्त करणत्रय और दश वाह्य इन्द्रियाँ इन सवके सम्मिलित व्यापार के फलस्वरूप प्राणियो का प्राणधारण हो पाता है। अस्तु। प्रकृत वक्तव्य यह है कि नैयायिक एव वैशेपिक लोग जहाँ एक मन को ही अन्त करण मानते है साङ्ख्य एव योगसिद्धान्त के उपासक वहाँ मन के अतिरिक्त अहकार और वुद्धि इन और दो अन्त-करणो को मान्यता देते है और तीनो अन्त करणो को अलग-अलग स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं।

ग्रन्थो मे किये गये वर्णन के अनुसार हैं सशय, निश्चय, गर्व और स्मरण। तात्पर्य यह प्राप्त होता है कि सशयात्मक ज्ञान का सम्पादक अन्त करण कहलाता है मन, निश्चयात्मक ज्ञान का सम्पादक अन्त करण कहलाता है बुद्धि, गर्वयुक्त अर्थात् अभिमानात्मक व्यापारशाली अन्त करण कहलाता है अहकार और स्मरणात्मक कार्य का सम्पादक अन्त करण कहलाता है चित्त। कहने का अभिप्राय यह कि एक ही आग जिस प्रकार किसी वस्तु को जलाने के कारण कहलाती है "दाहक" और किसी वस्तु को पकाने के कारण कहलाती है "पाचक" एव वस्तुओ को प्रकाशित करने के कारण कहलाती है "प्रकाशक" किन्तु तत्त्वत वह आग एक ही होती है। इसी प्रकार अन्त करण है तो तत्त्वत एक ही, किन्तु उक्त सशय आदि चार कार्यों के सम्पादक होने के कारण उक्त मन, बुद्धि आदि चार नामो से पुकारा जाता है। इस विवेचन से अन्त करण के सम्वन्ध मे साख्यसिद्धान्त और अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त इन दोनो मे अन्तर यह प्राप्त होता है कि साख्य[153] जहाँ अन्त करण को त्रिविध मानता है वहाँ अद्वैत वेदान्त अन्त करण चार मानता है। परन्तु साख्य जिस प्रकार उक्त स्वमत-सिद्ध तीनो अन्त करणो को तत्त्वान्तर मान कर अत्यन्त भिन्न बतलाता है, अद्वैत-वेदान्त वैसा मानता नही। वह तत्त्वत नैयायिक और वैशेषिको की तरह अन्त करण को एक ही मानता है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि साख्य जहाँ किसी भी एक विषय मे क्रमश मन, अहकार और बुद्धि इन अन्त करणो का नियमित रूप से व्यापार मानता है अद्वैत-वेदान्त वहाँ वैसा नही मानता। क्योकि वेदान्त-सिद्धान्त मे ऐसा नही माना जाता कि अहकार के द्वारा किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे गर्व होने पर उसके अनन्तर ही चित्त के द्वारा उस विषय के सम्वन्ध मे स्मरण होगा ही। इसी प्रकार यह भी नियम नही है कि बुद्धि के द्वारा किसी भी वस्तु का विपयीकरण अर्थात् उस विषय के सम्वन्ध मे निश्चय होने के अनन्तर क्षण मे अहकार उस विषय के सम्वन्ध मे गर्व उपस्थित करेगा ही। साथ ही साङ्ख्य सिद्धान्त, जिस प्रकार वाह्य आँख आदि के अन्दर किसी एक इन्द्रिय और उक्त अन्त करण त्रय इन चारो की स्थल-विशेप मे एक ही साथ वृत्तियाँ एक ही विपय मे हो जाती है ऐसा मानता है, वेदान्त-सिद्धान्त वैसा मानता नही। कहने का तात्पर्य यह कि साङ्ख्य सिद्धान्त ऐसा मानता है कि कोई भी व्यक्ति यदि घनान्धकार मे विजली छिटकने पर किसी व्याघ्र आदि भयानक जन्तु को देखता है तो वह तुरन्त लौट पडता है। इससे पता चलता है कि वहाँ आँख, पाँव और मन, अहकार एव बुद्धि इन सवके व्यापार साथ ही अर्थात् एक क्षण मे ही हो जाते है। परन्तु वेदान्त सिद्धान्त वहाँ ऐसा नही मान सकता। क्षण भेद वहाँ अवश्य मान्य होगा।

(१५३) अन्त करण त्रिविधम्

त्रिकालमाभ्यन्तर करणम् ॥ —ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका।

शैव-सिद्धान्त अन्त करण के सम्बन्ध मे साख्य सिद्धान्त का अनुगन्ता है क्योकि साख्योक्त तत्त्वो को वह यथावत् अपने सिद्धान्त मे स्थान देता हुआ पाया जाता है। बौद्ध-सिद्धान्तो के अन्दर शून्याद्वैती तो शून्यातिरिक्त कुछ तत्त्व मानते नही, अत तात्त्विक रूप मे उनके सिद्धान्त मे अन्त करण या मन नाम से कोई वस्तु मान्य हो ही नही सकती। जगत् को साम्वृतिक कहते हुए भी अद्वैत-वेदान्तियो की तरह शून्याद्वैती लोग व्यावहारिक वस्तुओ का कोई सुश्रृखल विवेचन नही करते। इसलिए व्यावहारिक रूप मे भी मन या अन्य अन्त -करण की मान्यता उनके सिद्धान्त मे नही कही जा सकती। योगाचार-साम्प्रदायिक-बौद्ध सिद्धान्त मे किन्तु ऐसी बात नही है। क्योकि यह सम्प्रदाय क्षणिक-विज्ञानधारा को तथ्य मानता है इत्यादि बाते पहले बतलायी जा चुकी है। तदनुसार मन को भी विज्ञान रूप ही माना जाता है। इसीलिए वसुबन्धु ने अभिधर्म-कोश मे मन की गणना सात धातुओ के अन्दर करते हुए यह कहा है कि "चाक्षुष आदि विज्ञानो का अनन्तरातीत अर्थात् अव्यवहित पूर्व होने वाला क्षणिक विज्ञान ही है मन"। गम्भीरतापूर्वक इसे सोचने पर पर्यवसित अभिप्राय यह प्राप्त होता है कि मन भी क्षणिक-विज्ञान-धारात्मक आत्मा मे ही अन्तर्भुक्त हो जाता है। मन के सम्बन्ध मे प्राप्त होने वाला अभिधर्म-कोश का उक्त कथन मुख्यत बाह्यास्तित्ववादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक मतवादो के ही दृष्टिकोण से कहा गया है। क्योकि उक्त ग्रन्थ बाह्यास्तित्ववाद का ही है। परन्तु यहाँ क्षणिकविज्ञानमात्र-तत्त्वतावादी से सौत्रान्तिक-साम्प्रदायिक बौद्धो का मतैक्य अनिवार्य है। जैन-सिद्धान्त मे भी मन मान्य है किन्तु नैयायिको और वैशेषिको की तरह जैन लोग मन को निरवयव अणुरूप नही मानते। क्योकि वहाँ भी अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त की तरह मन की विषयाकाराकारिता मान्य है। अर्थात् जैन मत मे भी मन विषय का आकार ग्रहण करता है। अत अद्वैत-वेदान्त मत के समान वहाँ भी मन सावयव ही मान्य होता है। इस मन के सम्बन्ध मे मीमासको का कहना यह है कि मन अणु नही विभु है। किन्तु स्वत ऐसा होने पर भी वह इन्द्रिय, शरीरावच्छिन्न रूप मे ही होता है। इसलिए शरीरप्रदेश मे ही मन कार्यकारी होता है। बाह्य वस्तुओ के प्रत्यक्ष-स्थलो मे वह आँख आदि इन्द्रियो के अधीन होकर कार्य करता है और अनुमिति आदि स्थलो मे ज्ञापक हेतु आदि से सहकृत होकर अनुमिति आदि ज्ञानो का उत्पादक हो पाता है। इसके अनुसार शून्याद्वैती बौद्धो को छोड कर अन्य सभी दार्शनिक मन को मान्यता देते है। अत यह एक तरह से सर्वतन्त्र-सिद्धान्त वस्तु है।

प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण के अनुसार मन केवल भौतिक ही नही है किन्तु शरीरात्मक प्रमाता का वह एक अवयव भी है, जिसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। साराश यह कि मन अवयव भी है और अवयवी भी। मन को शरीर का अवयव मानना इसलिए भी सगत प्रतीत होता है कि भोजन आदि के सौष्ठव से शरीर के साथ-साथ मन की भी पुष्टि

होती हुई पायी जाती है। उपनिषदो मे भी मन को खाद्य पदार्थ के उपयोग के अनन्तर क्रमश परिपाक प्राप्त उसका अति सूक्ष्म अश ही माना गया है। इससे भी मन की शरीरावयवता ही व्यक्त होती है। क्योकि परिपाक रस, शोणित, मास आदि परिस्थितियो मे ही होने वाला माना जाता है जिन्हे शरीर के अवयव के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता। सुतरा उस अवयव क्रम से परिपक्व होने वाला अर्थात् उत्पन्न होने वाला होता है मन, यह मानना ही होगा। शरीर मे सर्वत्र फैले हुए नाडी-जाल से सम्बद्ध होने के कारण वाह्य विषयो का सम्पर्क वहाँ स्थापित हो जाता है तदनुसार मस्तिष्क स्वरूप मन मे जो कि शरीर का ही एक देश होता है, अवयव होता है, ज्ञानात्मक क्रिया हो उठती है, इत्यादि बाते पहले कही जा चुकी हैं। सावयव प्रत्येक वस्तु नियमत मध्यम-परिमाणक हुआ करती है और इसीलिए अनित्य भी, तदनुसार मन को भी ऐसा ही समझना चाहिए। मस्तिष्क पद से साधारण जनता भी मस्तक को ही कहती है इसलिए मन जिसे ही मस्तिष्क भी कहा जाता है अवश्य मस्तक का ही प्रदेश-विशेष है।

ऐसा मानना युक्ति-सिद्ध भी इसलिए है कि भौतिक चिकित्सा का प्रभाव प्राणी के मन पर पडता हुआ पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानसिक परिस्थिति अस्तव्यस्त होने पर उसके लिए भी चिकित्साशास्त्र मे की गयी व्यवस्था पायी जाती है। तदनुसार भौतिक औषधो का उपयोग करने पर, उसका सेवन करने पर वुद्धि मे स्वस्थता आती है यह बात पायी जाती है। भौतिक औषधो का सेवन करने पर, उसे नियमित विधि-विधान के अनुसार खाने पर, अवश्य ही उसका प्रभाव अन्य भक्ष्य और पेय की जाठर पाक-प्रक्रिया की पद्धति से ही पडता होगा यह मानना ही होगा। अन्यथा मरे शरीर मे भी उक्त औषध के प्रभाव की आपत्ति अनिवार्य हो उठेगी। जो प्रभाव कि देखा जाता नही। जाठर पाक-प्रक्रिया से जो भक्ष्य पेय आदि प्रभावकारी होते हैं वह प्रभाव अवश्य इस शोणित, मास आदि की प्रक्रिया से ही सम्भव है। अत औषधो के सेवन से मन की स्वस्थता जब कि होती हुई पायी जाती है तो यह आवश्यक है कि मन को इस भौतिक शरीर का ही एक अवयव, एक अश माना जाय। यदि मन को नित्य निरवयव मानने का आग्रह किया जायगा तो वह अवश्य मासशोणित, अस्थिमय इस शरीर से उस प्रकार घनिष्ठ सम्पर्कशील नही होगा। अत उसके ऊपर अनुभूयमान भौतिक-औषध-सेवन का प्रभाव नही पड सकेगा। इसके अतिरिक्त एक ध्यान देने की बात यह भी है कि उपनिषद् मे यह स्पष्ट वतलाया गया है कि प्राणी जो भी कुछ खाता एव पीता है उसका सारभूत सूक्ष्म अश प्राणियो के मन वन जाते हैं। उपनिषद् की इस बात को कम-से-कम वे दार्शनिक अवश्य मानने के लिए वाध्य होगे जो वेद के ऊपर आस्था रखने का अभिमान रखते हैं। और उपनिषद् की इस बात को मान लेने पर कोई उपाय नही रह जाता

कि मन को अभौतिक, अतिरिक्त द्रव्य माना जाय, शरीर का अवयव न माना जाय। क्योकि खाये-पीये गये अन्न जल से उस सूक्ष्म सारभूत मन की सृष्टि अवश्य स्थूल या शोणित, माम, अस्थि आदि क्रम से ही होगी। जब कि ये शोणित, मास आदि शरीर के अवयव ही होते हैं अनवयव नही तब सूक्ष्म ही क्यो न हो अत्यन्त सारभूत ही क्यों न हो, उन्ही खाद्य और पेयो से बना हुआ मन भी अवश्य अन्य अवयवो के समान एक प्रकार अवयव ही हो सकता है और कुछ नही। वेदान्तियो ने जो मन की इन्द्रियता के विरुद्ध यह कहा है कि "मन को इन्द्रिय मान लेने पर उससे उत्पत्तिशील होने के कारण सारे ज्ञान प्रत्यक्ष हो पडेगे" यह कथन चार्वाक-सिद्धान्त का इसलिए कुछ नही बिगाड सकता कि यहाँ तो सारे ज्ञान प्रत्यक्ष ही हैं, अनुमिति आदि भी प्रत्यक्ष के ही प्रभेद हैं, कोई स्वतन्त्र प्रमिति नहीं, यह बात पहले विस्तारपूर्वक बतलायी जा चुकी है। सावयव तो मन को वेदान्ती लोग भी मानते ही हैं। मीमासक लोग एव साङ्ख्य तथा योगसिद्धान्ती लोगो ने जो मन को व्यापक[१५४] माना है वह इसलिए असगत है कि उत्पत्तिशील कोई भी वस्तु व्यापक हो ही नही सकती। उक्त तीनो ही दर्शन अपने को वैदिक होने का अभिमान करते पाये ही जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब कि उपनिषद् का यह कथन है कि मन उत्पत्तिशील वस्तु है तब उसे नित्य तो कहा नही जा सकता। उत्पत्तिशील पदार्थ व्यापक हो नही सकता यह बात अभी कही जा चुकी है। मीमासको से यह भी कहना है कि जब इन्द्रियता, वे मन को शरीर से सीमित रूप मे ही मानते है फिर व्यापकता का आग्रह क्यो ? अव्यापक होने पर वह गतिशील होने के कारण भी तो विभिन्न स्थानो मे होने वाले कार्य का सम्पादन कर सकता है ? साख्ययोग सिद्धान्तियो से कहना यह है कि सम्भवत कायव्यूह के सम्पत्त्यर्थ ही तो आप लोग मन को व्यापक मानने का आग्रह कर रहे है ? तो उसका सम्पादन विभिन्न शरीर-सृष्टि के साथ विभिन्न किन्तु प्रधान एक मन के अनुगत विभिन्न मन की सृष्टि को मान्यता देकर भी तो उक्त उपपत्ति कर सकते। जब कि योग का प्रभाव ऐसा अचिन्त्य और अद्भुत मान्य है कि योगी एक ही समय अपनी इच्छा के अनुसार अजस्र शरीर का निर्माण कर सकता है तो उन शरीरो के साथ असख्य अनुकूल मन की सृष्टि वह क्या नही कर सकता ?

बौद्धो का उक्त मनसम्बन्धी मतवाद इसलिए उचित नही प्रतीत होता कि एक ओर तो उन्होने चाक्षुष से लेकर मानस तक सभी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के[१५४अ] अनन्तरातीत अर्थात् अव्यवहित पूर्ववर्त्ती क्षणिक विज्ञान को मन कहा है और दूसरी ओर मन को छठे

(१५४) मनस्तु · तस्य च विभुत्व साधयिष्यते। —मानमेयोदय।

(१५४अ) षण्णामनन्तरातीत विज्ञान यद्धितन्मन। —अभिधर्मकोश।
अनन्तर अतीत पूर्वकालिकच यद्धि ज्ञान तदेव मन इत्युच्यते।
—राहुल साकृत्यायन टीका।

विज्ञान का अर्थात् मानस-विज्ञान का आश्रय कहा है। गम्भीर भाव से विचार करने पर ये दोनो बातें आपस मे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती है। क्योकि जिस प्रकार मानस रूप से अभिप्रेत विज्ञान के अव्यवहित पूर्ववर्त्ती विज्ञान को वे मन कहते है तद्वत् उस मन रूप से मान्य होने वाले क्षणिक विज्ञान का अव्यबहित पूर्ववर्त्ती क्षणिक विज्ञान उसके प्रति तुल्य युक्ति-प्रयुक्त मन मान्य होगा और जिस क्षणिक विज्ञान को मानस विज्ञानात्मक कार्य कहा गया है वह भी अपने परवर्त्ती क्षणिक विज्ञान के प्रति मन बन बैठेगा। इस प्रकार सारे क्षणिक विज्ञान अव्यवहित भाव से अपने परवर्त्ती क्षणिक विज्ञान के प्रति मन हो बैठेगे। और ऐसा मान लेने पर उन सब मे आश्रित होने वाले विज्ञान कौन होगे, जिनका आश्रय होने के कारण उनकी उक्त परिभाषा के अनुसार क्षणिक विज्ञान मन कहलाने के अधिकारी होगे ? यदि यह कहा जाय कि सभी क्षणिक विज्ञान मन भी है और मानस भी। मन होने की प्रक्रिया ऊपर बतलायी जा चुकी है। मानस ज्ञान सभी क्षणिक विज्ञान अपने-अपने अव्यवहित पूर्ववर्त्ती क्षणिक विज्ञानस्वरूप मन को लेकर होगे। ऐसी परिस्थिति मे पूर्ववर्त्ती क्षणिक विज्ञानात्मक मन को परवर्त्ती क्षणिक विज्ञानात्मक मानस का आश्रय भलीभाँति कहा जा सकता है। तो यह कथन इसलिए सगत नही हो पायेगा कि अत्यन्त असमानकालिक किन्ही दो के बीच आश्रयाश्रयिभाव हो नही सकता। ऐसी दो वस्तुओ मे आश्रयाश्रयिभाव कभी होता नही जो अल्प समय के लिए भी साथ नही रहते। बौद्ध-सिद्धान्त मे प्रत्येक सत् क्षणिक होने के कारण पूर्वापरीभूत दो क्षणिक विज्ञानो को सहभाव हो कैसे सकता ? यदि यह कहा जाय कि कथित आश्रयाश्रयिभाव आधाराधेयभावस्वरूप नही विवक्षित है किन्तु कार्यकारणभावरूप विवक्षित है। जो जिसकी अपेक्षा करता है वह तदाश्रित कहलाता ही है। जैसे मालिक और नौकर इन दोनो के बीच मालिक कहलाता है आश्रय और नौकर कहलाता है आश्रित। क्योकि नौकर मालिक की इच्छा का अनुरोध करता है, उसकी अपेक्षा रखता है। प्रकृत मे भी परवर्त्ती कार्यभूत मानस विज्ञान पूर्ववर्त्ती कारणभूत मनस्वरूप विज्ञान की अपेक्षा करता है अत प्रदर्शित पद्धति के अनुसार परवर्त्ती क्षणिक-विज्ञान आश्रित और पूर्ववर्त्ती क्षणिक-विज्ञान भलीभाँति आश्रय कहला सकता है। अत उक्त आश्रयाश्रयिभाव असगत नही कहला सकता। तो यह कथन भी इसलिए सगत नही हो सकता कि बौद्ध-सिद्धान्त मे प्रत्येक वस्तु स्वलक्षण ही मान्य है। स्वलक्षण का पर्यवसित अर्थ होता है सर्वथा असग। इसके अनुसार प्रत्येक क्षणिक विज्ञान को भी स्वलक्षण फलत असग मानना पडेगा। परन्तु यह होना कठिन इसलिए हो पडेगा कि पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती क्षणिक-विज्ञानो के बीच जब कि उक्त आश्रयाश्रयिभावस्वरूप कार्यकारणभाव सम्बन्ध माना जा रहा है तो प्रत्येक क्षणिक-विज्ञान को अव्यवहित रूप से आगे और पीछे होने वाले क्षणिक-विज्ञानो मे नियमत सम्बन्ध

मान्य हो उठने के कारण सारे क्षणिक-विज्ञान नियमत ससग हो उठेंगे। एक भी क्षणिक विज्ञान असग न हो पाने के कारण स्वलक्षण न हो पायेगा। महान् अपसिद्धान्त आपन्न हो उठेगा। इसलिए उक्त प्रकार बौद्धसम्मत मन का निरूपण उचित नही कहा जा सकता। इस अन्तिम युक्ति से विज्ञान वाह्य भी मन मान्य नही ठहराया जा सकता वाह्यास्तित्ववाद का आश्रय करके। क्योकि स्वलक्षणता वहाँ भी मान्य है।

नैयायिक और वैशेषिको के सम्बन्ध मे यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता इसलिए नही प्रतीत हो रही है कि वे स्वय ही उसके सबध मे गृहकलह से आक्रान्त पाये जाते हैं। क्योकि परवर्त्ती नव्य तार्किक रघुनाथ शिरोमणि ने मन को स्वतन्त्र द्रव्य नही माना है। उनका कहना है कि किसी भौतिक को ही मन मान कर जब कि काम चलाया जा सकता है तब उसे क्यो अतिरिक्त स्वतन्त्र द्रव्य माना जाय ? साथ ही उन्होंने मन को परमाणु-परिमाण-युक्त भी नही माना है। माने भी कैसे ? क्योकि पार्थिव जलीय तैजस एव वायवीय सर्वाधिक क्षुद्र कणो को भी जब वे परमाणु नही मानते। छोटा-से-छोटा होने पर भी पूर्ववर्त्ती नैयायिको द्वारा त्र्यणुक रूप से स्वीकृत भौतिक-कणतुल्य ही सर्वाधिक-क्षुद्र भौतिक कणो को उन्होने माना है। यद्यपि परमाणु न मान कर त्रुटि मे ही अवयवावयवि-धारा का विश्राम इनके कुछ पूर्ववर्ती नैयायिक मानते थे, ऐसा आभास पाया जाता है फिर भी नव्य नैयायिक-सम्प्रदाय के अन्दर इन्होंने ही इस वात को स्पष्ट रूप से कहा है अत यह मतवाद आजकल इन्ही के नाम से प्रचलित है। तदनुसार ही यहाँ भी यह कहा गया है कि रघुनाथ-शिरोमणि परमाणु नही मानते थे। प्रकृत वक्तव्य यह कि मन का न्यायमतसिद्ध पूर्ववर्णित स्वरूप भी मान्य नही हो सकता। इसे निर-वयव नित्य एव परमाणु-परिमाण-युक्त नही माना जा सकता। इस प्रकार मन के सम्बन्ध मे विभिन्न दार्शनिक मतो की आलोचना करने के अनन्तर स्वत यह प्राप्त हो जाता है कि इस मन के स्वरूप के सम्बन्ध मे निश्चितरूपसे पूर्वप्रतिपादित चार्वाकीय मत ही सगत है। सभव है यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करे कि प्राचीन साहित्य मे मन और हृदय इन दोनो शब्दो को पर्यायवाची माना गया है और हृदय का स्थान मस्तक माना नही जाता। ऐसी परिस्थिति मे यह कैसे कहा जा सकता कि मन का स्थान मस्तक मे है ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि हृदय प्राण का केन्द्रस्थान है इसलिए मस्तकस्थित मस्तिष्कस्वरूप मन का उस प्राणकेन्द्रस्वरूप हृदय स्थान से सौत्रिक घनिष्ठता है। इसी घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण हृदय को औपचारिक रूप मे मन कहा गया है। यही कारण है कि आँख आदि, अधिकतर प्रत्यक्ष साधन जिन्हे कि अन्य दार्शनिक-लोग मुख्य रूप मे ज्ञानेन्द्रिय मानते है सभी गले के ऊपर ही अवस्थित है। इस चार्वाकीय-सिद्धान्त मे तो मुख्य रूप से मन मात्र को इन्द्रिय मानना है यह वात पहले वतलायी जा चुकी है।

चार्वाक-मत और इद्रियाँ—

चार्वाक-सिद्धान्त मे केवल मन ही इन्द्रिय रूप मे मान्य है इस कथन पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि फिर आँख, कान आदि ज्ञानसाधनो एव हाथ, पाँव आदि क्रिया-साधनो की मान्यता चार्वाकसिद्धान्त में कैसी है ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि ये आँख, कान, नाक आदि भी ज्ञान के एव हाथ, पाँव आदि भी क्रिया के सम्पादन मे उपयुक्त अवश्य है परन्तु ये सभी मन तक विषय को पहुँचाने मे ही उपयुक्त होते है अत इन्हे विषय-प्रकाशन आदिस्वरूप कार्य के लिए मुख्यता नही दी जा सकती। अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त भी आँख आदि को वह महत्त्व नही प्रदान करता हुआ पाया जाता है जैसा कि न्यायवैशेपिक आदि दर्शनसिद्धान्त मे इन्हे महत्त्व प्राप्त है। क्योकि वेदान्त स्पष्ट रूप से यह कहता है कि आँख, कान आदि वे नालियाँ है जिन मार्गों से अन्त करण का वहिर्निर्गम होकर उसकी विपयाकाराकारिता होती है। इसके अतिरिक्त अपनी मान्यता के अनुसार यह चार्वाक सिद्धान्त अन्य दार्शनिको से इस विषय पर भी सहमत नही हो सकता कि आँख-आदि वाह्य विपय तक जाते है। क्योकि चाक्षुप प्रत्यक्ष स्थल मे प्रदीप रश्मि की तरह जो रश्मियाँ विषय तक जाती है न वे इन्द्रिय है और न वह चर्मावृत मासपिण्डात्मक चर्मपुटक[१५५]-मध्यस्थित गोलकद्वय। जिसको वौद्ध लोग आँख मानते है। वौद्ध लोग उक्त गोलक को आँख मानने के पक्ष मे यह युक्ति देखते है कि जव किसी प्रकार की अक्षिपीडा उपस्थित होती है तो उसकी निवृत्ति उक्त गोलक की चिकित्सा से होती हुई पायी जाती है। अत गोलक को ही आँख मानना उचित है। परन्तु वह पीडानिवृत्तिस्वरूप स्वास्थ्य-लाभ तो चिकित्सा द्वारा मार्गपरिष्कारप्रयुक्त भी कहा जा सकता है। अद्वैत-वेदान्तसम्मत अन्त करण का वहिर्निर्गम भी इसलिए मान्य नही प्रतीत होता कि अत्यन्त दूरवर्ती शाखा और चन्द्रमा दोनो को द्रष्टा साथ देखता है। यदि अन्त करण का निर्गम माना जाय और विपय देश तक जाकर उसकी विपयाकाराकारिता मानी जाय तो परस्पर मे अत्यन्त दूवरर्त्ती शाखा और चन्द्रमा का समसामयिक रूप मे अनुभयमान ग्रहण इसलिए नही उचित कहला पायेगा कि अन्त करण को उक्त दोनो विपय देश तक जाने मे समान समय नही अपेक्षित होगे। विपय-देश तक चक्षुरश्मिगतिवादी

(१५५) जातिगोचरविज्ञानसामान्यादेकधातुता।
द्वित्वेऽपि तु चक्षुरादीना शोभार्थं तु तदुद्भव ॥ —अभिधर्मकोश।
तेषा चक्षुरादीना एकधातुतैव सिद्धा भवति। गोलकद्वयोत्पत्तिस्तु शोभार्था। —अभिधर्मकोशटीका, राहुल साकृत्यायन।

नैयायिको और वैशेषिको के समक्ष भी जब यह प्रश्न अन्य दार्शनिको द्वारा उठाया गया तो उन्होने यद्यपि इसका उत्तर यह दिया कि नायन-रश्मिया अत्यन्त द्रुतगतिशील होती हैं इसलिए रश्मिस्वरूप आँख की दूरगति लक्षित नही हो पाती है। परन्तु यह उनका उत्तर इसलिए सबल नही प्रतीत होता कि शाखा और अतिदूरवर्त्ती नक्षत्रो के बीच अल्प दूरी नही रहती। अत्यन्त दूरी की परिस्थिति मे कुछ-न-कुछ विलम्ब और अविलम्ब का तो भान होना चाहिए। अत उक्त नैयायिकीय उत्तर का आश्रयण कर चार्वाकसिद्धान्ती अन्त करण के विषय देश तक होने वाले गमन का समर्थन नहीं कर सकते।

कान के सम्बन्ध मे जो वेदान्तियो का यह सिद्धान्त प्राप्त होता है कि कर्णेन्द्रिय वहाँ जा कर शब्द ग्रहण करती है, जहाँ वह शब्द उत्पन्न होता है, यह भी उचित नही प्रतीत होता है। क्योकि कान पर से यदि लोकप्रसिद्ध लघु सच्छिद्र चर्ममास पिण्ड को लिया जाय तो अति दूरवर्त्ती शब्द स्थान तक गति कैसे सम्भव हो सकती ? क्योकि अन्यत्र गतिशील वस्तु का अन्यत्र साक्षात्कार होता नही, उक्त कान को सदा ही शरीरावयव के रूप मे शरीर सलग्न ही पाया जाता है। साथ ही ऐसा मानने मे यह भी कठिनाई प्रतीत होती है कि दूरोत्पन्न और निकटोत्पन्न दोनो शब्दो का समसामयिक श्रवण होता हुआ पाया जाता है जो कि उपपन्न नही किया जा सकता। क्योकि अति दूरवर्त्ती शब्दस्थान मे जिस समय कान चला जाय उस समय यही निकटवर्त्ती शब्द के उद्गम-स्थान मे वह दूरगत कर्णेन्द्रिय कैसे उपस्थित रह पायेगी ? चर्ममास पिण्डात्मक कर्णछिद्र से परिच्छिन्न आकाश को कान मानने पर तो शब्द देश तक उसका निर्गम और भी असगत हो उठता। क्योकि निरवयव आकाश की वहाँ तक गति कैसे उपपन्न हो सकती ? यदि महान् आकाश को ही कान मान लिया जाय फिर भी उसकी गति नही वतलायी जा सकती। क्योकि व्यापक वस्तु कभी गतिशील हो नही सकती। चार्वाकीय-दृष्टिकोण से तो आकाश कोई भाव-वस्तु ही नही मान्य है कि किसी भी प्रकार उसकी गति समर्थित हो सके। आकाश कोई स्वतन्त्र भावात्मक वस्तु नही वह भाव का अभाव या उसकी विरलता के अतिरिक्त और कुछ नही है यह वात आगे वतलायी जायगी।

यद्यपि चार्वाक-सिद्धान्त मे गुण और गुणी इनमे कोई तात्त्विक अन्तर मान्य नही है फिर भी अनुभव के आधार पर स्थलविशेष मे कान और नाक इनके माध्यम से शब्दाश ओर गन्धाश मात्र का भी ग्रहण मान्य होता है। क्योकि दूरवर्त्ती वाद्यो के भी शब्द सुने जाते हैं। दूरवर्त्ती पुष्प का भी सुगन्ध-ग्रहण होता हुआ पाया जाता है। जिह्वा को किसी भी परिस्थिति मे सर्वथा केवल रसग्राहक मानना उचित नही प्रतीत होता। क्योकि खाद्य वस्तु अति अपरिचित होने पर भी रसग्रहण के साथ विशेष रूप से न सही, सामान्य रूप द्रव्याश अर्थात् भूताश का ग्रहण भी नियमत होता ही है। क्योकि भूत दूरवर्त्ती

हो और जिह्वा के द्वारा केवल उसका रसाश गृहीत हो जाय यह बात कभी होती नही। त्वक् से स्पर्शांश और द्रव्याश दोनो का ग्रहण होता है।

वस्तुत नाक, कान आदि को इन्द्रिय मानने की और न मानने की परिस्थिति, इन दोनो परिस्थितियो मे सावयव रूप से समस्त शरीर व्याप्त त्वक् को ही मुख्य इन्द्रिय रूप से मान्य मन का सहायक समझना चाहिए। क्योकि लाघव इसी मे प्रतीत होता है। आँख से रस का और जिह्वा से रूप का ग्रहण क्यो नही आपन्न होगा? यह प्रश्न इसलिए नही उठाया जा सकता कि त्वक् के विभिन्न अशो को अनुभव के आधार पर रूप, रस आदि भूताशो के ग्रहण स्थलो मे मुख्य इन्द्रिय मन का सहायक मान लेने पर उक्त प्रश्न स्वत निराकृत हो जाता है। यद्यपि नैयायिको ने इसका खण्डन किया है। उन्होने यह कहा है कि त्वगेकेन्द्रियवाद की प्रतिज्ञा करके यदि जिह्वा द्वारा रूपग्रहण की और आँख के द्वारा रसग्रहण की आपत्ति विषयक प्रश्न के उठाये जाने पर उक्तवादी यह कहता है कि त्वक् के विभिन्न अवयव नियत रूप से विभिन्न गुणो के ग्राहक होते हैं तो वह त्वगेकेन्द्रियवादी स्वय अपनी प्रतिज्ञा से च्युत हो जाता है। क्योकि त्वक् एक होने पर भी उसके अवयव तो विभिन्न ही होगे? परन्तु नैयायिको का यह खण्डन भूताद्वैत-वादी-चार्वाक-दृष्टिकोण के समक्ष इसलिए अकिञ्चित्कर हो बैठता है कि यहाँ न्याय-सिद्धान्त की तरह अवयव और अवयवी परस्पर मे अत्यन्त भिन्न नही मान्य है। इस पर यदि यह कहा जाय कि अवयव तो अवयवी नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक तन्तु को अलग कर देने पर कपडा तो रहता नही किन्तु उसके अवयवभूत तन्तु तो रहते ही हैं, ऐसी परिस्थिति मे कैसे यह कहना उचित कहला सकता है कि अवयव और अवयवी तत्त्वत एक ही होते है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उक्त परिस्थिति मे तन्तुओ को कपडे का अवयव भी तो नही कहा जा सकता। क्योकि किन्ही वस्तुओ मे अवयवावयविभाव तभी होता है जब कि उन दोनो के बीच अयुतसिद्धि विद्यमान रहती है। यहाँ अयुतसिद्धि को तादात्म्यस्वरूप समझना चाहिए। अलग हो जाने वाली दो वस्तुओ के बीच तादात्म्य होता नही। साख्य[१५६] सिद्धान्त मे आँख, कान आदि का स्वतन्त्र व्यापार माना जाता है निर्विकल्पक ज्ञान। परन्तु चार्वाक-सिद्धान्त मे वैसा मान्य नही है। नैयायिक, वैशेषिक आदि दार्शनिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मानने

(१५६) शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्ति।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्॥ २८॥
—ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका।

अस्ति ह्यालोचन ज्ञान प्रथम निर्विकल्पकम्।
बालमूकादि-विज्ञान सदृश मुग्धवस्तुजम्॥ —श्लोकवार्त्तिक

है सही किन्तु उनके मतो मे वह इन्द्रियो का धर्म नही माना जाता है। क्योंकि वहाँ ज्ञाता अर्थात् ज्ञान का आश्रय आत्मा ही मान्य है, अन्य नही। वेदान्तियो की भी इससे सम्बन्ध रखने वाली परिस्थिति ऐसी ही है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो मान्य होता है किन्तु वह इन्द्रिय धर्म नही हुआ करता। क्योंकि इन्द्रियाँ अन्त करण की वृत्ति के लिए प्रणाली मात्र मानी जाती हैं यह बात पहले अनेक स्थानो पर कही जा चुकी है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि प्रकृत चार्वाक-सिद्धान्त मे तत्त्वत कोई अतीन्द्रिय नही होता। क्योंकि यहाँ मन ही है इन्द्रिय और उसका विषय अतीत तथा अनागत और व्यवहित तथा विप्रकृष्ट सभी होते हैं। साथ ही अनुमिति और शाब्दबोध भी यहाँ प्रत्यक्ष ही हैं यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। तदनुसार सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही होता है, इस दृष्टिकोण से भी कोई अतीन्द्रिय होता नही। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि चार्वाक-सिद्धान्त मे ज्ञान भी तत्त्वत एक प्रकार की क्रिया ही है। अत मन कर्मेन्द्रिय है सुतरा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप मे इन्द्रियो का विभाजन मान्य होता नही। नैयायिको एव वैशेषिको ने इन्द्रिय[१५७] की परिभाषा इस प्रकार बतलायी है कि शब्द भिन्न विशेष गुण का आश्रय न होता हुआ जो ज्ञान के प्रति कारण होने वाले मन के सयोग का आश्रय हो, वह होता है इन्द्रिय कहलाने का अधिकारी। वे लोग आँख आदि स्वाभिमत इन्द्रियो मे इस परिभाषा का समन्वय इस प्रकार बतलाते हैं कि कान को छोड कर अन्य किसी भी आँख, कान आदि मे कोई उद्भूत विशेष गुण रहता ही नही। कान में शब्द विशेषण गुण रहता है सही, किन्तु वह "शब्द भिन्न" नही क्योंकि अपने मे अपना भेद रहता नही। इसलिए आँख आदि सारी इन्द्रियाँ उक्त विशेषणाक्रान्त होती हैं। ज्ञान का कारण होने वाला मन का सयोग होता है इन्द्रिय और मन का सयोग भी, एव आत्मा और मन इन दोनो के बीच होने वाला सयोग भी। इन दोनो प्रकार सयोगो के अन्दर प्रथम सयोग का आश्रय प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय होती है। और द्वितीय सयोग का आश्रय होता है मन। यद्यपि द्वितीय सयोग का आश्रय आत्मा भी है किन्तु उसे इन्द्रियता की आपत्ति उक्त परिभाषा के अनुसार इसलिए नही हो पाती है कि वह प्रथम विशेषण से आक्रान्त है नही। क्योंकि आत्मा मे शब्द से भिन्न ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुण रहते हैं। अत "शब्द से भिन्न विशेष गुण का आश्रय न होना" यह स्वभाव आत्मा मे पाया जा पाता नही। इस चार्वाक-सिद्धान्त मे किन्तु इन्द्रिय की यह परिभाषा बन नही सकती। क्योंकि यहाँ उक्त परिभाषा के अनुरूप वस्तुसम्बन्धी परिस्थिति मान्य होती नही। यथा ज्ञानकारण

(१५७) शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमन-सयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। —न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड।

मन सयोग पद से आत्मा और मन का सयोग इसलिए नही गृहीत हो सकता कि मन और आत्मा अर्थात् शरीर इन दोनो के बीच अवयवावयविभाव सम्बन्ध मान्य है सयोग सम्बन्ध नही। क्योकि शरीर से अतिरिक्त आत्मा यहाँ मान्य नही है यह बात बतलायी जा चुकी है विस्तारपूर्वक। साथ ही ज्ञानकारण मन सयोग पद से आँख आदि के साथ होने वाला मन का सयोग भी गृहीत नही हो सकता। क्योकि गोलकात्मक आँख आदि के साथ मन का साक्षात् सयोग होता नही। मस्तिष्कात्मक मन नाडी-सूत्र के साथ सयुक्त होता है और उस नाडी सूत्र के साथ आँख आदि गोलक का सयोग होता है। यदि यह कहा जाय कि उक्त परिस्थिति की मान्यता के अनुसार आँख और मन का सयोग क्रियाजन्य न होने पर भी सयोगज सयोग तो हो सकता है। तो यह कथन इसलिए उचित नही हो पायेगा कि सयोगज-सयोग सयुक्त सयोग नही होता। हाथ के साथ पुस्तक का सयोग होने पर होने वाले शरीर पुस्तक सयोग को नैयायिक एव वैशेषिक लोग सयोगजसयोग मानते है यहाँ ऐसी परिस्थिति होती नही। क्योकि हाथ और शरीर इन दोनो के बीच अवयवावयविभाव सबध जिस प्रकार होता है मन और उक्त सूत्रात्मक नाडी के बीच अवयवावयविभाव होता नही सयोग ही होता है और वस्तुत चार्वाक-सिद्धान्त मे सयोगजसयोग मान्य भी नही है। क्योकि अवयवावयविभावापन्न वस्तुओ मे तत्त्वत अभेद ही मान्य होता है। उस अभेद की भेदसहिष्णुता के कारण वह समवाय नाम से कहा जाता है।

अद्वैत-वेदान्तियो के घर मे मन की इन्द्रियता विप्रतिपन्न है। उनका एक दल इस सम्बन्ध मे यह कहता हुआ पाया जाता है कि मन इसलिए इन्द्रिय नही है कि उसे इन्द्रिय मानने पर अनुमिति आदि प्रमितियाँ भी प्रत्यक्ष हो पडेगी। क्योकि अनुमिति आदि सभी प्रमितियाँ मन से उत्पन्न होती हैं। अत जब इन्द्रियजनित ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाय और मन को इन्द्रिय माना जाय तो सारे ज्ञान प्रत्यक्ष ही हो जायेगे। चार्वाक सिद्धान्त तो यही चाहता ही है, क्योकि यहाँ सारे ज्ञान प्रत्यक्ष ही मान्य है जिसका वर्णन विस्तारपूर्वक पहले किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि उपनिषद् मे किये गये निर्वचन के अनुसार वेदान्ती लोग मन को एक कोशात्मक मानते है। इस पाञ्चकौशिक स्थूल शरीर के अन्दर सबसे ऊपर अन्नमय-कोश उसके अनन्तर आभ्यन्तर प्राणमय-कोश और उसके अनन्तर आभ्यन्तर मान्य होता है मनोमय-कोश जिसके अनन्तर विज्ञानमय-कोश और उसके अनन्तर आभ्यन्तर मान्य होता है आनन्दमय कोश। इस परिस्थिति के अनुसार अन्नमय और प्राणमय की तरह मनोमय भी समग्र अन्नमय में समाविष्ट एक शरीर जैसा हो जाता है अत उसे वेदान्ती लोग इन्द्रिय नही मानते। परन्तु उनका यह मानना उचित इसलिए प्रतीत नही होता कि उपनिषद् मे इस कोश को "मनष्कोश" न कह कर "मनोमय" कोश कहा गया है। मनोमय इस शब्द क

अन्दर हुआ मयट् प्रत्यय यह स्पष्ट सूचित करता है कि वह कोश मन नहीं है अपितु मन से प्रभावित होने वाली कुछ और वस्तु है। तदनुसार यही मानना उचित होगा कि मस्तक-स्थित मस्तिष्क केन्द्र से सम्पृक्त अथ च समग्र शरीर मे बिछे हुए नाडी-सूत्र-जाल को ही उपनिषद् मे मनोमय कोश शब्द से कहा गया है। इस प्रकार मानने पर कोश शब्द भी आच्छादक अर्थ मे सार्थक होता हुआ पाया जाता है और इसी मनोमय कोश से मिलती-जुलती धारणा मन के सम्बन्ध मे कुछ अशो मे श्वेताम्बर जैनो की पायी जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि वे भी मन को शरीरव्यापी मानते हैं। इन्द्रियो को जैन-सिद्धान्त मे मन्दक्रमी और पटुक्रमी इन दो प्रभेदो मे विभक्त मानते हैं। नाक, कान, जिह्वा और त्वक् इन चार इन्द्रियो को माना जाता है मन्दक्रमी। क्योकि ये अपने-अपने विषय को क्रमश अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर आदि क्रम से ग्रहण करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उक्त चार इन्द्रियाँ, यत अपने-अपने विषय से सन्निकृष्ट होकर ही ज्ञापक होती हैं अत विषय का सम्पर्क ज्यो-ज्यो बढता जाता है त्यो-त्यो विषय का स्फुटीभाव भी क्रमश बढता जाता है और आँख तथा मन ये दो इन्द्रियाँ होती हैं पटुक्रमी। जैन दार्शनिको के इस कथन का तात्पर्य यह है कि आँख और मन ये दो इन्द्रियाँ विषय के साथ सम्पर्क की अपेक्षा न रखती हुई ज्ञापक होती है इसीलिए ये दोनो ही इन्द्रियाँ दूरतटवर्त्ती विषयो को भी हठात् विषय बना पाती हैं। दूर से दूरवर्त्ती नक्षत्रो को आँख से देखा जाता है और अप्रत्यक्ष रूप से कही भी विद्यमान या अतीत किंवा अनागत होने से अविद्यमान विषय को भी मन हठात् विषय कर डालता है। यह भी यहाँ जान लेना अच्छा होगा कि जैन-सिद्धान्त मे प्राणियो को पहले त्रस और स्थावर रूप से दो भागो मे विभक्त माना गया है। "त्रस" का अर्थ जङ्गम अर्थात् चेष्टाशील समझना चाहिए। उक्त प्राणी के प्रभेदो को नौ भागो मे विभक्त माना गया है यथा—पृथिवीकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय, तेजष्काय, वायुकाय और कृमिकाय, पिपीलिकाकाय, भ्रमरकाय और मनुष्यकाय। इन नौ कायो के अन्दर वायुकाय तक पूर्ववर्त्ती पाँच काय तक होते हैं एकेन्द्रिय। अर्थात् इन कायो मे केवल त्वक् ही इन्द्रिय होती है। कृमि आदि कुछ क्षुद्र प्राणियो को त्वक् और जिह्वा ये दो इन्द्रियाँ होती है। चीटी, खटमल आदि कुछ प्राणियो को त्वक्, जिह्वा और नाक ये तीन इन्द्रियाँ होती है। भ्रमर, मक्खी, बिच्छू, मच्छर आदि कुछ प्राणियो को त्वक्, जिह्वा, नाक और आँख ये चार इन्द्रियाँ होती हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को उक्त चार इन्द्रियाँ और कान ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। जैनो की दिगम्बर परम्परा मन को समग्र शरीरव्यापी न मान कर चार्वाक-सिद्धान्त की ही तरह एक देशस्थित मानती है। परन्तु उस परम्परा मे जिस प्रकार मन का स्थान हृदय को माना गया है यहाँ वैसा नही माना गया है। जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है।

अष्टम-प्रकरण

चार्वाक मत में अद्वैत-भूत, महासमवायात्मक

भूताद्वैतवाद की चर्चा पहले की जा चुकी है। परन्तु उसके सम्बन्ध मे प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि चार्वाक-सिद्धान्त मे तो पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार तात्त्विक भूत मान्य होते है। ऐसी परिस्थिति मे भूताद्वैत का कथन कैसे औचित्य प्राप्त करता है ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि विहित भूताद्वैत की चर्चास्थल मे भी यह बात बतलायी जा चुकी है कि यहाँ का अद्वैत भेदासहिष्णु नही, किन्तु भेदसहिष्णु है। अत उक्त प्रश्न सावकाश नही हो पाता। कहने का तात्पर्य यह कि जब साङ्ख्यसिद्धान्त के अन्दर सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इनमें परस्पर विरुद्ध स्वभावता के कारण इन्हे एक नही माना जा पाता है, फिर भी इन्हे अन्योन्य-मिथुन अव्यभिचरित सहचर मानते हुए इन तीनो गुणो के समवाय को एक मूल-प्रकृति प्रधान माना जाता है और तदनुसार ही २५ तत्त्व साख्यसिद्धान्त मे मान्य हो पाते हैं तो पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतो का एक समवायात्मक रूप क्यो नही माना जा सकता है ?

क्षणिक-विज्ञान-मात्र-तत्त्वतावादी बौद्ध-सिद्धान्त मे विज्ञानधाराओ की, एव एक विज्ञानधारा के अन्दर क्षणिक-विज्ञानो की असख्यता को मान्यता देते हुए भी विज्ञानाद्वैत-मात्र की यदि मान्यता बतलायी जाय तो यहाँ भूतगत अवान्तर-भेद की मान्यता के साथ भूतसमवायात्मक भूताद्वैत क्यो न कहा जा सके ? अद्वैतवादी वेदान्त सिद्धान्त मे जीव ईश्वर विशुद्ध चैतन्य, जीव और ईश्वर के बीच विद्यमान भेद, अविद्या, एव चैतन्य के साथ होने वाला उसका भेद, इन छ वस्तुओ की अनादिता मान्य होने पर भी ब्रह्माद्वैतवाद यदि स्थिर हो सके तो चार्वाकीय-दृष्टिकोण मे उक्त चारो भूतो को मान्यता देने पर भी भूत-समवायात्मक अद्वैत मानने मे क्या बाधा उपस्थित की जा सकती ? कुछ भी नही। अत उक्त भूताद्वैत की मान्यता सर्वथा अक्षुण्ण है। प्रकाशाद्वैतवादी शैव सिद्धान्त भी अपने अद्वैत प्रकाश महासागर मे उन्मग्न और निमग्न भाव मे अवस्थित असत्य सासारिक वस्तुओ का अस्तित्त्व मानता है। क्योकि ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियो की तरह शैवागम-सिद्धान्त मे यह ससार कल्पित, मिथ्या, मान्य नही है। यहाँ तक कि

यह कहा जाय कि शैव लोग प्रकाशाद्वैत मे निमग्न एव उन्मग्न असख्य जागतिक दृश्य वस्तुओ को भी प्रकाशात्मक ही मानते है इसलिए उनके यहाँ भेदसहिष्णु अभेदसगत होता है। तो यह चार्वाक-सिद्धान्त मे भी भलीभाँति कहा जा सकता है कि यहाँ भी समग्र विभिन्न जागतिक दृश्य वस्तुएँ अद्वैतभूतात्मक ही मान्य है अत भूताद्वैत क्यो नही यौक्तिक कहा जा सकता ? इस पर भी यदि यह कहा जाय कि प्रकाशाद्वैतवादी शैव-सिद्धान्त जागतिक वस्तुओ के बीच प्रतीयमान भेदो को भी प्रकाश शरीर से बाहर मानता नही इसलिए उसके मत में तत्त्वत अभेद बन जाता है तो इसके उत्तर मे दो बाते कही जा सकती है। एक यह कि दास्य की रक्षा के लिए व्यावहारिक जगत् को भी तथ्य मानता हुआ प्रकाशाद्वैतवादी शैव-सिद्धान्त यदि ऐसा कह सकता है तो दण्ड आदि की सुव्यवस्था के लिए व्यावहारिक जगत् को तथ्य मानने वाला चार्वाक-सिद्धान्त क्यों नही ऐसा मान सकता है ? दूसरा यह कि सर्वाधिक अद्वैतवादी वेदान्त-सिद्धान्त को भी भाव और अभावो का अन्तर मानना ही पडता है। अन्यथा गीताभाष्य आदि मे जो अभाव-कारणत्व का खण्डन किया गया है वह सगत नही हो पायेगा। ऐसी परिस्थिति में भेदात्मक अभाव को भावात्मक नही माना जा सकता। इस प्रकार जब सर्वाधिक अद्वैतवादी ब्रह्माद्वैत वेदान्तियो को भी इच्छा न रहते हुए भी भेद को मान्यता देनी होगी तब और प्रकाशाद्वैती आदि तो व्यावहारिक जगत् को भी मान्यता देने वाले है, वे कैसे इस प्रकार भेद का अपलाप कर सकते ?

रामानुज का विशिष्टाद्वैत तो और भी निकटवर्त्ती प्रतीत होता है भूताद्वैतवादी चार्वाक-सिद्धान्त का। क्योकि जड और अजड[१५८] के अवान्तर भेद को सर्वथा तथ्य मानते हुए दोनो का एक सम्मिलित रूप, जिसे कि वे विशिष्टाद्वैती हरि कहते है असन्दिग्ध भाव से पूर्ण उत्साहपूर्वक मानते हैं। अन्तर उस मतवाद से इस मतवाद का मौलिक रूप मे यह होता है कि वे जडो को सर्वथा चेतनारहित मानते है अत उनका सिद्धान्त एक तरह से द्वैत प्रधान-अद्वैतवादी होता है। और चार्वाक-सिद्धान्त में अस्फुट चेतना उनमे भी मान्य होती है जिन्हे रामानुज-सिद्धान्त सर्वथा चेतना-रहित मानता है। अत यह चार्वाक-सिद्धान्त अप्रधान-द्वैत अद्वैत को मानने वाला प्रतीत होता है। यद्यपि दाण्डिक आदि व्यवहार, पूर्ण द्वैत को मान कर भी सम्पन्न होता है किन्तु वस्तुस्थिति के अनुरोध से भूताद्वैत की ही मान्यता युक्ति सङ्गत होती है। वैदिक अद्वैतवाद भी इससे अक्षुण्ण रह जाता है जिसका स्पष्टीकरण आगे हो पायेगा।

(१५८) ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितय हरि ।

—सर्वदर्शनसग्रह, रामानुज दर्शन ।

महासमवायात्मक-भूत का नाम सुन कर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह महा-समवाय आखिर क्या वस्तु है ? क्योकि यह शब्द प्राय अपरिचित-सा प्रतीत होता है तो इसका परिचय इस प्रकार प्राप्त करना चाहिए कि यह विश्व ब्रह्माण्ड भूतात्मक है यह तो प्रत्यक्ष रूप से ही ज्ञात है। जिधर ही नजर डाली जाय उधर ही विरल-भौतिक-रेणु और घनीभूत-भौतिक-रेणुओ के अतिरिक्त और कुछ भी देखने को मिलता नही। योगदार्शनिक सिद्धान्त मे —आकाश के भी परमाणु माने गये है परन्तु इस चार्वाक सिद्धान्त में भौतिक अणुओ की विरलता या उसके अभाव के अतिरिक्त और कुछ नही माना जा सकता, यहाँ कहा जा चुका है। अत यह मानना होगा कि यह समग्र विश्व, समस्त चराचर, पार्थिव जलीय तैजस और वायवीय कणो का एक महान् सघात ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नही है। सघात, समुदाय और समवाय ये शब्द यद्यपि समान रूप से लोगो के द्वारा एक ही अर्थ के ज्ञापक रूप मे प्रयुक्त होते पाये जाते है फिर भी समवाय शब्द की विशेपता यह है कि वह समुदायियो के अविनाभाव को भी बतलाता हुआ प्रतीत होता है। कहने का तात्पर्य यह कि सघात और समुदाय ये दोनो शब्द सघाती एव समुदायियो के अन्दर सहास्तित्व का व्यक्तीकरण तो करते है किन्तु उस प्रकार उनकी सुशृखलता एव सहकारिता को व्यक्त नही कर पाते जिनका व्यक्तीकरण "समवाय" शब्द से होता है। अत इस ससार को महासमवायात्मक भूत कहने से यह अभिप्रेत अर्थ स्पष्ट होता है कि पार्थिव जलीय तैजस एव वायवीय कण इस प्रकार आपस मे सम्बद्ध रहते है, अविनाभूत रहते है कि अत्यन्त रूप से इन चारो भौतिक कणो को अलग नही किया जा सकता। वैज्ञानिक-पद्धति से जिस पात्र या स्थान को निर्वात, वायु-हीन कहा जाता है वहाँ भी वायवीय कणो की अत्यल्पता ही कही जा सकती है। इसी प्रकार किसी भी जलस्निग्ध मही को कितना भी क्यो न जलाया जाय वह सर्वथा निर्जल नही हो जाता जलाश अत्यधिक कम पड जाता है, यही कहा जा सकता है। इसी प्रकार जल और तेज मे पार्थिव कणो का सदा सम्मिश्रण समझना चाहिए। ऐसा मानने मे प्रबल-युक्ति यह है कि घनीभाव तैजस एव वायवीय कणो का भी होना हुआ पाया जाता ही है। क्योकि ऐसा न मानने पर अनुभूयमान महान् तेज और महान् वायु का उपपादन नही किया जा सकता और एक कण से अन्य कण का जोडना यह स्वभाव जल का ही पाया जाता है क्योकि पार्थिवकणो का घनीभाव जलसम्पर्क से ही किया जाता हुआ पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे यदि तैजस कणो मे एव वायवीय कणो मे अति अल्प भी जलीयाश की सदास्थिति न मानी जाय तो पार्थिव कणो के समान तैजस कणो एव वायवीय कणो का घनीभाव सम्भव नही हो पायेगा। अत यह मानना ही होगा कि प्रत्येक भौतिक कण मे अन्य भौतिक कण का न्यूनाधिक

मात्रा मे सश्लेष रहता ही है। अत ये मान्य चतुर्विध-भूत सर्वथा अविनाभूत है, एव स्वत कार्यकारी हैं। ये सर्वत्र आपसी मिलन में नियमत किसी मेलक व्यक्ति की अपेक्षा नही रखते। यदि यह कहा जाय कि बुद्धिमान् प्राणीकर्तृक भौतिक-मिलन जैसे शरीरधारी मेलकगत-ज्ञान की अपेक्षा करता है तैसे सूक्ष्मभूत-कणो का मिलन भी ज्ञानापेक्षी क्यो नही होता? तो इसका उत्तर चार्वाक-सिद्धान्त के लिए सरल यह है कि सूक्ष्मभूत कणो के मिलने के लिए अपेक्षित अस्फुट चैतन्य उन भूतकणो मे स्वत रहता है अत अन्य ज्ञान की अपेक्षा होती नही। इस पर यदि यह पूछा जाय कि तब अन्य स्थूल भौतिको का मिलन भी क्यो नही हो जाता? तो इसका उत्तर यह होगा कि घनीभाव-प्रयुक्त-गुरुता के कारण स्थूलो मे उत्पतन-शक्ति रहती नही। इसीलिए गतिशील वायु के सम्पर्क से स्थूल भूत भी उत्पतित होकर अन्य भूत से जा मिलते हुए पाये ही जाते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह ज्ञातव्य है कि यहाँ भौतिक सम्मिश्रण के लिए वेदान्त-वर्णित त्रिवृत्करण[१५९] या पञ्चीकरण की प्रक्रिया नही मान्य है। वेदान्त-सिद्धान्त मे त्रिवृत्करण पार्थिव जलीय और तैजस तन्मात्रो का इस प्रकार माना जाता है कि उक्त तीनो भौतिक तन्मात्रो को पहले दो-दो भागो मे विभक्त किया गया माना जाता है और फिर प्रत्येक के उन दो भौतिक भागो के अन्दर एक-एक मात्र भाग को दो भागो मे विभक्त किया गया स्वीकार किया जाता है और एक भौतिक कण के चतुर्थभाग भूत एक-एक भूताश को दो भौतिक अर्द्धांशो मे मिलाया गया माना जाता है। इस पद्धति से पृथिवी, जल और तेज इन तीनो भूतो के अन्दर आने वाला प्रत्येक भूत भूतत्रयात्मक हो जाता है। क्योकि उक्त प्रत्येक भूत में आधा हिस्सा अपना रह जाता है और एक-एक चतुर्थांश अन्य भूतो का होता है। जैसे जिसे लौकिक व्यवहार मे पृथिवी या पार्थिव कहा जाता है उसके अन्दर आधा अश होता है पार्थिव और आधे का आधा फलत चौथा भाग होता है जल का और दूसरा चौथा भाग होता है तेज का। इसी प्रकार जल और तेज को भी समझना चाहिए। जिस प्रकार तीन भूतो के बीच यह त्रिवृत्करण की प्रक्रिया बतलायी गयी है उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतो के सम्मिश्रण को मान्यता देने पर उक्त त्रिवृत्करण की मान्यता के स्थान मे पचीकरण[१६०] को मान्यता वेदान्त-सिद्धान्त मे दी गयी है। उसकी प्रक्रिया यो समझनी चाहिए कि

(१५९) तासा त्रिवृत त्रिवृत एकैका करवाणि। —छान्दोग्योपनिषत्।

(१६०) द्विधाविधाय चैकैक चतुर्धा प्रथम पुन।
स्वस्वेतरद्वितीयाशैर्योजनान् पञ्चपञ्च ते ॥ २७ ॥
—पञ्चदशी, तत्त्वविवेक-प्रकरण।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इनके अन्दर एक-एक की तन्मात्रा को पहले दो भागो मे बाँट कर विभक्त उन दो भागो के अन्दर फिर एक-एक भाग को चार भागो मे विभक्त किया जाता है। जिन चारो भागो के अन्दर एक-एक भाग को स्वकीय अर्द्धांश को छोड कर, अन्य चार अर्द्धांशो के अन्दर एक-एक अर्द्धांश मे मिलाया जाता है। इस प्रकार उक्त पाँचो भूत पचभूतात्मक हो जाते हैं। त्रिवृत्करण करण की परिस्थिति से इस पचीकरण की परिस्थिति मे महान् अन्तर यह आवश्यक रूप से मान्य हो आता है कि त्रिवृत्करण पक्ष मे जहाँ अन्य भूतो के चतुर्थांशमात्र मिलित मान्य होते हैं वहाँ पचीकरण की मान्यता मे एक स्थूल भूत मे अन्यभूत के आठवे-आठवे भागो का मिलन मान्य होता है। इस चार्वाक-सिद्धान्त मे यह त्रिवृत्करण की प्रक्रिया और यह पचीकरण की प्रक्रिया इसलिए नही आदृत होती है कि इन दोनो ही पक्षो मे मेलक की आवश्यकता अनिवार्य हो उठती है जिसे यह सिद्धान्त मान नही सकता। कहने का साराश यह कि कोई भी क्रियात्मक करण नियमत कर्त्ता और साधनात्मक करण की अपेक्षा रखता ही है। सूक्ष्म भौतिक-कणो के मिलन के पूर्व उन कणो के अतिरिक्त तो और कुछ रहता नही जिसको कर्त्ता या करण माना जा सके। भौतिक कणगत अस्फुट चैतन्य प्रयुक्त कणो का मिलन मान्य होने पर भी दूसरी कठिनता यह है कि त्रिवृत्करण और पचीकरण दोनो ही जब कि औपनिषद माने जाते है वेदान्तियो द्वारा, तब विनिगमक के अभाव प्रयुक्त दोनो ही पक्षो मे समान मान्यता मान्य होगी जो कि तर्क के आगे सधती नही। क्योकि एक ही वस्तु एक ही समय दो विभिन्न-परिस्थितियो से सम्पृक्त कदापि नही हो सकती। परन्तु उक्त औपनिषद त्रिवृत्करण और पचीकरण दोनो पक्षो को स्वीकार करने पर एक ही स्थूल भूत मे एक ही समय अन्यान्य भूतो को अष्टम मात्र अश का सश्लेप और चतुर्थ मात्र अश का सश्लेप दोनो मानना होगा। यह बात कैसे भला सम्भव हो सकती ?

यह महासमवाय, जिसका विचार यहाँ किया जा रहा है, है तो तत्त्वत चारो भूतो का ही एक समवाय, परन्तु व्यवहारोपयोगी रूप से प्रतीत होने वाले सारे गुण, कर्म और सामान्य का भी समावेश इस समवाय के अन्दर हो जाता है। क्योकि ये सभी पृथिवी आदि चार-भूतो के ही अविनाभूत धर्म है और धर्म तथा धर्मी इनके बीच अभेद ही यहाँ मान्य है, भेद नही। अब यहाँ प्रश्न यह उठ खडा होता है कि "तो क्या यह चार्वाक-सिद्धान्त भी वस्तु की प्रातिभासिक सत्ता मानता है ? यदि नही तो गुण, कर्म आदि को कैसे यह मान्यता दे सकता ? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि यहाँ जब प्रतीति की ही उक्त भूतचतुष्टय की सत्ता के अतिरिक्त सत्ता नही मान्य है, तब प्रतीति के आधार पर उसके द्वारा विषयीकृत की अलग सत्ता कैसे मान्य हो सकती ? साराश यह कि विषयो को लिये-

दिये प्रतीति उस चतुर्भूत समवाय मे समा जाती है इसलिए तो चार्वाक-सिद्धान्त भूत चैतनिक होता है ? गुण, कर्म आदि की भूतान्तर्गति मे प्रवल-युक्ति यह है कि भूतो की सत्ता से पृथक् गुण, कर्म आदि की सत्ता प्रतीत होती नही ? क्या कभी आश्रयो को छोड कर स्वतन्त्र रूप से गुण आदि प्रतीत होते है ? कभी नही । अत भूत-चतुष्टय-मात्र की तात्त्विकता की मान्यता औचित्य प्राप्त कर सकती है । इस समवाय की विशेपता यह है कि ससार की किसी भी वस्तु को इस समवाय के उदाहरण के रूप मे उपस्थित किया जा सकता है। ऐसी एक भी वस्तु नही दिखलायी जा सकती जो कि समवायात्मक न हो। एक फूल को ले लिया जाय। वह निश्चय ही पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय परमाणुओ का समवाय है और रूप, रस आदि गुण चलनात्मक क्रिया और अन्य फूल के साथ सामान्य भी इसमे समवेत है इसलिए यह एक फूल उक्त सभी वस्तुओ का एक समवाय है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु को समवायात्मक समझा जा सकता है। समवायात्मक प्रत्येक सासारिक वस्तुओ का एक महासमवाय ही एक अद्वैत तत्त्व है, जिसकी मान्यता पहले बतलायी जा चुकी है। इससे अतिरिक्त और कोई वस्तु हो ही नही सकती अत यह होता है महासमवाय। ईश्वर, ब्रह्म आदि शब्द भी इसी महासमवाय के बोधक है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता हे कि ब्रह्म, ईश्वर आदि शब्दो से कहा जाने वाला तो सर्वज्ञ होता है फिर इस जडात्मक महासमवाय को कैसे ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा आदि शब्द से कहा जा सकता है ? तो इसका उत्तर यह होगा कि रूप, रस आदि की तरह ज्ञान भी तो चार्वाक सिद्धान्त मे उक्त समवाय का अन्तर्भुक्त ही होता है। अत सर्वज्ञानसम्पर्कात्मिक सर्वज्ञता उस महासमवाय म अनायास प्राप्त हो सकती है। यह भी प्रश्न नही उठाया जा सकता कि एकमात्र महासम-वाय तत्त्व रूप मे मान्य होने पर सर्व शब्द का प्रयोग ही असगत हो उठेगा। क्योकि अनेकता के विना सर्वता वन ही नही सकती। क्योकि उस महासमवाय के अन्तर्गत उक्त प्रकार अवान्तर समुदायो मे पारस्परिक भेदात्मक अनेकता यहाँ मान्य ही है। महासमवाय और तत्कुक्षिस्थ अवान्तर समुदायो मे अवयवावयवी-भाव हुआ करता है। यदि यहाँ यह शका उपस्थित की जाय कि इस प्रकार एक महासमवाय और उसकी ज्ञानगर्भता मान्य होने पर कोई भी व्यक्ति किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे कुछ निर्णय नही कर पायेगा। दश, पाँच व्यक्तियो मे तो मतैक्य होना किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे कठिन हो जाता है यह किसी से छिपा नही है, फिर कोटि-कोटि शरीरान्तर्गत ज्ञानी रेणुओ अथवा यो कहा जाय कि अवान्तर समवायो मे मतैक्य किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे कैसे सम्भव कहा जा सकता ? तो इस शका का निराकरण इस प्रकार समझना चाहिए कि यही है समवाय की महत्ता। अन्तर्भुक्त समवाय अर्थात् घटक-समवाय घटित-समवाय के विरुद्ध कार्यकारी नही होता, अत निर्णय होने मे बाधा होती नही। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्येक महासमवाय एक-एक होने के

कारण, उसका ज्ञान भी घटक-ज्ञान से प्रबल होता है अत निर्णय मे बाधा नही उपस्थित होती है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि किसी भी एक शरीरात्मा को लिया जाय। वह क्या है ? अवान्तर कोटि-कोटि क्षुद्र जीवो का समुदाय ही तो है ? आधुनिक शारीर-विज्ञान के अनुसार शोणित आदि भी कीटाणुओ के समुदाय ही है। उन क्षुद्र कीटाणुओ को भी अपेक्षित ज्ञान है यह भी सिद्ध है, फिर प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपेक्षित वस्तु के सम्बन्ध मे निर्णयात्मक ज्ञान करता ही है। नही तो सुश्रृखल देखी जाने वाली प्रवृत्ति उपपन्न नही हो सकती। अत मतैक्य अथवा निर्णय के अभाव की शङ्का नही उठायी जा सकती।

यही समवाय वर्त्तमान गौतमीय न्याय एव वैशेषिक इन दोनो दर्शनो मे भी माना हुआ है। परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि समवाय को मानते हुए भी इसके इस रहस्य-स्वरूप को जैसे परवर्त्ती नैयायिक एव वैशेषिक समझ न पाये हो, अथवा यो कहा जाय कि भूल गये हो। वे लोग समवाय को अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् और नित्यद्रव्य विशेष[१६१] इनके बीच होने वाला एक प्रकार नित्य सम्बन्ध मानते है। इन सारी बातो की वैज्ञानिकता यहाँ वर्णित समवाय के रहस्य स्वरूप को मानने पर ही सगत होती है। उक्त प्रकार एक महासमवाय को लेकर नित्यता और एकता तो अनायास स्पष्ट हो जाती है। रही सम्बन्धता की बात कि समवाय को सम्बन्ध किस दृष्टिकोण से माना जाता है ? तो इसके सम्बन्ध मे ज्ञातव्य यह है कि असम्बद्ध-वस्तुओ मे सुश्रृखलता होती नही। इसलिए सुश्रृखलता के नियामक रूप मे समवाय को सम्बन्ध ही मानना होगा। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि कार्य समूह-साध्य ही होता है। समूह को समूही के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता ? परन्तु विश्रृखल समूही से वह कार्य नही होता हुआ पाया जाता है जो कि सुश्रृखल समूही से। एक व्यक्ति उस काम को नही कर पाता जिसे कि मिलित दश व्यक्ति अनायास कर लेते है। उन दश व्यक्तियो मे होने वाला वह मिलन, सम्बन्ध के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता ? तभी तो किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिए एकत्र, एक विचारसूत्र मे आबद्ध व्यक्तियो को कहा जाता है मानवसमवाय। वहाँ एक कार्यात्मक केन्द्र मे वे सभी तदर्थी व्यक्ति परस्पर मे आबद्ध हो जाते है, सम्बद्ध हो जाते है। विश्रृखल एक-एक व्यक्ति-स्थल मे यह बात होती नही। इसीलिए एक व्यक्ति उस कार्य का सम्पादन नही कर पाता है जिसका सम्पादन व्यक्ति-समवाय करता है। यही समवाय समाजवाद का मेरुदण्ड है। इसी नित्य एक समवाय सम्बन्ध को नित्य एक सत्ता भी समझना चाहिए।

(१६१) अयुतसिद्धानामाधार्याधारभताना य सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतु स समवाय ।
—पदार्थधर्मसग्रह, समवाय-प्रकरण ।

क्योकि कोई भी कार्य जब कि उक्त युक्ति के अनुसार समवाय से ही होता है तो उसे ही सत मानना होगा। और धर्म-धर्मी की एकता मान्य होने के कारण सत् और सत्ता मे अन्तर नही किया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह कि सख्या केवल एकत्व ही मान्य है इसलिए सत् और सत्ता इन दोनो को अलग नही माना जा सकता। साराश यह कि "देवता" इस शब्द के अन्दर श्रूयमाण "ता" को जैसे प्रकृतिभूत शब्द के अर्थ के अतिरिक्त अर्थात् देव के अतिरिक्त और किसी धर्म का बोधक नही माना जाता उसी प्रकार "सत्ता" आदि शब्द घटक "ता" को भी अतिरिक्त धर्मार्थक नही मानना चाहिए। इसलिए वह एक सत् समवाय-स्वरूप है। इस महासमवाय का थोडा-सा आभास मिलता है रामानुज के एक "हरि" में। परन्तु वहाँ चित् और अचित् दोनो का पृथक् अस्तित्व हरि के अन्तर्गत रूप मे मान्य होने के कारण इस महासमवाय से मौलिक अन्तर हो उठता है। यहाँ इन दोनो का अपृथक् अस्तित्व माना जाता है। इस महासमवाय को ब्रह्म मान लेने पर ही ब्रह्म की वेदान्तवर्णित अभिन्न निमित्तोपादानता ठीक से हो पाती है। क्योकि ब्रह्म की अभिन्न निमित्तोपादानता मे लूताकीट (मकरी) का दृष्टान्त ब्रह्माद्वैत-वेदान्ती लोग उपस्थित किया करते है। जीवित उक्त कीट मे ज्ञान की अपृथक् सत्ता रहती है जैसा कि यहाँ भूतसमवाय के सम्बन्ध मे बतलाया गया है। ब्रह्माद्वैत के महान् प्रवर्त्तक आचार्य शङ्कर ने विषय और विषयी इन दोनो को अत्यन्त विरुद्ध-स्वभाव बतलाया है। और इस प्रकार यदि बतलावे नही तो यह दृश्य जगत् उनके मत मे कल्पित कैसे बन पाये ? ऐसी परिस्थिति मे विषय और विषयी का सम्पर्क कैसे हो सकता ? साराश यह कि मायात्मक विषय का स्वप्रकाशात्मक विषयी मे सम्बन्ध किसी प्रकार हो नही सकता। और ऐसा न होने पर मायावच्छिन्न-चैतन्य-स्वरूप ईश्वर मान्य नही हो सकता, जिसमे जडाश को लेकर उपादानता और ज्ञानाश को लेकर निमित्तता, इस दृश्य जगत् के प्रति बन पाये। और यदि यह कहा जाय कि जगत् के आकार मे परिणत होती हुई माया के अध्यास का अधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म, जगत् का उपादान कहलाता है, तो उपादानता तो इस प्रकार बनायी जा पायेगी किन्तु तब "निमित्तता" बिगड जायेगी। क्योकि प्रकृतिस्वरूपा माया परिणमन मे स्वाधीन ही होगी ? अत सहायक निमित्तान्तर की अपेक्षा उसे होगी नही, कि चैतन्याश को लेकर निमित्तता बनायी जा सके।

दूसरी बात यह कि माया एव चैतन्य के साथ होने वाले उसके सम्पर्क को अनादि ही मानना होगा, और ऐसा ही उक्त वेदान्ती लोग मानते भी हैं। ऐसी परिस्थिति मे वेदान्त-सिद्धान्त मे मोक्ष असम्भव हो उठेगा। क्योकि अनादिभाव का नाश होता हुआ कही देखा जाता नही, कि उसे दृष्टान्त बना कर अविद्या का नाश मनाया जा सके। वेदान्त-सिद्धान्त मे अविद्या ही है बन्धन रूप मे मान्य, और उसका नाश ही मोक्ष रूप मे। दूसरी बात यह भी

अनुकूल ही होगा। क्योकि इसीलिए तो ब्रह्माद्वैत-सिद्ध होता है ? तो यह कथन भी इसलिए सगत नही कहला पायेगा कि तब वह ब्रह्म लोकव्यवहार का उपयोगी न हो पाने के कारण मान्य नही हो पायेगा। क्योकि अव्यावहारिक वस्तु को परमार्थ-सत् रूप मे मान्यता नही दी जा सकती। क्योकि ऐसी वस्तु की मान्यता को प्रश्रय देने पर अन्य वस्तुओ की मान्यता को कौन रोक पायेगा ?

इस महा-समवायात्मक अद्वैत-भूत की मान्यता पक्ष मे "एक विज्ञान से की गयी सर्व-विज्ञान सम्बन्धी प्रतिज्ञा भी अच्छी तरह सगत होती है। कहने का तात्पर्य यह कि वेदान्ती-लोग जो यह दावा करते है कि उपनिषत्प्रतिपादित एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा नित्य विज्ञानाद्वैतात्मक ब्रह्माद्वैत की मान्यता पक्ष मे ही सगत हो सकती है, यह उनका कथन इसलिए उतना सगत नही हो पाता कि उनके मतमे जब कि निरयव एकमात्र ब्रह्म पारमार्थिक रूप से मान्य है तब "सब और उनका विज्ञान" अलग पारमार्थिक रह कहाँ जाता कि उसकी प्रतिज्ञा वहाँ पूर्ण सगत हो पाये ? उस ब्रह्म रूप उपादान को समझ लेने पर तो अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त मे अन्य सारे पदार्थ बाधित अर्थात् मिथ्या निर्णीत हो जाते है। ब्रह्म को समझना और सब को अर्थात् इस दृश्य को समझना ये दोनो उक्त अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त मे अविरुद्ध नही हो सकते कि दोनो मे सामजस्य प्राप्त हो। अत यदि गम्भीर भाव से देखा जाय तो वहाँ "एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा" सङ्गत नही हो पाती। इस चार्वाकी महासमवायात्मक भूताद्वैत को तथ्य मान लेने पर पूर्ण रूप से उक्त प्रतिज्ञा इसलिए सगत हो पाती है कि इस अद्वैत महासमवाय के अन्दर पारस्परिक भेदयुक्त सारा दृश्य जगत् अवयवावयवी-भावापन्न रूप मे सदा विद्यमान होने के कारण "एक और सर्व" समसामयिक एव एकभावस्थित हो पाते है इसलिए यह प्रतिज्ञा सर्वथा उपपन्न हो पाती है कि "एक को समझ लेने पर सभी ज्ञात हो जाते है"। घडे को देखने वाला व्यक्ति जैसे उसके अवयव भूत कपालो को देखता ही है, कपडे को देखता हुआ व्यक्ति जैसे तन्तुओ को भी देखता ही है उसी प्रकार महासमवायात्मक भूताद्वैत का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति उसके अवयव भूत समग्र पृथिवी, जल आदि उसके अवयवो को देखेगा ही।

इसके अतिरिक्त और भी एक बात ध्यान देने योग्य यहाँ यह है कि उपनिषत् मे जो यह कहा गया है कि "वह पट आदि रूप मे दृश्यमान विकार अर्थात् कार्य, वाणी मात्र से आरब्ध होनेवाले है अर्थात् ये सभी नाममात्र से विद्यमान है सत्य तो केवल मृत्तिका ही है' यह कथन भी उस प्रकार पूर्ण रूप से ब्रह्माद्वैत पक्ष मे सगत नही हो पाता जिस प्रकार इस महामसमवायात्मक भूताद्वैत पक्ष मे। क्योकि जब उपनिपद्-वाक्य मे भूतात्मक पृथिवी को ही स्पष्ट शब्द मे सत्य कहा गया है तब भूत से अतिरिक्त ब्रह्म को सत्य कहना कैसे उचित माना जा सकता ? उस उपनिपद् वाक्य के अन्दर तो दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भाव का उल्लेख

हुआ नही है कि उक्त वेदान्तियो की उपमानोपमेय-भावमूलक व्याख्या सगत हो पाये ? यदि इस पर उस पक्ष से यह कहा जाय कि वाक्यान्तर मे उपमानोपमेय भाव वर्णित है,क्योकि स्पष्ट इस प्रकार उपनिषद् मे कहा गया पाया जाता है कि "हे सौम्य ! जिस प्रकार एक मृण्मय वस्तु का परिचय प्राप्त कर लेने पर सारी मृण्मय वस्तुएँ अनायास ज्ञात हो जाती हैं उसी प्रकार एक अद्वैत तत्त्व को समझ लेने पर अन्य सारी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं" इस औपनिषद उक्ति से तो उपमान-उपमेय भाव स्पष्ट प्रतीत होता है ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यहाँ उपमानोपमेय-भाव वर्णित होने पर भी वह उपमानोपमेय-भाव इस महासमवायात्मक अद्वैत की मान्यता पक्ष मे जितना समन्वित होता हुआ प्रतीत होता है उतना शाङ्कर-अद्वैत-वेदान्त-पक्ष मे नही । क्योकि उस पक्ष मे निर्गुण, निर्लेप, निर्विकार, अमूर्त्त ब्रह्म के ऊपर यह दृश्य जगत् सर्वथा अध्यस्त, आरोपित, सर्वथा कल्पित मान्य है । इस-लिए प्रथम विज्ञान एक ब्रह्म और द्वितीय विज्ञान सर्व अर्थात् विभिन्नतायुक्त रूप मे प्रतीय मान यह जगन् इन दोनो मे वह समान जातीयता कहाँ बन पाती है जो समान जातीयता एक मृत्पिण्ड और उससे बने सभी सारे मृण्मय-पात्र आदि इन दोनो मे पायी जाती है ? यदि वेदान्तियो की ओर से यह कहा जाय कि "सत्" रूप मे उक्त एक जातीयता ब्रह्म और दृश्य जगत् इन दोनो मे भलीभाँति कही जा सकती है, तो यह कथन भी मूल्यवान् इसलिए नहीं हो पायेगा कि तब तो ब्रह्म और दृश्य-जगत् दोनो मे एक ही, या नही तो कम-से-कम एक जैसी सत्ता तो माननी ही होगी । और ऐसा मान लेने पर फिर यह दृश्य जगत् ब्रह्म के ही समान सत् मान्य होने के कारण् पूर्ण पारमार्थिक बन बैठेगा, जिसे कि उन वेदान्तियो को मान्य ठहराना इसलिए अति कठिन हो आयेगा कि ऐसा मान लेने पर अगत्या इस महासमवात्मक अद्वैत को ही मान्यता उन्हे देनी पडेगी । फलत उन्हे अपसिद्धान्त निग्रहस्थान आपन्न हो उठेगा । इस चार्वाकीय-महासमवायात्मक-अद्वैत की मान्यता पक्ष मे महासमवायात्मक ब्रह्म और इस दृश्य जगत् इन दोनो मे उक्त उपमानोपमेय-भाव पूर्ण सगत होता है । क्योकि अवयव और अवयवी नियमत एक जातीय ही हुआ करते है । तन्तु और कपडे दोनो अन्तत कपास के ही होते है । तदनुसार विभिन्न दृश्यात्मक जगत् जो कि उक्त महासमवायत्मक अद्वैत भूत के अवयव और वह महासमवाय अवयवी होने के कारण एक ही पारमार्थिक सत्ता दोनो मे मान्य होती है । अत समानजातीयता अक्षुण्ण रह जाने के कारण उक्त उपामानोपमेय-भाव के विघटन की उस प्रकार आशका आपन्न नही होती जिस प्रकार की शका ब्रह्माद्वैत-वेदान्तपक्ष मे आपन्न होती है ।

इस महासमवायात्मक भूताद्वैत की एक बडी विशेषता यह भी परिलक्षित होती है कि यहाँ आरम्भवाद और परिणामवाद दोनो का एक प्रकार समन्वय प्राप्त होता है । कहने का तात्पर्य यह कि सारे दर्शनो को प्राय आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद, इन तीन

वादो मे विभक्त माना जाता है। इन तीनो वादो के अन्दर आरम्भवाद और परिणामवाद ये दोनो अति प्राचीन वाद है, क्योकि आचार्य शङ्कर के पूर्व विवर्त्त शब्द का भी प्रयोग यदि होता भी था तो परिणाम के ही अर्थ मे, उस अर्थ मे नही, जिस अर्थ मे उन्होने इसे अपनाया है। इस आरम्भ और परिणाम की ओर गहराई से दृष्टि डालने पर इन दोनो के स्वरूपो मे मौलिक अन्तर यही प्रतीत होता है कि अन्त स्पन्दन होता है परिणाम और वहि स्पन्दन कहलाता है आरम्भ। यद्यपि इन दोनो की ऐसी व्याख्या आज तक और किसी ने सम्भवत नही की है। वेदान्तियो ने परिणाम और विवर्त्त इन दोनो की व्याख्याएँ इस प्रकार की है कि "सतत्वत अन्यथा प्रथा है परिणाम" और "अतत्त्वत अन्यथा प्रथा है विवर्त्त" उनकी इस व्याख्या को या इससे मिलती-जुलती एतत्सम्बन्धी अन्य व्याख्या को गहराई से देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसी व्याख्या करने वाले विद्वानो ने आरम्भ और परिणाम इन दोनो मे होने वाले अन्तर के स्पष्टीकरण का माध्यम "प्रथा" अर्थात् प्रतीति को ही ठहराया है। तदनुसार उनका अभिप्राय यह व्यक्त होता है कि जहाँ उपपादक और उपपाद्य ये दोनो समान-सत्ताक रूप मे प्रतीत हो, वहाँ उन दोनो मे परिणामि-परिणाम भाव समझना चाहिए और जहाँ उपपादक की प्रतीति न होते हुए उपपाद्य की प्रतीति होती हो वहाँ उन दोनो मे विवर्त्ति-विवर्त्त भाव। उस मृत्पिण्ड को जिससे कि घडा वनता है और उस घडे को जो कि उस मृत्पिण्ड से वनता है दोनो को लोग अव्यवहित पूर्वापरीभावापन्न रूप मे आखिर मट्टी ही समझते है अत पूर्ववर्त्ती मृत्पिण्ड होता है परिणामी और घडा उसका परिणाम। जहाँ लोग किसी सीप को चाँदी का खण्ड समझ वैठते है वहाँ यह परिस्थिति नही होती है। चाँदी उसे देखते है तव सीप मे उस देखने की विषयता नही रहती है और जव नजदीक जाकर द्रष्टा वस्तुत वहाँ विद्यमान सीप को देखता है तो देखते समय चाँदी का विषयीकरण नही होता है। अत इस द्वितीय परिस्थिति मे पूर्व परिस्थिति के अनुसार परिणाम-परिणामी भाव माना नही जा सकता। इसलिए चाँदी को वहाँ सीप का विवर्त्त मानना उचित है, यही वेदान्तियो का अभिप्रेत अर्थ मालूम होता है। भर्तृ-प्रपच आदि प्राचीन-वेदान्ती लोग इस तरह का विवर्त्ति-विवर्त्त भाव व्रह्म और इस दृश्य जगत् के वीच नही मानते थे। वे वहाँ भी मृत्पिण्ड और घट की तरह परिणाम-परिणामी-भाव ही मानते थे। उनके मत मे व्रह्म ही जगत् रूप से परिणत होता है। इसी अभिप्राय से मैने कहा है कि विवर्त्तवाद पीछे की उपज है। "विवर्त्त" इस शब्द के अन्दर छिपे हुए "वृत्ति" शब्द के दो अर्थ होते है। एक विद्यमानता और दूसरा अन्त करण वृत्तिस्वरूप ज्ञान। मालूम ऐसा होता है कि प्रथम अर्थ प्राचीन वेदान्तियो को अभिप्रेत था और द्वितीय परवर्त्ती वेदान्तियो को। और इसीके आधार पर महान् मतभेद की सृष्टि हुई। जगत् को व्रह्म का विवर्त्त मानने वाला शाङ्कर-अद्वैत-सम्प्रदाय भी उसे अनादि अज्ञानात्मक भाव का

परिणाम ही मानता है, इसलिए शाङ्कर-सम्प्रदाय को परिणामवाद और विवर्त्तवाद दोनो ही व्यावहारिक दृष्टिकोण से मान्य होते हैं। प्राचीन ब्रह्माद्वैतियो को केवल परिणामवाद ही मानना पडता था इस दृष्टि से उन्हे लाघव प्राप्त था। इस प्रकार विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि जिस अर्थ मे विवर्त्त शब्द का प्रयोग शाङ्कर-अद्वैत वेदान्तियो ने किया है उस अर्थ मे उससे पूर्व विवर्त्त शब्द का प्रयोग नही होता था। अत आरम्भवाद और परिणामवाद ये ही दो वाद प्राचीन दार्शनिक वाद थे। इन दोनो वादो के अन्दर भी अधिक सख्यक दार्शनिको के द्वारा आरम्भवाद ही आदृत था। क्योकि न्याय वैशेपिक बौद्ध और मीमासक ये सभी दर्शन आरम्भवादी है। जैन दर्शन स्याद्वादी होने के कारण कथचित् परिणाम को भी मानता हुआ भी मुख्यतया आरम्भवादी ही है। साख्य और योग तथा ऊपर विहित विचार के आधार पर वेदान्ती भी परिणामवादी ही है। परन्तु इस चार्वाकीय-महासमवायात्मक भूताद्वैत-सिद्धान्त मे दोनो वादो का समसमन्वय प्राप्त होता है। क्योकि अणु मूल से लेकर महासमवाय तक अवयवावयवि-भावाक्रान्त होने के कारण आरम्भवाद मान्य होता है और अवयव एव अवयवी जो कालक्रम से जीर्णता आदि प्राप्त करते है वहाँ पूर्वापरीभूत-अवयवो एव अवयवियो मे अवयवावयविभाव न होने के कारण वहाँ पूर्ववर्त्ती अवयव एव अवयवी को परिणामी और परवर्त्ती अवयव एव अवयवी को परिणाम माना जायगा। क्योकि अस्फुट क्रिया का ही अपर नाम होता है परिणमन यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है।

इस महा-समवायात्मक भूताद्वैत का समर्थन आधुनिक भूतविज्ञान से भी अच्छी तरह प्राप्त होता है। क्योकि जब यह सिद्ध हो चुका है कि महान् शून्याकाश मे ग्रह-उपग्रह आदि शब्दो से कहे जाने वाले असख्य भौतिक सन्निवेश, जगह-जगह पर अपनी निश्चित गति से युक्त रूप मे अस्तित्वशील है और पारस्परिक आकर्षण शक्ति के कारण अनियत गतिशील होकर चूर्ण-विचूर्ण नही हो जाते है। विशकलितावयव होकर अनन्त महाशून्य मे विलीन नही हो जाते है, तो इससे यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि सभी भूत-सन्निवेश, वे प्राणी हो या अप्राणी, प्राणियो के आवास हो या उनका अनावास परस्पर सम्बद्ध है, एक सूत्र मे आबद्ध है। और पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता कितनी है इसका परिचय हम भलीभाँति प्राप्त कर सकते है, यदि चन्द्र, सूर्य आदि भौतिक पिण्ड से इस लोकावास भूत पिण्ड का एव एतत्स्थित प्राणियो को क्या और कितना लाभ तथा अलाभ है इस ओर ध्यान दिया जाय। ऐसी परिस्थिति मे सारे भूतभौतिको का एक महासमवाय कैसे नही माना जा सकता ? और उसे मान लेने पर उसी की अद्वैत रूप से तत्त्वता भी माननी ही होगी। गुण, कर्म आदि धर्म रूप मे भासमान वस्तुएँ भी धर्मी से तत्त्वत अन्य नही है यह बात पहले भी कही जा चुकी है। अत उनको लेकर भी उक्त महासमवायगत एकता का भङ्ग आपन्न नही हो सकता।

भूत-विनाभूत रूप मे ज्ञान का भी अस्तित्व नही पाया जाता है कि उसके पृथक् अस्तित्व के आधार पर भी ये भूताद्वैत का भङ्ग आपन्न हो पाये। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इसका आभास अवश्य मिलता है कि न्याय एव वैशेषिक दर्शन को यह समवाय इस चार्वाक दर्शन से उत्तराधिकार मे मिला था। इस समवाय पदार्थ के ऊपर गम्भीर-भाव से दृक्पात करने पर भारतीय प्राचीन-समाजवाद पर प्रकाश पडता है। व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और समाज इनको एक सूत्र मे आबद्ध करके एकता मे समायी हुई अनेकता और अनेकता को अपने गर्भ मे छिपाने वाली एकता का, अथवा यो कहा जाय कि सौन्दर्यपूर्ण समता से आवृत आकर्षक विषमता का एव विषमता को अन्दर की हुई समता का समग्र-सृष्टि मे अति क्षुद्र भूताणु से लेकर महत्तम रूप से मान्य वस्तु मे सामजस्य उपस्थित करके उसके प्रभावानुसार जनजीवन को सुख और शान्ति का पाठ पढाना इस समवाय का पुनीत कर्त्तव्य था। तदानीन्तन मानव जब इस समवाय के सहारे सर्वत्र सामजस्य की व्याप्ति देखते थे तो इसके आधार पर अपने जीवन मे भी समाजीकरण के सचार द्वारा सघबद्ध होकर पारस्परिक अनुभूति एव सह अस्तित्व को अपनाते हुए निरन्तर-भाव से वैयक्तिक-जीवन की सफलता के साथ-साथ सामूहिक-जीवन की सुख-शान्ति की ओर सदा प्रयत्नशील, सदा सचेष्ट होते थे। इस समवाय का विस्तृत परिचय मेरे 'पदार्थ शास्त्र' द्वितीय भाग को पढ कर विशेष रूप से प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ इसके लिए उतना स्थान नही है कि विस्तृत विवेचन इसपर प्रस्तुत किया जा सके। फिर भी सक्षेप मे इसे इस प्रकार ज्ञात करना चाहिए कि किसी भी अनेकव्यक्तिमात्र-साध्य क्रिया की ओर गहराई के साथ दृष्टिपात करने पर यह अवश्य देखने को मिलता है कि वहाँ क्रिया का सम्पादक समवाय ही होता है। समवाय, समुदाय, समाज आदि शब्द पर्यायवाची हैं। तदनुसार समुदाय के द्वारा निष्पन्न होने वाला कार्य फलत समवाय से ही सम्पन्न होता है। दुरूह से दुरूह काम भी जो सघशक्ति के सहारे अनायास निष्पन्न होते हुए देखे जाते हैं वह उनकी निष्पत्ति तत्त्वत इस समवाय के ही बल पर होती है। व्यष्टियाँ विभिन्न होने पर भी समष्टि एक ही होती है और वे अवान्तर समष्टियाँ भी अन्य व्यापक एक समष्टि की व्यष्टियाँ होती हैं। इस प्रकार अन्तिम एक ही महा-समवाय होता है। इसी दृष्टिकोण से नैयायिक एव वैशेषिक विवेचको ने समवाय को एक माना है[१६१अ]। और उसकी उस वास्तविक एकता की सुरक्षा के लिए उसे नित्य भी माना है। इस चार्वाक-सिद्धान्त मे किसी की कोई भी परिस्थिति ऐसी नही दिखलायी जा सकती

(१६१अ) नित्यसबध समवाय। —तर्कसग्रह।
अवयवावयविनोर्गुणगुणिनो क्रियाक्रियावतो र्जातिव्यक्त्यो नित्यद्रव्य-विशेषयोश्च य सम्बन्ध स समवाय। —न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली।

जिस समय वह समवायता से व्याप्त न हो। सर्वाधिक अविभाज्य क्षुद्रतम भूताणु भी अन्योन्य-मिथुन भूतचतुष्टय एव उनके गुण, कर्म एव सामान्य का एक समवाय ही होता है। और सभी को स्वगर्भस्थित करने वाला एक महासमवाय ही होता है। इसे ही व्यक्त करने के लिए सम्भवत नैयायिक एव वैशेषिक विवेचको ने उसे अन्तिम भाव का स्थान दिया।

चार्वाक-मत मे भूत के प्रभेद

समवाय और समुदाय ये दोनो ही शब्द पर्यायवाची है यह बात पहले भी कही जा चुकी है। तदनुसार कोई भी समवाय समवायी के बिना सम्भव नही। क्योकि प्रत्येक समष्टि व्यष्टियो का ही एक मिलित रूप हुआ करती है यह सर्वथा अनुभवसिद्ध है। ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि प्रकृत समष्ट्यात्मक समवाय का समवायी अर्थात् व्यष्टियाँ कौन है ? इसके उत्तर मे ज्ञातव्य यह है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इनको उक्त समष्ट्यात्मक समवाय का समवायी अर्थात् व्यष्टि समझना चाहिए। प्रत्येक सासारिक वस्तु मे जब ये भूत अविनाभूत रूप मे विद्यमान पाये जाते है तब इन्हे मान्य समवाय का समवायी कैसे नही माना जा सकता ? अत प्रत्येक लघु समवाय से लेकर महा-समवाय तक को उक्त भूतचतुष्टयात्मक मानना चाहिए। इसका सरल अभिप्राय यह है कि यहाँ सर्वाधिक लघु होने वाला भौतिक कण भी एक भूतात्मक न होकर चतुर्भूतात्मक ही मान्य है अन्यथा वह समवायरूप नही हो सकता। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि इसमे क्या प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है कि वह सर्वाधिक लघु-अणु भी उक्त समवाय स्वरूप ही है ? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि जब अन्य सभी वस्तुएँ उक्त भूत-चतुष्टय की समष्टि रूप ही पायी जाती है तब अणु और अनणु दोनो मे विद्यमान वस्तुत्व एक, अवि-शेष, होने के कारण अनणु-भूतो के समान प्रकृत सर्वाधिक अणुभूता को भी समवायात्मक मानना ही होगा। सम्भव है कुछ लोग यहाँ हठात् यह कह बैठे कि यह उत्तर तो एक प्रकार से अनुमान प्रमाण उपस्थित करता है। क्योकि सर्वाधिक लघु अणु को पक्ष और वस्तुत्व को हेतु करके समवायरूपता की सिद्धि की जा रही है। पर्वत मे धूम हेतु से अग्निरूप साध्य की अनुमिति जिस प्रकार की जाती हुई मानी जाती है, उसी प्रकार तो उक्त सर्वाधिक लघु अणु मे वस्तुत्व हेतु से समुदायता की सिद्धि की जा रही है ? परन्तु इस चार्वाक सिद्धान्त की ओर से होने वाला यह कथन तो सगत नही कहा जा सकता ? क्योकि इस सिद्धान्त मे तो प्रत्यक्ष मात्र ही प्रमाण रूप से मान्य ठहराया जाता है। अनुमान को तो प्रमाण माना जाता नही ? तो यह कथन इसलिए सारशून्य सिद्ध होगा कि विस्तृत विचार के द्वारा यह स्थिर किया जा चुका है कि चार्वाक-सिद्धान्त अनुमान को प्रमाण मानता नही, यह बात नही है, किन्तु मन की इन्द्रियता और सभी ज्ञानो मे मनोजन्यता प्रयुक्त इन्द्रियजन्यता

अनिवार्य रूप मे मान्य होने के कारण प्रत्यक्षता मानी जाती है। साराश यह कि अनुमान आदि भी प्रत्यक्ष के ही अन्तर्गत रूप मे प्रमाण मान्य हैं। अत किसी भी तात्त्विक परिस्थिति की सिद्धि के लिए अनुमान का उपस्थापन दोप रूप मे परिगणित नही किया जा सकता।

हॉ, एक प्रश्न कुछ जटिल-सा विरोधी पक्ष से यह उठाया जा सकता है कि अणुत्व के विश्रामस्थानमूत उस सर्वाधिक लघु भौतिक कणो को यदि भूतचतुष्टयात्मक माना जाय तो उनसे क्रमश बने हुए महान् भौतिको मे चारो भूतो के अशो की समानता आपन्न होगी। और ऐसा होने पर पृथिवी,जल आदि का अनुभूयमान व्यावहारिक भेद अनुपपन्न हो उठेगा। साराश यह कि खाने से प्यास की और पीने से भूख की शाति होने लगेगी जैसा कि होती नही। और यदि उनके अन्दर विद्यमान भूतो के अशो मे विपमता मानी जायगी, तव उसके निर्वाह-क रूप मे शुद्ध पार्थिव, शुद्ध जलीय, शुद्ध तैजस एव शुद्ध वायवीय कण जिसे न्याय-वैशेपिक आदि दर्शन परमाणु कहते है उन्हें मानना ही होगा। लघु समवाय घटक उक्त विशुद्ध परमाणुगत सख्याओ की न्यूनता और अधिकता के कारण तव उक्त अनुपपत्ति या आपत्ति का निराकरण किया जा सकेगा। अत अणुत्व के विश्रामस्थान को समवाय नही कहा जा सकता।

परन्तु इस प्रश्न की जटिलता को भी यो टाला जा सकता है कि सयोग को नियमत अनित्य मानने पर ही यह प्रश्न सावकाश हो सकता है, अन्यथा नही। क्योकि जसे कुछ नैयायिक और वैशेषिक लोग विभुओ के अनादि, अनन्तसयोग मानते हैं तद्वत् आणविक सयोगो को भी नित्य, स्वाभाविक माना जा सकता है। और ऐसा होने पर विभिन्न भूतो का अशाविक्य भी उसमे स्वाभाविक रूप से हो सकता है। साराश यह कि असमाश रूप मे भी भूतो का अनादि सम्मिश्रण मान्य हो सकता है। अत असमवायात्मक भूत की मान्यता और असमाश रूप मे वार्तमानिक-भूतो के सम्मिश्रण की उपलब्धि की अनुपपत्ति, इनका अवकाश नही रह जाता। यहाँ न्याय-वैशेपिक सिद्धान्त की तरह सर्वाधिक अणुओ को मौलिक तत्त्व रूप मे मान्यता नही दी जा रही है किन्तु उसके विपरीत उक्त एक भूत-महा-समवाय को। उससे क्षुण्ण भौतिक कण अन्तत चतुरणुक-स्थानीय ही हो सकते है उससे अणु नही। किन्तु सभी उक्त क्षुण्ण अणु उक्त चतरणुक स्थानीय अणु तक विभक्त होकर ही पुन सयुक्त होकर द्रव्यान्तर का उत्पाद करेगे यह भी नियम मान्य नही है। "चतुरणुक" शब्दमात्र का प्रयोग न करके चतुरणुक स्थानीय शब्द का प्रयोग इसलिए किया जा रहा है कि वैसा कहने से उक्त विश्रामस्थान क्षुद्राणु के भी अवयवभूत त्र्यणुक द्वयणुक, और परमाणु की मान्यता का भ्रम हो सकता है। अर्थात् "चतुरणुक" शब्द, न्याय-वैशेपिक मत-सिद्ध चतुरणुक की ओर अनभिमत ध्यानाकर्षण कर सकता है अत इस सम्बन्ध मे यह कह

देना भी आवश्यक है कि उक्त "चतुरणुक स्थानीय" इस वाक्य-प्रयोग के अन्दर आने वाला चतुरणुक शब्द सर्वाधिक क्षुद्र चातुर्भौतिक अतएव समवायात्मक अणुमात्र विवक्षित है न्याय-वैशेषिक सम्मत त्र्यणुक, चतुष्टय से निर्मित द्रव्य नही। क्योकि परमाणु द्वयणुक एव त्र्यणुक यहाँ मान्य नही है।

चार्वाक-मत मे परमाणु की अमान्यता—

महत्त्वापकर्ष के विश्रामस्थान क्षुद्र-भूतो को परमाणु नही माना जा सकता। क्योकि परमाणु का जो यौक्तिक-खण्डन अन्य दार्शनिको ने भी दृढतापूर्वक किया है वह सर्वथा निर्मूल्य नही है। यहाँ उसे इस प्रकार समझना चाहिए कि परमाणुओ को मान्यता देने वाले दार्शनिक तत्रत्य सयोग को नियमत अप्राप्तिपूर्वक अर्थात् अनित्य मानते है और अव्याप्य-वृत्ती भी। और ऐसा मानना परमाणुवादियो के लिए नितान्त आवश्यक है अन्यथा वे विश्लिष्टावस्थ परमाणुओ की परिस्थिति तक पहुँच ही नही सकते। सयोगो का यदि अव्याप्यवृत्ती न माना जाय तो एक अणु से सयुक्त दो अणुओ की वितति मे कोई अन्तर न हो पायेगा। और वहाँ ही जब वितति मे अन्तर नही माना जायगा तो आगे-आगे त्र्यणुक, चतुरणुक आदि मे अनुभूयमान विततिगत क्रमिक-अतिशय-वृद्धि नही बन पायेगी। ऐसी परिस्थिति मे जहाँ एक परमाणु मे छ दिशाओ से छ परमाणु आ जुटेगे वहाँ भी सयोग की अव्याप्यवृत्तिता अर्थात् एकदैशिकता अनिवार्य रूप मे मान्य होने के कारण मध्यवर्ती एक परमाणु के छ अश मानने होगे।[१६२] किसी भी साश-वस्तु को परमाणु भला कैसे कहा जा सकता ? क्योकि वह उसका अश, परमाणु हो जायगा। अत अशषट्कयुक्त परमाणु को निरवयव नही माना जा सकता। इस निरवयव-परमाणु-खण्डक तर्क मे परवर्त्ती नैयायिक और वैशेपिक लोग भी अप्रभावित नही रह पाये। इसीलिए परवर्त्ती नव्य तार्किक रघुनाथ शिरोमणि ने त्रुटि अर्थात् जिसे पूर्ववर्त्ती परमाणुवादी त्र्यणुक कहते थे उसीको भौतिक क्षोद का विश्रामस्थान माना। यहाँ उस त्रुटि को भी एक भौतिक न मान कर चातुर्भौतिक इसलिए माना जा रहा है कि अनुभूयमान भूत भौतिको मे चातुर्भौतिक सश्लेष अपेक्षाकृत कम-अधिक मात्रा मे पाया ही जाता है। इस अल्पता के विश्रामस्थान को त्र्यणुक अथवा चतुरणुक वास्तव अर्थ मे इसलिए नही कहा जा सकता कि विश्रामस्थान होने के कारण वही अणु परम अणु आदि कहलाने का अधिकारी हो जाता है अत अनेकाणु घटित त्रिवा

(१६२) षट्केन युगपद्योगात् परमाणो षडशता।
तेषामप्येकदेशत्वे पिण्ड स्यादणुमात्रक ॥
—सर्वदर्शन सग्रह, बौद्धदर्शन।

अनेकाणुनिर्मित वाची त्र्यणुक, चतुरणुक आदि शब्दो से वह मुख्य रूप मे कथित होने का अधिकारी नही हो पाता ।

अब यहाँ परमाणुवादियो की ओर से प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि यौक्तिक वस्तु का अपलाप न तो सम्भव है और न उचित । ऐसी परिस्थिति मे "त्र्युटि सावयव है अर्थात् अवयव-युक्त है क्योकि वह भी घट के समान चाक्षुष-द्रव्य है" इस अनुमान से जब कि त्रुटि के अवयवभूत-द्वयणुक की मान्यता स्वीकृत हो जाती है तब "त्रुटि के अवयव भी सावयव है क्योकि वे तन्तुकपाल आदि के समान त्रुटिस्वरूप महान द्रव्य को उत्पन्न करते है, इस अनुमान से द्वयणुक का अवयव परमाणु भी सिद्ध हो जाता है । फिर यह कथन कैसे सगत कहा जा सकता कि उक्त चातुर्भौतिक त्रुटि मे ही अल्पता का विश्राम मान्य है ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि तब तो उक्त चाक्षुषत्व हेतु के सहारे उस विश्राम-स्थान त्रुटि द्रव्य मे घट आदि के समान परिमाण की भी आपत्ति दी जा सकती है क्योकि यहाँ सभी महान् और समवाय स्वरूप ही मान्य है। अत उक्त द्वयणुक परमाणु आदि साधक अनुमान को सही नही माना जा सकता । दूसरी बात यह कि प्रकृत-सिद्धान्त मे कोई अचाक्षुष द्रव्य एव अद्रव्य-चाक्षुष मान्य ही नही है । ऐसी परिस्थिति मे उक्त "चाक्षुण द्रव्यत्व" हेतु, "पर्वत अग्नि युक्त है क्योकि नील धूम युक्त है" इस अनुमान स्थल मे जैसे हेतु घटक "नील" यह विशेषण व्यर्थ हो जाने के कारण अनुमान दुष्ट कहलाता है उसी प्रकार विशेषणगत व्यर्थता अनिवार्य होने के कारण उक्त अनुमान को सही अनुमान नही कहा जा सकता, एव उस अनुमान के सहारे त्रुटिद्रव्य मे सावयवता नही सिद्ध की जा सकती, जिससे द्वयणुक द्रव्य की सिद्धि मान्य होगी । और जब द्वयणुक यही नही सिद्ध हो पायेगा तो उसके अवयव परमाणु कैसे सिद्ध हो पायेंगे ? अत उक्त युक्ति से परमाणु की सिद्धि नही की जा सकती । और यहाँ यह भी एक ध्यान देने की बात है कि उक्त अनुमान को थोडी देर के लिए सही मान कर त्रुटि द्रव्य मे सावयवता सिद्ध होने पर भी विभक्तावयवता नही सिद्ध होगी । अत विशृखल स्वतन्त्र द्वयणुक, जैसा कि नैयायिक और वैशेषिक लोग सिद्ध करना चाहते है नही सिद्ध होगा । और सावयवता-मात्र की सिद्धि प्रकृत चार्वाकीय-सिद्धान्त के लिए प्रतिकूल नही । क्योकि उस त्रुटि को भी यहाँ समवायात्मक ही माना जाता है । वहा होने वाला चारो भूतो का सयोग अनादि और अनन्त अतएव नित्य होता है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है । यदि परमाणु शब्द का अर्थ महत्त्व का विश्रामस्थान मात्र विवक्षित रखा जाय तो अणु और परमाणु शब्द के प्रयोग से कोई विरोध नही है । इस अन्त्य रूप मे मान्य त्रुटि को भी अणु या परमाणु शब्द से कहा जाना उचित ही होगा । क्योकि विश्राम का स्थान तो यह मान्य ही है। केवल प्रतिवाद इस अश मे है कि "यह त्रुटि, विश्राम-स्थान नही है तीन द्वयणुको के आगन्तुक सयोग मे यह उत्पन्न होता है और द्वयणुक भी

विशकलित दो परमाणुओ के बीच होने वाले आगन्तुक सयोग से उत्पन्न होता है।" साराश यह कि खण्डत्व कहें या अवयवत्व कहें इसका विश्रामस्थान होने वाले भूतकण भी तत्वत महान् ही होते हैं केवल तद्वत् महत्त्व अन्य सभी महत्त्व की अपेक्षा से अपकृष्ट होता है। उक्त विश्रामस्थान भौतिक कणो मे नव्य तार्किक रघुनाथ शिरोमणि भी महत्त्व ही मानते है यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है।

चार्वाक-मत मे पृथिवी एव पार्थिव—

प्रत्येक वस्तु अवयवी है, समवाय-रूप है और उसके समवायी भूत चार मान्य है। यथा पृथिवी, जल, तेज और वायु। इन चारो भूतो मे अविनाभाव होने पर भी आधिक्य भूतविशेष का हो सकता है इसलिए पृथिवी-पार्थिव, जल-जलीय, तेज-तैजस, और वायु-वायवीय इत्यादि व्यवहार सगत होते है इत्यादि बातें बतलायी जा चुकी है। इस पृथिवी का लक्षण नैयायिको एव वैशेषिको ने जैसा बतलाया है वैसा यहाँ माना जा सकता है। उन्होंने सरल रूप मे ऐसा कहा है कि गन्धयुक्त है पृथिवी।[१६३] साराश यह कि जिसमे गन्ध गुण प्रमाण-सिद्ध हो उस भूत को पृथिवी समझना चाहिए। सभी पार्थिव वस्तुओ म प्रमाण के द्वारा गन्ध निर्णीत होती है इसलिए पृथिवी के इस लक्षण मे अव्याप्ति-दोप नही दिखलाया जा सकता है। और जल आदि अवशिष्ट भूतो मे गन्ध उपलब्ध होती नही इसलिए अतिव्याप्ति दोप भी नही दिखलाया जा सकता। और अव्याप्ति जहाँ होती नही वहाँ असम्भव की सम्भावना भी नही रहती अत असम्भव दोष भी उद्भावित नही हो सकता। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव का परिचय दिया जा चुका है। यदि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि जब इस सिद्धान्त मे सारे भूतो मे पारस्परिक-सश्लेप अनिवार्य-रूप से माना गया है तब अलग विशुद्ध केवल पृथिवीजातीय तो कोई वस्तु होगी नही फिर कैसे लक्ष्य-लक्षणभाव सगत कहा जा सकता? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वेदान्त-सिद्धान्त मे वर्णित पचीकरण प्रक्रिया से पारस्परिक भूत-सश्लेष होने पर भी जिस प्रकार व्यावहारिक लक्ष्य-लक्षणभाव मान्य होता है, नैयायिक वैशेषिक सिद्धान्त मे तैजस सुवर्ण मे पार्थिव-भूत का सश्लेप मान्य होने पर भी लक्ष्य-लक्षणभाव मान्य होता है, उसी प्रकार यहाँ भी पारस्परिक भूतसश्लेप मान्य होने पर भी उक्त प्रकार लक्ष्य-लक्षण भाव सगत हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि जो अन्य दार्शनिक पार्थिव, जलीय, तैजस एव वायवीय परमाणुओ को परस्पर असम्पृक्त, स्वतन्त्र भी मानते है उनके मत मे भी तो घट-पट आदि अवयवी द्रव्यो मे विभिन्न भूतो का अवयव रूप से नही सही, सयुक्त द्रव्य रूप मे ही सही सश्लेख माना ही जाता है दृश्यमान भूतो मे। अत केवल पृथिवी, केवल जल नही

(१६३) तत्र क्षितिर्गन्धहेतु ··· ।२५। —भाषापरिच्छेद।

कहा जा सकता। फिर भी सभी सिद्धान्तो मे जैसे लक्ष्य-लक्षण भाव मान्य होता ही है तैसे यहाँ भी भूतो के बीच अविनाभाव की मान्यता प्रयुक्त लक्ष्य-लक्षण-भाव मे वाधा नही वतलायी जा सकती है।

यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि सभी पार्थिव द्रव्यो मे तो गन्ध की उपलब्धि होती नही। उदाहरण के रूप मे पत्थर को उपस्थित किया जा सकता है। क्योकि यत्न-पूर्वक उसके साथ नाक का सम्पर्क स्थापित करने पर भी गन्ध की उपलब्धि पत्थर मे होती नही। तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि गन्ध के सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दोनो ही प्रभेद उद्भूत और अनुद्भूत इन दो प्रभेदो मे विभक्त होते है। उद्भूत का अर्थ है प्रकट और अनुद्भूत का उसके विपरीत अप्रकट। प्रस्तर आदि पार्थिव भूतो मे होने वाली गन्ध होती है अनुत्कट, अप्रकट, अत नाक से उसका ग्रहण नही हो पाता। अत गन्ध का अस्तित्व पत्थर आदि मे भी रह जाने के कारण अव्याप्ति की, की जानेवाली शका खण्डित हो जाती है।

यदि इस पर भी यह पूछा जाय कि पत्थर आदि मे अनुत्कट भाव से गन्ध रहती है यह कैसे समझा जाय[१६४] ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि अनुमानात्मक प्रत्यक्ष से पत्थर आदि मे गन्ध की उपलब्धि भलीभाँति की जा सकती है। क्योकि जो द्रव्य जिस द्रव्य के विनाश प्रयुक्त उत्पन्न होता है उन दोनो की उपादान धारा एक ही होती है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि एक दश हाथ के कपडे को यदि दो खण्डो मे फाड डाला जाय, तो पूर्ववर्त्ती महापट और परवर्त्ती खण्डपट इन दोनो के उपादानभूत तन्तु अभिन्न ही होते है। इस प्रकार अनुभवसिद्ध होने वाले उक्त नियम के अनुसार पत्थर और उसे जलाने से होने वाले उसके भस्म, इन दोनो के उपादान अर्थात् अवयव अवश्य एकजातीय मान्य होगे। और पत्थर के भस्म मे गन्ध पायी ही जाती है। ऐसी परिस्थिति मे पत्थर और उसके भस्म दोनो ही एक जातीय पार्थिव अवयव से ही निष्पन्न होने के कारण, और कार्य मे गुणोद्गम कारण गुण के अधीन होने के कारण पत्थर मे भी गन्ध का अस्तित्व मानना ही होगा। रही बात नाक के सहारे वहाँ गन्ध की अनुपलब्धि की, तो, सो गन्ध की अनुत्कटता प्रयुक्त भी हो सकती है। अत पत्थर मे गन्ध का अभ्युपगम अप्रामाणिक नही कहा जा सकता।

यहाँ यह प्रश्न नही उठाया जा सकता कि उत्पन्न होता हुआ द्रव्य एक क्षण तक निर्गुण रहता है। अत प्रथम क्षण—सम्पृक्त रूप मे किसी भी पार्थिव द्रव्य मे गन्ध रह सकती नही।

(१६४) न च पाषाणादौ गन्धाभावाद्गन्धवत्वमव्याप्तमिति वाच्यम्। तत्रापि गन्ध-सत्वात। अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते। कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते। —न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृथिवीनिरूपण।

लक्षण-भावस्थल मे समझा जा सकता है। पृथिवी लक्ष्य है तो लक्ष्यतावच्छेदक होता है पृथिवीत्व । वह जहाँ-जहाँ अर्थात् सर्वत्र-पार्थिव वस्तु मे रहता है वहाँ-वहाँ सर्वत्र किसी-न-किसी समय गन्ध का अस्तित्व होता ही है । एव जहाँ-जहाँ किसी-न-किसी समय गन्ध रहती है वहाँ-वहाँ सर्वत्र सर्वदा लक्ष्यतावच्छेदक-भूत पृथिवीत्व रहता है। अत गन्ध लक्ष्य-तावच्छेदक-समनियत, फलत पृथिवीत्व का समनियत होती है और इसलिए पृथिवी का लक्षण होती है। इसी प्रकार सर्वत्र लक्ष्यलक्षण-भावस्थल मे समझना चाहिए।

सम्भव है कुछ लोगो के मन मे यह शका उपस्थित हो कि पृथिवीत्व-सामान्य जिसे कि गन्धात्मक लक्षण का लक्ष्यतावच्छेदक अर्थात् लक्ष्यता का नियामक कहा जा रहा है भला किस प्रमाण से सिद्ध हो सकता है ? क्योकि पृथिवी के अतिरिक्त उसमे रहने वाला पृथिवीत्व नाम का धर्म तो अनुभूत होता नही। तो इसके उत्तर मे दो बाते कही जा सकती हैं। एक यह कि पृथिवी का अर्थ होता है पृथिवीत्व-जाति-विशिष्ट। इसलिए पृथिवी का ज्ञान पृथिवीगत पृथिवीत्व को अपने से अछूता नही रख सकता। इसलिए पृथिवी के ज्ञान का विषय पृथिवीत्व को भी मानना ही होगा। ऐसी परिस्थिति मे किसी भी पार्थिव-पदार्थ के प्रत्यक्ष का विषय-पृथिवी-स्वरूप धर्मी के समान वह पृथिवीत्व-सामान्य भी होता है, जो कि पृथिवी का स्वाभाविक धर्म होता है। ऐसी परिस्थिति मे धर्मी पृथिवी के समान तद्गत पृथिवीत्वात्मक धर्म भी प्रत्यक्ष का विषय होता है यह मानना ही होगा। इसलिए पृथिवीत्व जाति के अस्तित्व मे प्रत्यक्ष-प्रमाण भी विद्यमान है यह भली-भाँति कहा जा सकता है। दूसरी बात यह कि गन्ध के तादात्म्य के नियामक रूप मे भी पृथिवीत्व-सामान्य का अस्तित्व मानना अनिवार्य है। क्योकि भूत तो पृथिवी के समान जल, तेज और वायु ये भी हैं किन्तु गन्ध का तादात्म्य पृथिवी मे ही क्यो होता है ? इसलिए यह कहना ही होगा कि गन्ध का नियामक होने वाला पृथिवीत्व पृथिवी मे ही रहता है जल आदि मे नही। नियामक के बिना नियम्य का न रहना स्वाभाविक ही है। अत नियामक पृथिवीत्व उक्त जल आदि मे न होने के कारण नियम्य गन्ध का तादात्म्य जल आदि भूतो मे नही हो पाता है। इस प्रकार किया जाने वाला कथन पृथिवीत्व-सामान्य को मान्यता देने के बिना सङ्गत नही हो सकता अत सभी पार्थिव-पदार्थों मे एक अनुगत पृथिवीत्व-सामान्य अवश्य मानना होगा।

नैयायिक और वैशेषिक लोगो ने इस पृथिवीत्व[१६५] सामान्य की सिद्धि, गन्ध की उत्पत्ति के नियामक रूप मे बतलायी है, किन्तु वह यहाँ इसलिए मान्य नही ठहरायी जा सकती कि

(१६५) पृथिवीत्व हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिध्यति । अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्ते ।

—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, प्रत्यक्ष-परिच्छेद ३५ कारिका।

यहाँ पृथिवी और गन्ध मे उत्पाद्य-उत्पादक भाव मान्य नही है। गुण और गुणी यहाँ परस्पर मे भिन्न नही मान्य है, अभिन्न ही। वस्तुत जब कि पृथिवी और गन्ध आदि गुण की तरह पृथिवी और पृथिवीत्व भी अविनाभूत, तादात्म्यापन्न है तब पृथिवी का प्रत्यक्ष मानने पर पृथिवीत्व का भी प्रत्यक्ष स्वत मान्य होता है। ऐसी परिस्थिति मे यह प्रश्न ही अस्वाभाविक हो जाता है कि पृथिवीत्व के अस्तित्व मे क्या प्रमाण है ? इस विवेचन से जलत्व आदि सामान्य के सम्बन्ध मे उठायी जाने वाली आशङ्का का उत्तर प्रकाशित हुआ समझना चाहिए। क्योकि आशका की गतिविधि समान होने पर उत्तर की गतिविधि भी अवश्य समान होगी। यहाँ पृथिवी के लक्षण से सम्पृक्त रूप मे पृथिवीत्व सामान्य पर थोडा प्रकाश डाल देना आवश्यक हो पडा।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि गन्ध ही केवल पृथिवी का लक्षण होने की योग्यता अपने मे रखती है ऐसी बात नही है। और भी ऐसे उसके असाधारण स्वभाव बतलाये जा सकते है जिनके सहारे समग्र पृथिवी एव पार्थिव का परिचय प्राप्त किया जा सकता है अत उन्हे भी पृथिवी का लक्षण कहा जा सकता है। जैसे पाकज रूप, रस आदि को भी पृथिवी का लक्षण भलीभाँति समझा जा सकता है। क्योकि पाकज रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पृथिवी एव पार्थिवो मे ही उपलब्ध होते है। अधिक देर तक जल को सन्तप्त करने पर यद्यपि जल मे भी रूपान्तर की उपलब्धि होती हुई पायी जाती है फिर भी उस रूप को जल का न मान कर जल मे प्रविष्ट इन्धन सम्बन्धी पार्थिव कणो का ही मानना उचित है। कहने का तात्पर्य यह कि गुलाब जल, केवडा जल आदि जलो मे उपलभ्यमान गन्ध जिस प्रकार जल का न मान्य होकर पार्थिव उन पुष्पो की ही मान्य होती है और पुष्प के सम्पर्कप्रयुक्त जल मे प्रतीयमान मानी जाती है उसी प्रकार अग्नितापप्रयुक्त जलगत रूप मे उपलभ्यमान रूप को भी पार्थिव कहा जा सकता है। अत पाकज रूप, रस आदि पार्थिवो मे ही रहने वाले निश्चित होते है इसलिए पाकज रूप, रस आदि को भी पृथिवी का लक्षण अनायास कहा जा सकता है। इसी प्रकार नैमित्तिक द्रवत्व को भी पृथिवी का लक्षण समझा जा सकता है। क्योकि वह पृथिवी मे ही पाया जाता है। सुवर्ण को यहा न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त की तरह तेज नही मानना है पार्थिव ही मानना है, अत उसमे अतिव्याप्ति की शङ्का नही उठायी जा सकती। इसी प्रकार ऐसे गुरुत्व अर्थात् वजन को भी पृथिवी का परिचायक लक्षण माना जा सकता है जो कि शीतल स्पर्श के साथ एक जगह रहता न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि गुरुत्व अर्थात् भार पृथिवी एव जल इन दो मे ही उपलब्ध है। तदनुसार जल मे रहने वाला गुरुत्व होता है शीतल स्पर्श के साथ एकत्र रहने वाला और पार्थिव गुरुत्व होता है शीतल स्पर्श के साथ न रहने वाला अत एतादृश गुरुत्व को पृथिवी का असाधारण स्वभाव मानना ही

होगा। अत वह भी लक्ष्यतावच्छेदक-पृथिवीत्व का समनियत होने के कारण पृथिवी का लक्षण कहा ही जा सकता है। पृथिवी के सम्बन्ध मे इस प्रकार विविध लक्षण का उद्भावन यहाँ इसलिए किया गया है कि और लोग इस प्रकार और भी इस पथिवी की विशेपता की ओर अपने ध्यान को आकृष्ट कर सकते है और अन्य सभी वस्तुओ के स्वरूप के अध्ययन मे विभिन्न प्रकार से दिलचस्पी ले सकते हैं। भारतीय वाङ्मय मे लक्षण ग्रन्थो के निर्माण की परम्परा इसी अभिप्राय से अनेक-पूर्व प्रचालित की गयी थी कि बुद्धिविकास के अन्य साधन के अभाव मे भी इसके सहारे अनायास लोग बौद्ध-व्यायाम करके अपनी बुद्धि को सुदृढ भाव से परिपक्व करके जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र मे उस बुद्धि का सदुपयोग कर के अपना और औरो का भी कल्याण करे।

नैयायिक एव वैशेपिको ने इस पृथिवी को जिसके अन्दर छोटी से लेकर बडी तक पार्थिव वस्तुएँ भी अन्तर्गत रूप से अभिप्रेत रखी गयी है, शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन प्रभेदा मे विभक्त माना है। किन्तु यहाँ केवल मन ही इन्द्रिय रूप से मान्य होने के कारण और उसे भी शरीर का ही एक अवयव मानने के कारण इन्द्रिय को शरीर मे अतिरिक्त एक स्वतन्त्र प्रभेद नही कहा जा सकता। अभिप्राय यह कि जो लोग उक्त तीन प्रभेदो को मान्यता देते है वे इन्द्रिय को शरीर का अवयव नही मानते किन्तु शरीर से सयुक्त मानते हैं। यहाँ नाक, कान आदि को इन्द्रियत्व ही मान्य नही है। केवल मन ही एक इन्द्रिय रूप से मान्य है और वह भी शरीर का ही अवयव है यह बात सक्षेप मे पहले भी बतलायी जा चुकी है। अत शरीर और विषय ये ही दो प्रभेद मान्य है। सम्भव है यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उठावे कि इन्द्रिय को शरीर का अवयव मानने पर भी उसे अलग प्रभेद क्यो नही कहा जा सकता है? शरीर का अवयव होते हुए भी वह क्यो नही पृथक् निर्दिष्ट हो सकता है? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि घट-पट आदि के प्रतीतिस्थल मे कोई भी व्यक्ति कपाल और तन्तुओ का भी पृथक् निर्देश नही करता कि "घडा भी है और कपाल भी है"। "कपडा भी है और तन्तु भी है"। "क्योकि घडा है" यह कहने से ही यह भी स्वत अवगत हो जाता है कि कपाल भी है और कपडा है कहने पर यह भी अवगत हो जाता है कि तन्तु भी हैं। क्योकि कपाल के विना घट का और तन्तुओ के विना पट का अस्तित्व हो ही नही सकता। यदि यह कहा जाय कि पृथक् कार्यकारी होने के कारण पृथक्-निर्देश औचित्य प्राप्त कर सकता है। तो उस दृष्टिकोण मे इन्द्रिय को भी एक अलग प्रभेद मान कर उक्त त्रैविध्य का समर्थन किया जा सकता है। शरीर का परिचय कुछ लोगो ने इस प्रकार दिया है कि जो चेप्टा का आश्रय हो, उसे पार्थिव-शरीर समझना चाहिए। परन्तु यह निर्वचन इसलिए उचित नही प्रतीत होता कि चेप्टा की परिभाषा करते हुए वे लोग यह कहते हैं कि हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के प्रति अनुकूल होने वाली क्रिया है चेप्टा। चेप्टा के इस निर्वचन के अनुसार

इसलिए इन दोनो ही निर्वचनो से प्राप्त यही होता है कि "सुख और दु ख के साक्षात्कार का आश्रय है शरीर। इस चार्वाक-सिद्धान्त मे साक्षात्कारात्मक स्फुट चैतन्य शरीर मे होता है अत आत्मा वही है, इसे ही प्रमाता भी मानना चाहिए इत्यादि बातें "प्रमाता" शीर्षक विचार मे विस्तृत भाव से बतलायी जा चुकी है। फलत "भोगायतन" या "अर्थाश्रय", शरीर को भलीभाँति कहा जा सकता है। अत शरीर का यह निर्वाचन इस चार्वाक सिद्धान्त के अनुसार तो सही होता है। किन्तु जो लोग शरीर से अतिरिक्त शरीरी आत्मा मानते हैं और शरीर का इस प्रकार निर्वचन करते हैं उनके कथन का समर्थन करना कठिन है। क्योकि सुख और दु ख का साक्षात्करात्मक अर्थ तो उनके मत मे शरीर से अतिरिक्त अमूर्त्त आत्मा मे मान्य होता है ?

सम्भव है कुछ लोग हठात् इसके उत्तर मे यह कहने के लिए उतावले हो उठें कि समवाय-सम्बन्ध से शरीरातिरिक्त आत्मा मे, उक्त साक्षात्कारात्मक भोग शरीरावच्छिन्न रूप मे होता है अत शरीर होता है अवच्छेदक। सुतरा समवाय-सम्बन्ध से न सही, अवच्छेकता-सम्बन्ध से वह उक्त साक्षात्कारात्मक भोग शरीर मे रह सकता है। अत शरीरातिरिक्त-आत्मवादियो के मत मे भी उक्त निर्वचन क्यो नही सगत हो पायेगा ? तो इस प्रकार वक्तव्य यह समझना चाहिए कि इस प्रकार कल्पित सम्बन्ध के आधार पर इस निर्वचन को उचित मानने पर इस तरह के अन्य भी सम्बन्ध हस्तगत हो सकते हैं जिन्हें अपनाने पर समग्र ससार को शरीरत्व की आपत्ति हो उठेगी। जैसे "स्वनिष्ठ-वस्तुत्व" सम्बन्ध से सभी को सब जगह रखा जा सकता है क्योकि वस्तुत्व तो सब मे एक ही है। इसलिए शरीरातिरिक्त-आत्मवाद पक्ष मे शरीर का यह निर्वचन सगत नही कहा जा सकता। यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि दु ख के उपभोग को अर्थ कैसे कहा जा सकता ? क्योकि दु ख का उपभोग तो कोई चाहता नही। और यदि अर्थ पद से उक्त उभयात्मक उपभोग नही गृहीत हो सकेगा तो अर्थ और उपभोग को एक करके जो अपने पक्ष मे उक्त शरीर-लक्षण का समन्वय बतलाया गया है उसे कैसे सङ्गत कहा जा सकता ? तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि जहाँ व्यक्ति दूसरो के उपकारार्थ स्वय दु ख भी झेलना चाहता है तादृश स्थल मे मुख्य रूप से परकीय सुख अर्थ होने पर भी तदनुकूल रूप मे स्वकीय दु खोपभोग भी अर्थ होता ही है। अत उक्त असगति नही आपादित हो सकती है।

यह पृथिवी, इस सिद्धान्त मे सारे गुणो का आश्रय है। क्योकि यहाँ भूतचैतन्य मान्य होने के कारण ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि भी भूताश्रित ही होते हैं। क्रिया सामान्य और अभाव भी पृथिवी मे आश्रित होते हैं। विषय का परिचय जो इस प्रकार दिया जाता है कि 'उपभोग का साधन है विषय, उसको यहाँ भी मान्यता दी जा सकती है परन्तु

इस विपयता का तो तत्त्वता-स्वरूप वस्तुत्त्व का समव्याप्त मानना है। अभिप्राय यह कि शरीर एव इन्द्रिय भी तो उपभोग के साधन ही है। विपयता को तत्त्वता का अव्यापक यह कह कर कहा जा सकता है कि "वह उपभोग का सावन है विपय, जो कि शरीर और इन्द्रिय इन दो से भिन्न है"। परन्तु उसे अव्यापक वनाने मात्र के लिए उक्त निर्वचन मे शरीर और इन्द्रिय से भिन्नता का निवेश करना उचित नही कहा जा सकता।

चार्वाक-मत और जल—

द्वितीय भूत है जल। जल का परिचय शीतल स्पर्श से मिलता है अत शीतल स्पर्श को जल का लक्षण माना जा सकता है। प्रस्तर[१६६] चन्दन आदि मे उपलभ्यमान शीतलता भी तत्त्वन जल की ही होती है अत अतिव्याप्ति दोप उद्भावित नही हो सकता। गौरीकुण्ड, सीताकुण्ड आदि के जल जो गरम प्रतीत होते है, उस प्रतीति का कारण होने वाली गरमी विभिन्न भौगर्भिक धातु के अन्दर प्रचुर रूप से अवस्थित तेज की ही मान्य है। अत उक्त जल मे शीतलता का अभाव दिखला कर अव्याप्ति की शका नही उपस्थित की जा सकती है। पृथिवी और वायु के समान विधारकता जल मे भी पायी जाती है। इसीलिए जल पर वस्तुएँ उतराती हुई देखी जाती है। सर्वाधिक इसकी सावक युक्ति यह है कि किसी भारी वस्तु को भी जव कोई पकड कर जल के अन्दर एक स्थान से अन्य स्थान को ले जाता है उस समय उसे उतना भार नही प्रतीत होता, उसे ले जाने मे उसे उतना आयास नही करना पडता है जितना जल के वाहर उस भार युक्त वस्तु को ले जाने मे। कुछ लोगो की यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है कि जल के अन्दर वस्तु का भार अर्थात् गुरुत्व घट जाता है। वह वस्तु ही हलकी हो जाती है। क्योकि वाह्य वस्तुओ के ठोस अस्तित्व मानने वालो के मत मे अकस्मात् भारपरिवर्तन कैसे मान्य हो सकता। कुछ लोगो की धारणा इस जलात्मक भूत के सम्वन्ध मे यह है कि यह पृथिवी, तेज और वायु की तरह एक स्वतन्त्र तत्त्व नही है। इसलिए यह भूत कहलाने का अधिकारी नही है। क्योकि भूत का अर्थ है सत्य, फलत मौलिक तत्त्व। परन्तु यह कथन तो तभी मान्य हो मकता, जव कि यह निर्णय हो जाय कि जिन दोनो कणो के सयोग से अमौलिक जल की उत्पत्ति मानी जाती है उन दोनो मे सूक्ष्मजलीय अश विल्कुल रहता नही। खास कर इस चार्वाक-सिद्धान्त में तो चारो भूत अविनाभूत रहते है यह वात वतलायी जा चुकी है। साथ ही इस सम्वन्ध मे एक वात और ध्यान देने

(१६६) घृष्टचन्दनादौ शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्ति-शीततरसलिल स्यैव।

—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली

की यह है कि जो लोग एक ओर जल को तत्त्व नही मानते वे ही उसके विपरीत यह भी कहते पाये जाते है कि एक ही वस्तु विभिन्न तापप्रयुक्त कठिन अर्थात् घनीभूत एव तरल, तथा वाष्प बन जाती है। क्या इससे यह नही सिद्ध होता है कि जल की तरल स्थिति के पूर्व कोई "घन" स्थिति रहती है ? और यदि यह सिद्ध हो जाता है तो इसी से वह बात स्वत कट जाती है कि जल इस दृश्यमान रूप के अतिरिक्त किसी रूप मे भी पहले नही था। यदि यह कहा जाय कि उक्त कथन का तात्पर्य केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि जिस रूप मे तरल जल देखा जाता है उस रूप मे पहले नही रहता। तो इससे वस्तुत जल की स्वतन्त्रतत्त्वता नही खण्डित होती। क्योकि जल ही क्यो, पृथिवी आदि भी तो दृश्यमान स्पष्ट रूप मे पहले नही रहते ? फिर भी यदि पृथिवी, तेज आदि स्वतन्त्र तत्त्व मान्य होते है, तो इस जल का ही ऐसा कौन-सा अपराध है कि यह तत्त्वता से वञ्चित किया जाय ? यदि गम्भीर-भाव से सोचा जाय तो यह मानना ही होगा कि पार्थिव लघुतम कणो मे भी जलीय अश रहता है। क्योकि ऐसा न होने पर उन पार्थिव कणो मे स्निग्धता नही हो सकती। और स्निग्धता के अभाव मे दो पार्थिव कण आपस मे जुटे नही हो सकते। इसलिए यहाँ यह सिद्धान्त स्थापित किया जा चुका है कि, ये चारो भूत अविनाभूत होते है। जल में द्रवत्व सासिद्धिक होता है ऐसा अन्य दार्शनिको ने कहा है, परन्तु यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योकि विभिन्न तापमान प्रयुक्त जमा हुआ जल ताप पाकर तरल बन जाता है। यदि उसका द्रवत्व स्वाभाविक हो, तो तरलता के लिए अपेक्षित होने वाला ताप व्यर्थ हो जाय, जो कि अनुभवविरुद्ध है। यदि जल-द्रवत्वगत-सासिद्धिकतावादी का अभिप्राय यह हो कि जल का प्राथमिक रूप तरल ही है। कृत्रिम उसमे घनीभाव ही हुआ करता है यही आशय है जल मे सासिद्धिक-द्रवत्व मानने का, तो यह कथन भी सपथ निर्णय ही होगा। क्योकि दोनो ही परिस्थितियाँ जब कि प्रत्यक्ष दृष्ट है, तब कैसे यह निर्णय किया जा सकता है कि जल का तरल स्वरूप ही प्रारम्भिक है। और भी एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि इस ससार को अनादि मानना अनिवार्य है। इसीलिए अन्य दार्शनिको ने भी बीजाङ्कुर की अनवस्था को प्रामाणिक बतला कर यह कहा है कि अवान्तर सृष्टि और प्रलय होने पर भी इस ससार की आदि सृष्टि नही मान्य है। ऐसी परिस्थिति मे यह अभिप्राय वर्णन भी सगत नही कहा जा सकता कि सासिद्धिक द्रवत्व मानने का अभिप्राय यह है कि जल का प्रारम्भिक रूप तरल ही है। क्योकि अनादि ससार प्रवाह मान्य हो जाने पर प्रारम्भिकता की चर्चा का भी स्थान कहा रह जाता ?

जल अपनी शीतलता के कारण ताप का शामक है। इसीलिए इसके पीने से प्यास शान्त होती है। क्योकि पूर्वपीत जल सूख जाने के कारण शारीरिक तापगत रूक्षता

ही है प्यास। जल पीने से शरीर आर्द्र हो जाने के कारण वह तापगत अर्थात् शारीरिक तेजगत रूक्षता तिरोहित अर्थात् अननुभूयमान हो जाती है। जल का रूप है अभास्वर शुक्ल। इसमे गन्ध के अतिरिक्त अन्य सभी गुण रहते है। भूत चैतन्य की मान्यता के कारण जल मे भी पृथिवी की तरह ज्ञान आदि रहते ही है। पृथिवी के ही समान जल में भी कर्म सामान्य और अभाव रहते है। सम्भव है यह प्रश्न उठ खडा हो कि यमुनाजल आदि जलो मे जब श्यामता आदि देखी जाती है तब जल का रूप अभास्वर शुक्ल ही कैसे माना जाय ? तो इस सम्बन्ध मे वक्तव्य यह है कि वे दृश्यमान नील आदि रूप पार्थिव कणो के सम्पर्क से प्रतीत होते है। क्योकि पार्थिव कणो के सम्पर्क प्रयुक्त जब जल मे अन्य रूप की प्रतीति होती हुई पायी ही जाती है, तब यमुना जल आदि मे भी ऐसा क्यो नही माना जा सकता ? शरीर इन्द्रिय और विषय इन प्रभेदो मे जल को भी नैयायिको एव वैशेषिको ने विभक्त किया है। परन्तु अव्यवहित पूर्व पृथिवी-विवेचन के अवसर पर कृत-विचार के अनुसार यहाँ भी एतत्सम्बन्धी निर्णय समझ लेना चाहिए।

चार्वाक-मत मे तेज की मान्यता—

पृथिवी और जल के समान तेज भी एक मान्य तत्त्व है। तेज का परिचय उष्ण[१६७] स्पर्श से मिलता है अत उष्ण स्पर्श तेज का लक्षण है। यह तेज सर्वत्र व्याप्त है इसीलिए जिस किसी भी वस्तु के अतिघर्षण से आग प्रगट हो उठती है। यहाँ तक कि जिस जल को आग का विरोधी समझा जाता है वहाँ भी तैजस कण व्याप्त रहते है। इसलिए विद्युत् के उत्पादन के लिए जल की आवश्यकता होती है। बादलो के सघर्ष से बिजली का छिटकना प्रसिद्ध ही है। इस तेज को प्राचीन विवेचको ने भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज इस प्रकार चार प्रभेदो मे विभक्त माना है। आग आदि तेजो को कहा जाता है "भौम"। और जिस तेज के प्रज्वलन मे जल लकडी का काम करता है, अर्थात् आग जिस प्रकार लकडी मे प्रज्वलित होती है उसी प्रकार जो तेज जल से प्रज्वलित होता है वह कहलाता है "दिव्य" जैसे विद्युत् आदि तेज। उदर्य वह तेज कहलाता है जिसे शब्दान्तर मे जठरानल या जठराग्नि कहा जाता है। और तेज का चतुर्थ प्रभेद कहलाता है "आकरज"। आकर कहते है खान को, अत उससे उत्पन्न होने वाला तेज कहलाता है आकरज। स्वर्ण आदि को प्राचीन विवेचको ने आकारज तेज माना है। परवर्त्ती कुछ विवेचको ने सुवर्ण के सम्बन्ध मे यह अपना निर्णय उपस्थित किया है कि वह तेज न होकर पार्थिव है। जिन

(१६७) तेजो रूपस्पर्शवत् ।३। —वैशेषिक दर्शन, अध्याय २ आ० १।
रूप भास्वर स्पर्शश्चोष्ण तद्वत्तेज इत्यर्थ । —वैशेषिकदर्शन उपस्कार।

लोगो ने उसे तेज माना है उन्होने[१६८] तर्क यह उपस्थित किया है कि एक पहर से अधिक प्रबल-अग्नि-सयोग होने पर पार्थिव रूप अवश्य बदल जाया करता है। परन्तु सोने मे यह परिस्थिति नही पायी जाती है। इस प्रकार जब सोना अन्य सभी पार्थिव वस्तुओ के स्वभाव का उल्लघनकारी पाया जाता है तब उसे कैसे पार्थिव माना जा सकता ? जल और वायु उसे कहा ही नही जा सकता। अत अगत्या सोने को तेज मानना ही पडेगा। अन्य कुछ लोगो ने सोने को तेज मनाने के लिए यह तर्क उपस्थित करते है कि घी, तेल आदि पार्थिव वस्तुओ का द्रवत्त्व अर्थात् तरलत्व अत्यन्त-अग्निसयोग प्राप्त होने पर अवश्य नष्ट हो जाया करता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। यदि सोना घृत आदि के समान पार्थिव होता तो अत्यन्त-अग्निसयोग प्राप्त होने पर उक्त घृत आदि के समान उसकी भी तरलता उच्छिन्न होती, नष्ट होती। किन्तु ऐसा होता हुआ पाया जाता नही। अत सोने को पार्थिव नही माना जा सकता। सुतरा उसे तेज ही मानना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि घृत आदि को भी पानी मे डाल कर उसमे ताप देने पर तब तक घृत का द्रवत्व नष्ट नही होता जब तक पानी न जल जाता। अत पानी को वहाँ घृतगत द्रवत्त्व के नाश के प्रति प्रतिबन्धक माना जाता है। तदनुसार यहाँ सुवर्ण स्थल में भी जब कि द्रवत्व का नाश नही देखते हैं तो मानना ही होगा कि उक्त दृष्टान्त-स्थल में जल के समान वहाँ भी द्रवत्व-नाश का प्रतिबन्धक अवश्य किसी को मानना होगा अत सोने के अन्दर द्रवत्व के उच्छेद के प्रति प्रतिबन्धक रूप से कोई विद्यमान होता है। वहाँ विद्यमान प्रतिबन्ध तेज को छोड कर और कोई हो सकता नही। क्योकि प्रतिबन्धक अपने एव अपने आश्रय का विजातीय ही प्राय हुआ करता है। अत उक्त द्रवत्व के उच्छेद का प्रतिबन्धक किसी उसके अन्तर्निहित पार्थिव को नही कहा जा सकत। जल और वायु का प्राधान्य सोने के अन्दर पाया नही जाता, अत उनको उक्त द्रवत्वोच्छेद का प्रतिबन्धक कहा नही जा सकता। ऐसी परिस्थिति मे तदन्तर्गत तेज को ही उक्त प्रतिबन्धक मानना होगा। यदि यहाँ यह कहा जाय कि सोना कही जाने वाली वस्तु के अन्दर जो पीला पार्थिव भाग है उसमें तो द्रवत्त्व होता नही। वह जो पिघला प्रतीत होता है उसका कारण यह होता है कि जल मे मिलाये गये अल्प पार्थिव कण आदि के समान वह पीला स्वर्णस्थ पार्थिव द्रव्य पूर्ण रूप से घुल-मिल जाता है। वस्तुत उसमे द्रवत्त्व होता नही। अत उक्त घृत आदिक-दृष्टान्त वस्तुत यहाँ सगत नही हो पाता। तो उक्त द्रवत्व के

(१६८) सुवर्ण तैजस, अत्यन्ताग्निसयोगेऽप्यनुच्छिद्यमान-द्रवत्वाधिकरणत्वात्, यन्नैव तन्नैव यथा पृथिवीति व्यतिरेकिणा तैजसत्वसिद्धे।

—वैशेषिक-दर्शनोपस्कार, अ० १ आ २ सू० ७ व्याख्या।

स्थान में स्वर्णस्थ-पार्थिव-भागगत पीले रूप को दृष्टान्तरूप में ग्रहण कर लेना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि स्वर्णस्थ-पार्थिव-भाग का पीला रूप जब कि अत्यन्त अग्निसयोग होने पर भी नही बदलता हुआ देखा जाता है, तो अवश्य ही यह मानना होगा कि उस रूप के उच्छेदक के प्रतिबन्धक रूप मे कोई तरल होने वाला द्रव्य उसके अन्दर अवश्य विद्यमान है। किसी पीले कपडे को प्रचुर पानी के अन्दर डाल कर यदि आग पर पकाया जाय तो जब तक पानी नही जलेगा तब तक कपडे का पीला रूप भी नष्ट नही होगा। ऐसी परिस्थिति मे यह मानना ही होगा कि वह जल जिसके अन्दर वह पीला कपडा पकाया जायगा अवश्य पटगत पीत रूप के नाश का प्रतिबन्धक होगा। तदनुसार स्वर्ण के साथ अत्यन्त अग्निसयोग की विद्यमानता स्थल मे स्वर्णगत-पीत-रूप के उच्छेद का प्रतिबन्धक विद्यमान होता है यह मानना ही होगा। उस प्रतिबन्धक को जल या वायु क्यो न कहा जा सकता? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि तरल जल का स्वभाव यह देखा जाता है कि वह अपने सम्पर्क मे आने वाले पार्थिव कणो को जैसे धूल को, उसमे घुस कर स्निग्ध बना डालता है। किन्तु तरल होने मे यह बात नही पायी जाती है। यदि उसे धूल के अन्दर गिराया जाय तो वह धूल को नही लपेट सकता। उसे नही स्निग्ध बना सकता। इसलिए उस प्रतिबन्धक भूत तरल पदार्थ को जल नही कहा जा सकता। वायु इसलिए उसे नही कहा जा सकता कि उसमे तरलता होती नहीं अत अगत्या उसे तेज ही मानना होगा। इस प्रकार प्राचीन-विवेचको ने सोने को तेज सिद्ध किया है। वस्तुस्थिति यह है कि जिसे सोना कहा जाता है वह सम्पूर्ण रूप मे तेज नहीं है। क्योकि इसका साक्षित्व उसमे विद्यमान पीत रूप करता है। पीत रूप पृथिवी को छोड कर अन्यत्र रहता नहीं। किन्तु उसके अन्दर प्रचुर मात्रा मे तेज की विद्यमानता अवश्य मान्य है। अन्यथा उक्त परिस्थितियाँ उपपन्न नही हो सकती। इसी प्रकार अन्य भी ऐसी धातुएँ हो सकती हैं। सुवर्ण आदि के समान आकरज होने पर भी हीरे आदि रत्नो को प्राचीन विवेचको ने पार्थिव ही माना है तेज नही माना है। क्योकि जगह-जगह पर पार्थिवत्व और लोह लेख्यत्व इन दोनो के अन्दर व्यभिचार का प्रदर्शन हीरे मे ही किया गया है। यह कहा गया है कि हजारो पार्थिव द्रव्यो मे यह बात पायी जाती है कि वे लोह-लेख्य होते हैं। अर्थात् उन पर लोहे से रेखा काटी जा सकती है। परन्तु हीरा ही एक ऐसा पार्थिव द्रव्य है जिस पर रेखा लोहे से नही काटी जा सकती, हीरे से वह भले ही काटी जा सके। प्राचीनो के इस कथन से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग सोना आदि धातुओ को जिस प्रकार तेज मानते थे रत्नो को उस प्रकार तेज नही मानते थे। परन्तु उचित यह प्रतीत होता है कि सोने के समान रत्नो को भी फिर तेज मानना चाहिए। अर्थात् उसके अन्दर भी लोहसाधनक रेखाकरण का प्रतिबन्धक-तेज माना जाय। पृथिवी,

जल, तेज और वायु इन चारो के अन्दर तेज और वायु इन दोनो का स्वभाव ऐसा देखा जाता है कि उन पर रेखा नही काटी जा सकती। जल पर रेखा स्थिर भले ही न रहे, किन्तु वह काटी जा पाती है। अत उस प्रतिवन्धक को तेज या वायु इन दोनो के अन्दर ही कुछ मानना होगा। इन दोनो के अन्दर भी उसे वायु मानना इसलिए सगत नही होगा कि किसी दृढ घनीभूत वस्तु के अन्दर प्रचुर प्रभावकारी वायु का अस्तित्व नही माना जा सकता। ऐसी परिस्थिति मे रेखा के प्रतिबन्धक रूप में तेज को ही तदन्तर्गत मानना होगा। सुतरा सुवर्ण आदि की परिस्थिति से हीरो की परिस्थिति मे कोई ऐसी विशेषता नही पायी जा रही है कि सोने को तेज माना जाय और हीरे को पार्थिव। भारतीय साहित्य में रत्नों को द्वीप रूप मे ग्रहण असख्य स्थानो मे किया गया पाया जाता है। वह भी सगत तभी हो सकता, जब कि हीरे को तेज मान लिया जाय। तेज मानने का अर्थ सुवर्ण के समान तेजघटित मानना समझना चाहिए। प्रकाश करना मुख्यतया तेज का ही स्वभाव है। अत रत्नो को प्रकाशक मानने पर उन्हे तेज भी मानना ही होगा। यही परिस्थिति जुगनू आदि प्रकाशक कीटो के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिए। अन्य अधिकतर विचार यहाँ भी पृथिवी-विवेचन के अवसर पर विहित-विचार के अनुसार समझना चाहिए।

चार्वाक-मत और वायु—

चतुर्थ भूत है वायु। इसका लक्षण प्राचीन विवेचको ने इस प्रकार किया है कि अपाकज-अनुष्णाशीत-स्पर्श जिसमे हो वह है वायु। कहने का तात्पर्य यह है कि उष्ण-शीतल और अनुष्णाशीत इस प्रकार स्पर्श के तीन प्रभेद आगे वतलाये जाने वाले हैं उन तीनो स्पर्शों के अन्दर अनुष्णाशीत-स्पर्श पृथिवी और[१६९] वायु इन दोनो मे रहते हैं। किन्तु अन्तर यह होता है कि पृथिवी के अन्दर ही पाकज रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इनकी विद्यमानता के कारण पाकज-स्पर्श वायु मे रहता नही अपाकज ही स्पर्श रहता है अत "अपाकज स्पर्शयुक्त भूत है वायु" यह वायु का निर्वचन सगत होता है, असगत नही। अन्य कुछ विवेचको ने वायु का निर्वचन इस प्रकार वतलाया है कि जो रूप का आश्रय नही होता हुआ स्पर्श युक्त हो उसे वायु समझना चाहिए। रूप पृथिवी, जल और तेज इन तीनो भूतो मे ही रहता है अत वायु मे रूप का अभाव रहता है। और स्पर्श पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारो मे रहता है अत वायु में स्पर्श भी रहता है। इसलिए वायु का यह भी निर्वचन सगत ही होता है। इस वायु मे रूप, रस और

(१६९) अपाकजोऽनुष्णाशीत स्पर्शस्तु पवने मत ॥ ४२ ॥
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेय स्पर्शादिलिंगक ॥ ४३ ॥
—भाषापरिच्छेद, प्रत्यक्ष परिच्छेद

गध इन तीन गुणो को छोड कर अन्य सारे गुण रहते है। बौद्ध-विद्वानो ने इस वायु को भी रूपयुक्त कहा है। परन्तु वहाँ रूप शब्द से आकार-प्रकार विवक्षित है नील, पीत आदि रूप नही। अत उस मत को लेते हुए भी उक्त वायु-निर्वचन मे असगति नही ठहरायी जा सकती। ग्रीष्म ऋतु मे वायु के सपर्क से गरमी का और जाडे के समय उसके सम्पर्क से जाडे का अनुभव होता है सही, परन्तु वह उष्ण और शीतल स्पर्श वायु का न होकर तेज और जल का होता है। अत उस गरमी और सरदी के अनुभव के आधार पर उक्त लक्षण मे असगति नही ठहरायी जा सकती। इस वायु के सम्बन्ध मे कुछ प्राचीन विवेचको का मत यह है कि इसका प्रत्यक्ष होता नही, अनुमान ही होता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षता के लिए जो लोग रूप को अनिवार्य रूप से अपेक्षित ठहराते है उनके मत मे वायु का "त्वक्" इन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता नही। क्योकि वायु मे किसी भी प्रकार का रूप होता नही। परन्तु इसे युक्तिसगत इसलिए नही कहा जा सकता कि इस चार्वाकीय-सिद्धान्त मे मन ही केवल है इन्द्रिय। आँख, कान आदि इन्द्रिय रूप से मान्य नही है। अत यह नही कहा जा सकता कि रूप न होने के कारण वायु का प्रत्यक्ष होता नही। क्योकि मन से होने वाले प्रत्यक्ष के प्रति रूप आदि गुण की अपेक्षा और लोग भी मानते नही। जो नैयायिक एव वैशेषिक लोग वायु के प्रत्यक्ष का विरोध करते है उनके घर मे भी इसके सम्बन्ध मे कलह होता हुआ पाया जाता है। परवर्त्ती नैयायिको एव वैशेषिको ने इस सम्बन्ध मे यह अपना स्पष्ट मत उपस्थित किया है कि वायु का स्पार्शन-प्रत्यक्ष होता है। क्योकि प्रत्यक्ष के लिए रूप की आवश्यकता चाक्षुप प्रत्यक्ष स्थल मे ही अनुभवसिद्ध है, स्पार्शन-प्रत्यक्ष स्थल मे नही। स्पार्शन-प्रत्यक्ष के लिए स्पर्श का ही अस्तित्व, अपेक्षित मान्य है और स्पर्श वायु में है ही। हाँ, एक बात यह अवश्य है कि चाक्षुप-प्रत्यक्ष स्थल मे जैसे रूपगत उद्भव अर्थात् प्राकट्य अपेक्षित होता है वैसे स्पार्शन-प्रत्यक्ष के लिए स्पर्शगत-उद्भू तत्त्व भी अपेक्षित होता है। "वायु का मुझे स्पर्श हो रहा है", "वायु का मै स्पर्श कर रहा हूँ" सुखद वायु चल रही है इत्यादि अनुभव लोगो को होते ही है इसलिए वायु का प्रत्यक्ष न मानना दुराग्रह है। जो लोग वायु का प्रत्यक्ष मानते नही उनका कहना है कि वायु का अनुमान हुआ करता है। वे कहते है कि विलक्षण प्रकार के स्पर्श से, शब्द से, रूई आदि के उडने से और वृक्षशाखा, कपडे आदि के हिलने मे वायु का अनुमान[१७०] होता है। तात्पर्य यह कि अन्य सभी सस्पर्श

(१७०) वायुर्हिशब्दस्पर्शधृतिकम्पैरनुमीयते। विजातीयेन शब्देन विलक्षण-स्पर्शेण तृणादीना धृत्या शाखादीना कम्पनेन च वायोरनुमानात्।

—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली।

द्रव्यो के स्पर्शों से वायु का स्पर्श अवश्य विलक्षण होता है यह बात पहले भी बतायी जा चुकी है। और गुणक भी गुणी के बिना निराधार रह नही सकता। ऐसी परिस्थिति मे अनुभूयमान उक्त स्पर्श का एक अतिरिक्त आश्रय मानना ही होगा। वही उक्त स्पर्श का आश्रय है वायु। वायु के चलते समय तत्प्रयुक्त एक प्रकार का विलक्षण सनसनाहटयुक्त शब्द सुना ही जाता है। शब्द भी गुण ही है अत वह भी गुणी के बिना निराश्रय कैसे रह सकता ? अत उस शब्द का आश्रय एक स्वतन्त्र वस्तु माननी ही होगी। वही स्वतन्त्र रूप से मान्य वस्तु हे वायु। निराधार शून्य में तिनके उडते देखे जाते हैं। धुनी हुई रूई उडती हुई देखी जाती है। जब कि कोई प्राणी प्रयत्नपूर्वक उन तिनके आदि को ऊपर धारण नही कर रखा होता है तब किसी विधारक भूत के बिना उनका पतन हो जाना चाहिए, ऊपर ही नही उडते रहना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नही। अत यह मानना ही होगा कि उन तिनके, रूई आदि का विधारक कोई-न-कोई भूत अवश्य है, यत्कर्तृक विधारण प्रयुक्त वे निरवलम्ब शून्य मे उडते रहते हैं, यह मानना ही होगा। वही विधारक भूत है वायु। आकाश मे उडने वाले विमानो का विधारण भी वायु को मान्यता दिये बिना सगत नही हो सकता, इसलिए भी वायु-भूत की मान्यता अनिवार्य है। किसी सवेग पृथिवी या जल या तेज के अभिघात के बिना भी वृक्ष की शाखा हिलती हुई पायी जाती है। कपडे हिलते हुए पाये जाते हैं। वह शाखा आदि का कम्पन अवश्य किसी-न-किसी स्पर्शवान् और वेगवान् द्रव्य के अभिघात-प्रयुक्त होता है यह मानना ही होगा। वह अभिघाती द्रव्य जब कि वहाँ पृथिवी, जल या तेज प्राप्त नही है तो उन तीनो से अतिरिक्त एक अभिघाती द्रव्य मानना ही होगा। उसी द्रव्य को वायु नाम का नामी अर्थात् वाच्य अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार अनुमान प्रमाण के सहारे वायु के अस्तित्व को वे लोग सिद्ध करते है, जो लोग वायु का प्रत्यक्ष मानते नही। इस चार्वाक-सिद्धान्त मे वायु का भी प्रत्यक्ष मान्य है। वस्तुत वायु तो एक ऐसी सर्व-परिचित वस्तु है कि उसके अस्तित्व के सम्बन्ध मे कोई विप्रतिपत्ति उठायी ही नही जा सकती। क्योकि स्थूल रूप से यही प्राणि-शरीर के जीवन और मरण का सम्पादन करता हुआ प्रतीत होता है। श्वास और प्रश्वास ही मुख्य रूप से होते है प्राण कहलाने के अधिकारी। इसीलिए "प्राण" और "जीवन" ये दोनो शब्द प्राय समान अर्थ मे ही प्रयुक्त पाये जाते हैं। "वह जीता है" इसके समान "वह प्राण धारण करता है" यह भी वाक्य-प्रयोग होता ही है।

उस वायु को आन्तर और बाह्य इन दो प्रभेदो मे कुछ लोग विभक्त मानते हैं। आन्तर वायु को ही "प्राण" शब्द से कहा जाता है। इस प्राणस्वरूप आन्तर-वायु को प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पांच भागो मे विभक्त माना जाता है। सभव है कि यहा यह प्रश्न उठ सकता हो कि जब आभ्यन्तर वायु प्राण शब्द से कही जाती

है तब उसके अवान्तर रूप मे, एक प्रभेद रूप से, उपस्थित होने वाले को फिर प्राण कैसे कहा जा सकता ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि समग्र आभ्यन्तर वायु-वाची प्राण शब्द है यौगिक। क्योकि इस प्राण शब्द का अर्थ होता है प्रकृष्ट रूप से गति-शील। किन्तु अवान्तर, आभ्यन्तर वायु-विशेष का वाचक होने वाला "प्राण" शब्द यौगिक नही, वह एक प्रकार का पारिभाषिक है। कुछ लोगो का कहना है कि हृदय मे अवस्थित[१७१] वायु है प्राण। और अन्य कुछ लोगो का कहना यह है कि "मुँह और नाक इन शरीर-छिद्रो से निर्गमन और प्रवेशन-स्वरूप क्रियाशील वायु है "प्राण"। जो भी कुछ हो इन दोनो परिभाषाओ के अनुसार आभ्यन्तर वायुविशेष को ही प्राण कहा गया है। इस पारिभाषिक प्राण के अतिरिक्त और भी चार आभ्यन्तर वायु माने गये है जिन्हे क्रमश अपान, समान, उदान और व्यान, इन चार नामो से कहा जाता है। मलमूत्र आदि शारीरिक विकारो को अधोमुख भाव से शरीर से बाहर निकाल फेकने वाली वायु है अपान। इस अपान के सम्बन्ध मे तो यहाँ तक कहा गया है कि इसी अपान वायु के प्रभाव से खाये खाद्य और पिये पेय हलक के नीचे जाते है। इस अपान वायु के बिगड जाने के कारण ही मरणासन्न प्राणी के मुँह से औषधि जल आदि बाहर निकल आते हैं, हलक के नीचे नही जा जाते हैं। कुछ अन्य लोगो का इस अपान-वायु के सम्बन्ध मे कहना यह है कि वह नियमत मल-निर्गमन-द्वार मे ही अवस्थित होता है। कही-कही ऐसा भी कहा गया पाया जाता है कि नासिका छिद्र के सहारे उदरवर्त्ती वायु का बाहर निस्सरण है प्राण और बाहरी वायु का शरीर मे आगमन है अपान। इस कथन के अनुसार नाक के छिद्र द्वारा शरीर के अन्दर होने वाले विकार को बाहर निकाल फेकने वाली वायु है प्राण और शुद्ध बाह्य जीवनोपयोगी तत्त्वो को शरीर के अन्दर लाने वाली वायु है अपान। समान वह वायु कहलाती है जो कि—खाये-पिये भक्ष्य और पेयो को पचाती है। अर्थात् परिपाकानुकूल क्रियाशील वायु कहलाती है समान। उदान-वायु वह कहलाती है जो पेट से ऊपर उठती हुई कभी-कभी खायी एव पीयी गयी वस्तुओ को उखेल कर ऊपर कण्ठ तक ले आती है। व्यानवायु उसे कहते हैं जो कि समग्र शरीर मे व्याप्त है और मुख्य रूप से नाडियो का वितनन जिसका प्रधान व्यापार है। फलत शारीरिक सभी रस मल धातु आदि का वह विभाजन, जो कि अङ्गो की पुष्टि के लिए नितान्त अपेक्षित है इस व्यान वायु के ही अधीन है। यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है कि कुछ लोग इन पचप्राणात्मक आध्यात्मिक वायुओ को एक प्रकार स्वतन्त्र भूत नही मानते। उनका कहना है कि शरीर-

(१७१) हृदिप्राणो गुदेऽपान समानो नाभिसस्थित ।
उदान कण्ठदेशे तु व्यान सर्वशरीरग । —तर्कसग्रह-दीपिका ।

स्वरूप पिंजडे के अन्दर समग्र इन्द्रियो का अथवा केवल अन्त करण त्रय का सम्मिलित कम्पन ही है पचप्राण। परन्तु ऐसा कहने वालो को यह तो सोचना चाहिए कि तब तो बाह्य वायु की भी मान्यता इस दृष्टान्त से खतम की जा सकती है। क्योकि वहाँ भी कहा जा सकता है कि अन्य भूतो का सम्मिलित चलन ही है वायु। उससे अतिरिक्त और कुछ नही। कहने का तात्पर्य यह कि एक कोई शरीर भी असख्य शरीरो का एक समुदाय ही होता है यह बात तो स्पष्ट ही है। तभी तो मानव-शरीर एव पशु-शरीरो मे कीटाणुओ का स्पष्ट उद्गम समय-समय पर पाया जाता है ? ऐसी परिस्थिति म इस समग्र एक ब्रह्माण्ड को भी एक शरीर ही मानना उचित होगा जिसकी भी चर्चा पहले की जा चकी है। तदनुसार जिसे बाह्य वायु समझा जाता है वह भी तो आभ्यन्तर ही वायु हो जाती है। क्योकि शरीर रूप से प्रसिद्ध भौतिक-पिण्ड जिस प्रकार प्राणियो का एक समवाय है। यह समग्र एक ब्रह्माण्ड भी प्राणियो का एक समवाय है। ऐसी परिस्थिति में प्रसिद्ध शरीर-दृष्टान्त के अनुसार पूरे ब्रह्माण्ड को भी एक महाशरीर ही मानना उचित है। सुतरा जिसे बाह्य वायु समझा जाता है वह भी फलत विशाल, विराट् शरीर की दृष्टि मे आभ्यन्तर ही वायु है। सम्भवत इसी दृष्टिकोण से समग्र जागतिक वायुओ को समझाने के लिए "जगत्प्राण" इस शब्द का प्रयोग वायु अर्थ में प्रचुर रूप मे किया गया पाया जाता है। अत आध्यात्मिक और अनाध्यात्मिक रूप में वायु का कोई विभाजन ऐसा नही जो कि सार्वदिक रूप से स्वीकरणीय हो।

चार्वाक-मत मे आकाश स्वतन्त्र भूत नही—

यह लोक-प्रसिद्ध है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारो के समान आकाश भी एक स्वतन्त्र भूत है। नैयायिक और वैशेषिक-दार्शनिक लोगो ने इस आकाश नामक वस्तु की सिद्धि इस प्रकार बतलायी है कि शब्द है एक प्रकार का गुण, अत वह किसी-न-किसी गुणी द्रव्य को ही आश्रय करके उत्पन्न हो सकता है और रह सकता है। पृथिवी, जल, तेज और वायु इन्हे शब्द गुण का आश्रय इसलिए नही माना जा सकता कि उक्त स्पर्शवान् चार भूतो के गुण या तो अग्निसयोगात्मक असमवायिकारण से उत्पन्न होते है या कारण-गुण-क्रम से उत्पन्न होने वाले होते है। घडे आदि पार्थिव द्रव्यो मे विलक्षण अग्निसयोग से रूप की उत्पत्ति देखी जाती है। और कपडे आदि अन्य द्रव्यो मे यह देखा जाता है कि उनके अवयवभूत तन्तु आदि मे जैसे रूप रहते है तदनुरूप रूप आदि गुण उत्पन्न होते है एव अवस्थित रहते है। किन्तु यह शब्दात्मक गुण न तो अग्निसयोग से नियमत उत्पन्न होता है और न कारण गुण क्रम से उत्पन्न होता है। ऐसी वस्तुस्थिति को ध्यान देने पर यह मानना ही होगा कि शब्द स्पर्शवान् का अर्थात् पृथिवी, जल,

तेज और वायु इनमें किसी का भी गुण नही है।[१७२] क्योकि पृथिवी, जल, तेज और वायु इनके गुण नियमत या तो अग्नि-सयोगात्मक असमवायिकारण से होते हुए पाये जाते हैं या सजातीय कारण-गुण से यह बात ऊपर बतलायी जा चुकी है। जो जिसके स्वभाव का उल्लघन करता हे वह उसके अन्दर अन्तर्भुक्त नही माना जा सकता, इस नियम के अनुसार जब कि शब्द उक्त स्पर्शवान् भूतचतुष्टयगत-गुण-स्वभाव का उल्लघन करता हुआ पाया जाता है तब कैसे उसे उक्त भूतचतुष्टय के अन्दर किसी का भी गुण माना जाय ? अत शब्द को पृथिवी आदि उक्त चार भूतो का गुण नही माना जा सकता। काल का या दिक् का या मन का ही गुण क्यो न शब्द को मान लिया जाय ? क्योकि ऐसा मान लेने पर शब्द गुण के आश्रय रूप मे आकाश मानने का प्रयोजन नहीं बतलाया जा सकता ? इसके उत्तर मे आकाश को शब्द का आधार मानने वाले उक्त नैयायिक एव वैशेषिक-गण यह कहते हैं कि शब्द है "विशेष गुण" अर्थात् एक-मात्र-इन्द्रिय से ग्राह्य होता हुआ अपने आश्रय को औरो से अलग बतलाने वाला गुण। ऐसे होने वाले रूप, रस आदि अन्य गुण जब कि दिक् काल और मन इनके अन्दर किसी मे भी पाये नही जाते, तब रूप, रस आदि के ही समान एक-इन्द्रिय-मात्र से ग्राह्य होने वाले अर्थात् केवल कान से ही गृहीत होने वाले शब्द गुण को कैसे काल का, या दिक् का अथवा मन का गुण माना जाय ? शब्द आत्मा का विशेष गुण क्यो न माना जाय ? इसके उत्तर मे उक्त दार्शनिको ने यह कहा है कि आत्मा के विशेष गुण होने वाले ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि नियमत बाह्य इन्द्रियो के अन्दर किसी अर्थात् नाक, कान, आँख आदि ज्ञानेन्द्रियो से गृहीत होते नहीं। किन्तु शब्द की यह परिस्थिति नहीं है। वह कान जो कि एक बाह्य ज्ञानेन्द्रिय है उससे गृहीत होता है। इस प्रकार जब कि शब्द आत्मा के गुण होने वाले ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि के स्वभाव का स्पष्ट उल्लघन करता हुआ पाया जाता है तब कैसे उसे आत्मा का गुण माना जा सकता ? अत आकाश को छोड कर अन्य किसी द्रव्य को शब्द, गुण का आश्रय नही कहा जा सकता। और शब्द, गुण निराश्रित भाव से रह नहीं सकता, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है अत शब्द गुण के आश्रय रूप मे फलत गुणी रूप मे आकाश का माना जाना अनिवार्य है। न्याय और वैशेषिक दृष्टिकोण से इस प्रकार आकाश की मान्यता सिद्ध की जाती है। इस आकाश को वे लोग व्यापक भी मानते हैं और नित्य भी।[१७३] साराश यह कि न्याय और वैशेषिक-सिद्धान्त मे आकाश न तो काल से सीमित माना

(१७२) कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्द स्पर्शवतामगुण २५।

—वैशेषिक-दर्शन, अध्याय २ आ १।

(१७३) शब्दलिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च।३०। —वैशेषिकदर्शन, अ १ आ १

२२

जाता है और न दिक् या देश से। हाँ, नयायिक और वैशेषिको की धारा के अन्दर नव्य नैयायिक एव नव्य वैशेषिक रघुनाथ शिरोमणि ने आकाश का पृथक् अस्तित्व नही माना है। उनका कहना है कि व्यापक कोई एक ही हो सकता। अनेक व्यापक नही हो सकते, इसलिए आकाश, काल, दिक् और आत्मा इन द्रव्यो को अलग-अलग न मान कर एक मान लेना ही सगत है। फलत उनके मत मे आकाश की अमान्यता ही पर्यवसित होती है। क्योकि आत्मा को अमान्य कहना तो आत्मघात ही स्वीकार करना होगा। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि एक मात्र व्यापक द्रव्य को मान्यता देकर आकाश को अमान्य ठहराते हुए भी समग्र विभिन्न जीवात्माओ को उक्त नव्य तार्किकशिरोमणि व्यापक मानते हुए भी एक नही, विभिन्न ही मानते है। अस्तु, प्रकृत वक्तव्य यह है कि बहुव्यापकवादी नैयायिको और वैशेषिको के अन्दर भी ऐसा एक व्यक्ति हुआ है जो इस प्रकृत आकाश को मान्य नही कहता। इस आकाश के सम्बन्ध मे योगियो का सिद्धान्त यह है कि आकाश भी पृथिवी, जल, तेज और वायु इन भूतो के समान सावयव है। कहने का तात्पर्य यह कि योग-सिद्धान्त मे पार्थिव परमाणु द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि के समान आकाशीय भी परमाणु द्वयणुक, त्र्यणुक आदि होते है और तदनुरूप क्रम से महापृथिवी,, महाजल आदि के समान ही महान् आकाश भी सृष्ट होता है।

बौद्ध विवेचको ने ऐसा नही माना है। उनका कहना है कि आकाश कोई भावात्मक तत्त्व नही है। अत उसे एक प्रकार अभाव ही माना जा सकता है। इसी अभिप्राय से वे बौद्ध दार्शनिक जिन्होने क्षणिक-विज्ञानधारा के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओ का अस्तित्व माना भी है आकाश को भावात्मक धातु न कह कर "छिद्र" कहा है।[१७४] जिसका सरल अर्थ अभाव के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। इसीलिए उन लोगो ने यह भी कहा है कि आकाश और द्विविध निरोध अर्थात् प्रतिसख्या-निरोध एव अप्रति-सख्या निरोध ये तीनो असस्कृत माने जाते है अर्थात् इनका कोई कारण नही होता। फलत ये स्वाभाविक मान्य है। उन लोगो ने आकाश के स्वरूप को और विशद करते हुए यह कहा है कि उक्त त्रिविध असस्कृतो के अन्दर आकाश "अनावरण" है। अर्थात् न वह अन्य किसी से आवृत होता है और न किसी को वह अपने द्वारा आवृत ही करता है। किन्तु बौद्धो के अन्दर कुछ लोगो ने आकाश को एक प्रकार धातु भी माना है। कुछ लोगो का कहना है कि यह आकाश आलोक अर्थात् प्रकाश और तम अर्थात् अन्धेरा है।

(१७४) छिद्रमाकाशधात्वाख्य आलोकतमसी किल। —अभिधर्मकोश.।
छिद्र शून्यम्। आकाश आकाश-धातुरेव। एके आचार्या तदेव आलोक तमश्चेति वदन्ति। —अभिधर्मकोशटीका, राहुल साकृत्यायन।

प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इस आकाश की ओर दृक्पात करने पर प्रतीत यह होता है कि "भूतवैरल्य" अर्थात् भौतिक कणो की विरलता के अतिरिक्त आकाश को और कुछ नही माना जा सकता। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ भौतिक कणो का घनीभाव होता है वहाँ आकाश की प्रतीति नही होती। इससे यह तो स्पष्ट है कि आकाश भौतिक घनीभाव के विपरीत और कुछ नही है। विवेचन करने पर उसके विपरीत दो वस्तुएँ दृष्टिपथ पर अवतरित होती है, एक भौतिक कणो का अभाव और द्वितीय उनका वैरल्य, अर्थात् विरलता। इन दोनो के अन्दर अभाव रूप मे आकाश को मान्य ठहराना जैसा कि अधिकतर बौद्ध विद्वानो का मत है, अधिक उचित इसलिए प्रतीत नही होता कि सूक्ष्म भौतिक कणो का अभाव कही भी मानना कठिन है। इसी दृष्टिकोण को अपना कर यहाँ महासमवायात्मक एक अद्वैत भूत की तात्त्विक सत्ता पहले बतलायी गयी है। तदनुसार भूतवैरल्य ही आकाश को मानना उचित प्रतीत होता है। अत चार्वाक सिद्धान्त मे आकाश को भौतिक कणो की विरलता ही मानना चाहिए। किन्तु कुछ लौकायतिक भी आकाश को भूतात्मक मानते थे इसका भी पता चलता है। साराश यह कि इस दृश्य जगत् को चातुर्भौतिक ही न मान कर पाञ्चभौतिक कुछ चार्वाक विवेचक लोग भी मानते थे। तदनुसार कुछ चार्वाको का सिद्धान्त प्रकृत आकाश के सम्बन्ध मे उक्त योगियो के सिद्धान्त के साथ ऐक्य स्थापित करता हुआ पाया जाता है। साराश यह कि यहाँ भी महापृथिवी, महाजल आदि के समान महाकाश भी एक अवयवी है आकाशीय कणो के घनीभाव से इसका निर्माण होता है। इस मत मे न्याय वैशेपिक सिद्धान्त की तरह फिर इसे शब्द का आश्रय भी माना जा सकता है। परन्तु वास्तविक चार्वाकीय-दृष्टिकोण के समक्ष इसे एकदेशीय मत ही कहा जायगा। क्योकि अधिकतर विवेचको ने चार्वाक मत को भूत चतुष्टयवादी ही माना है। अत वस्तुत इस सिद्धान्त मे आकाश को स्वतन्त्र रूप मे मान्यता नही है।

चार्वाक-मत मे काल भी स्वतन्त्र रूप से मान्य नहीं——

नैयायिक एव वैशेषिक दार्शनिको ने पृथिवी आदि की तरह काल को भूत तो नही किन्तु एक स्वतन्त्र द्रव्य अवश्य माना है।[१७५] उनका कहना यह है कि काल समग्र जन्य वस्तुओ का उत्पादक है और क्या नित्य एव क्या अनित्य सभी वस्तुओ का आश्रय है। उनका अनुभव यह है कि कोई भी वस्तु किसी-न-किसी समय मे ही उत्पन्न होती है। तभी तो प्रामाणिक लोग इस प्रकार उस वस्तु की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे समझते एव

(१७५) काल परापर-व्यतिकर-यौगपद्यायौगपद्य-चिरक्षिप्रप्रत्यय-लिग।
—प्रशस्तपाद-भाष्य।

कहते पाये जाते है कि "यह अमुक दिन उत्पन्न हुआ", "यह उन दिनो नही उत्पन्न हुआ था" इत्यादि। इतना ही नही, ये दार्शनिक यह भी कहते है कि इस काल को न मानने पर प्राकृतिक परिवर्त्तन का और कोई हेतु नही बतलाया जा सकता। अविकसित प्राणियो के आचरणो मे एतत्प्रयुक्त महान् अन्तर होता हुआ देखा जाता है। काल को न मानने पर उस आचरणगत अन्तर का नियामक और किसे कहा जा सकता ? अत काल नामक द्रव्य अवश्य मान्य है। इस प्रकार काल का अस्तित्व प्रतिपादन करते हुए भी लाघव के लोभ से वे कहते है कि काल एक है और व्यापक है। इसका कारण एक यह भी है कि यदि वे काल को एक न मान कर अनेक माने तो उसकी अनेकता के लिए सीमा निर्धारक-रूप मे, अवच्छेदक रूप मे फिर कालान्तर का भी अस्तित्व मानना पडेगा। जिसका कुफल यह होगा कि अनवस्था अनिवार्य हो उठेगी। इसी प्रकार यदि काल को देशत व्यापक अर्थात् अपरिच्छिन्न न माना जाय तो सर्वत्र उत्पन्न होने वाले कार्यों के उत्पाद रूप मे उसे मान्य होने के कारण ब्रह्माण्ड के विभिन्न स्थानो मे विभिन्न कार्यों के उत्पादक कैसे हो पायेगे ? क्योकि कारण के बिना तो कार्य होता नही। यदि समसामयिक विभिन्न कालो को विभिन्न देशस्थित मान कर उनसे विभिन्न सार्वत्रिक कार्यो का उत्पाद माना जाय तो फिर उस पर प्रश्न यह उपस्थित होगा कि वे विभिन्न देशस्थित विभिन्न काय-निर्वाहक विभिन्न-काल कालत परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न ? अर्थात् नित्य होगे या अनित्य ? यदि यह कहा जाय कि नित्य होगे तो सार्वदिक होने के कारण सर्वदा उस कार्य को होना पडेगा, जैसा कि होता नही। और यदि असार्वदिक अर्थात् कालपरिच्छिन्न माना जाय तो उन अव्यापक असख्य कालो के अवच्छेदक रूप अन्य असख्य कालो की मान्यता दुर्वाद हो उठेगी और कालो के अवच्छेदक रूप मे मान्य उन नवीन असख्य कालो के सबध मे भी इसी प्रकार विचार करने पर उनके भी अवच्छेदक भूत असख्य काल मान्य होगे, जिसका कुफल रूप में वही अनवस्था फिर आपन्न हो उठेगी जो ऊपर बतलायी जा चुकी है। इन सारी बातो की ओर ध्यान देकर इस पचडे से छुटकारा पाने के लिए नैयायिको एव वैशेषिको ने काल को देशत एव कालत भी अपरिच्छिन्न माना। देशत अपरिच्छिन्नता ही है व्यापकता और कालत अपरिच्छिन्नता ही नित्यता। अत काल व्यापक और नित्य उक्त सिद्धान्त मे माना जाता है। परन्तु इस प्रकार काल को नित्य एव व्यापक मान लेने पर दूसरी समस्या यह उठ खडी होती है कि फिर वह कार्य की कादाचित्कता का नियमन कैसे कर पायेगा ? और उसे न कर पाने पर काल की मान्यता ही खतरे मे पड जायेगी। इसलिए उक्त दार्शनिको ने इस काल के सम्बन्ध मे यह निर्णय प्रकाशित किया कि काल स्वत एक एव व्यापक है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है परन्तु औपाधिक रूप मे अर्थात् अन्य सीमित वस्तुओ के द्वारा सीमित रूप मे काल की विभिन्नता

उन काल-भेदको को ही क्यो न काल का स्थान दे दिया जाय ? जब कि काल को मान्यता देने के अनन्तर भी उन कालोपाधियो को, उन काल-भेदको को, अपनाना ही पडता है तब क्यो न उन्हे ही काल का स्थान देकर काल की स्वतन्त्र मान्यता से प्राप्त होने वाले व्यर्थ गौरव दोष से छुटकारा पाया जाय ? अत काल का स्वतन्त्र अस्तित्व नही माना जा सकता है। योगाचार्य पतजलि ने अपने योगदर्शन के विभिन्न सूत्रो मे काल का उल्लेख किया है। जिससे आपातत यह प्रतीत होता है कि योगदर्शन काल को मान्यता देता है। परन्तु समाधि और उसकी प्राप्ति के लिए अपेक्षित उपायो का अनुष्ठान, इनके अतिरिक्त तत्त्व एव उनके स्वभावो के सम्बन्ध मे योगसिद्धान्तकर्तृक साङ्ख्यसिद्धान्त के अनुगमन की ओर ध्यान देने पर यह मानना ही होगा कि योगसिद्धान्त भी न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त की तरह एक व्यापक नित्य काल को नही मान्यता देता। मान्यता दे भी सके भला कैसे ? क्योकि नित्य व्यापक काल को मान्यता देने पर साख्य और योग दोनो का आत्मा से अतिरिक्त समग्र वस्तुओ के लिए मान्य क्षण-परिणमन सिद्धान्त इस महाकाल के बलि-वेदी पर ही बलि का बकरा बन बैठेगा। अत गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर योगदार्शनिक सिद्धान्त मे भी नित्य एक काल मान्य नही है।

जैन सिद्धान्त मे इस काल की एक स्वतन्त्र द्रव्यरूपता मे विवाद पाया जाता है। कुछ जैन लोग काल को नैयायिक और वैशेषिको की तरह स्वतन्त्र द्रव्य मानते है और कुछ लोग वैसा मानते नही। साराश यह कि इस काल की द्रव्यता आदि के सम्बन्ध मे कुछ जैन आचार्य नैयायिक और वैशेषिक दृष्टिकोण से प्रभावित हुए पाये जाते है और कुछ लोग साङ्ख्य आदि के कालसम्बन्धी दृष्टिकोण से। और ऐसा न होने पर भी तो वे अपने अनेकान्तवादी-दृष्टिकोण को नही छोड सकते। अत एकान्तत काल की सत्ता व्यापकता और नित्यता को कैसे वे अपना सकते ?

कर्ममीमासा-दर्शन किन्तु न्याय और वैशेषिको की तरह काल को भी पृथिवी, जल आदि की तरह एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है। इतना ही नही, मीमासको ने इस कालद्रव्य का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भी माना है। और इन्ही के प्रभाव मे आकर कुछ परवर्ती नव्य नैयायिको ने भी काल का प्रत्यक्ष स्वीकार किया।

ब्रह्माद्वैत-वेदान्तियो के यहाँ तो आत्मस्वरूप नित्य शुद्ध बोधस्वरूप ब्रह्म को छोड कर और किसी को पारमार्थिक रूप मे मान्यता है ही नही, फिर नित्य व्यापक काल द्रव्य कैसे मान्य ठहराया जा सकता ? अत वेदान्त-सिद्धान्त मे भी काल तात्त्विक रूप मे मान्य नही है। इस प्रकार दार्शनिको के कालसम्बन्धी निर्णयो की ओर दृक्पात करने पर अधिकतर दार्शनिक काल के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता के विरुद्ध ही अवस्थित पाये जाते है। अतएव चार्वाक-सिद्धान्त का भी उक्त कालविरोधी दार्शनिको के "ना" मे "ना" मिलाने

वाला ही समझना चाहिए। क्योकि मुख्य रूप से काल का अस्तित्व मान्य इसलिए प्रतीत होता है कि प्राकृतिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से होता हुआ पाया जाता है, जिसे शब्दान्तर मे ऋतु-परिवर्तन भी कहा जा सकता है। परन्तु यह ऋतु-परिवर्त्तन मुख्यतया भौतिक कणो की यात्रागत अल्पता एव अधिकता, फलत विभिन्न जातीय भौतिक कणो की प्रचुर एव अप्रचुर रूप से क्रियाशीलता मात्र है उससे अतिरिक्त और कुछ नही, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। अत इस युक्ति के आधार पर अलग तत्त्व रूप से या द्रव्य रूप से काल का अस्तित्व नही माना जा सकता।

कुछ लोग काल के सम्बन्ध मे अपनी ऐसी धारणा व्यक्त करते पाये जाते है कि जब शरीर के बाहर कोई भौतिक-घटना घटती रहती है, तभी जीवित शरीर के भीतर मानस क्रिया भी होती रहती है इसीलिए काल का व्यवहार होता है। वस्तुत काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है। यद्यपि तर्क की कसौटी पर कसने पर इस प्रकार किया जाने वाला काल का खण्डन सही नही जँचता, फिर भी जहाँ तक काल की अमान्यता की बात है वहाँ तक चार्वाक-सिद्धान्त के लिए उक्त धारणा भी सहायक ही है।

आचार्य गौड-पाद ने अपनी माण्डूक्यकारिका के अन्दर यह कहा है कि कुछ लोग काल को जगत् का[१७८] उपादान कारण मानते है, तदनुसार अति प्राचीन काल मे कुछ लोग कालमात्र-तत्त्वतावादी भी थे यह पता चलता है। भाष्य-व्याख्याता आनन्द-गिरि ने इस मतवाद को प्राचीन गणितज्ञो का मतवाद कहा है। इस चार्वाक-सिद्धान्त मे काल को स्वतन्त्ररूप से मान्यता नही है यह बात बतलायी जा चुकी है।

चार्वाक-सिद्धान्त मे दिक् भी स्वतन्त्र द्रव्य नही—

मीमासक तथा नैयायिक आदि दार्शनिक दिक् को भी एक स्वतन्त्र द्रव्य रूप मे मान्यता देते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि प्रमाप्रतीति और प्रामाणिक वाक्य प्रयोगात्मक व्यवहार के आधार पर ही तो वस्तुतत्त्व की स्वीकृति आधारित है ? अत दिक को भी स्वतन्त्र द्रव्य रूप मे मान्यता देनी चाहिए। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि का ज्ञान एव तदनुरूप वाक्य-प्रयोगात्मक व्यवहार जब कि आपामर-साधारण रूप से होता हुआ पाया जाता है तब दिक् को मान्यता कैसे नही दी जायेगी ? देश, स्वदेश, देशप्रेम, देशनिष्ठा, विदेश, इत्यादि शब्द प्रचुर रूप मे प्राय सभी लोगो के द्वारा प्रयुक्त पाये जाते है। दिक् और

(१७८) काल इतिकालविद १२४। —माण्डूक्यकारिका,वैतथ्यप्रकरण।

(१७८) प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। —तर्कसग्रह।

पूर्वापरादि-दश-प्रत्यया सन्ति लिंग तत्कथ लिंगाभाव ?

—न्यायलीलावती।

देश ये दोनो शब्द और दोनो के वाच्य अर्थ आपस मे अत्यन्त घनिष्ठता रखते है। अत दिक द्रव्य को अमान्य नही ठहराया जा सकता। इस दिक् द्रव्य की मान्यता के सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने की बात है कि कोई वस्तु किसी वस्तु से दूर एव किसी वस्तु से निकट अवश्य होती है। ऐसा यदि माना जाय तो दूरी पर अवस्थित वस्तु को पाने के लिए अधिक आयास और निकटवर्त्ती वस्तु को पाने के लिए अल्प आयास की जो अपेक्षा पायी जाती है यह परिस्थितिगत अन्तर न हो पाये। दूरत्व और निकटत्व की व्यवस्था "दिक्" द्रव्य को माने बिना इसलिए सम्भव नही कि किसके आधार पर किसी वस्तु को दूर और उससे अन्य किसी वस्तु को निकट कहा जा सकेगा? दिक् द्रव्य की मान्यता-पक्ष मे वस्तुगत दूरत्व और निकटत्व की व्यवस्था इसलिए सरल हो जाती है कि प्रमाता व्यक्ति और दूरस्थ रूप मे प्रतीयमान वस्तु इन दोनो से सीमित "दिग्" द्रव्य, और उक्त प्रमाता व्यक्ति तथा निकटवर्ती रूप म प्रतीयमान वस्तु इन दोनो से सीमित "दिक्" द्रव्य की इयत्ता, फलत दीर्घता, अन्य होती है, विभिन्न प्रकार होती है। अत दिक्गत इयत्ता के आधार पर वस्तु की दूरता या निकटता निर्धारित हो सकती है अत दिक् द्रव्य को मान्यता अवश्य देनी चाहिए। कुछ मीमासक तो शब्द के ग्राहक कान को भी सीमित दिक्-द्रव्यस्वरूप ही मानते है। अत दिक् को न मानने पर उनके मत मे "कान" का ही अस्तित्व लुप्त हो जायगा। जिसका कुफल यह होगा कि शब्द का सुनना ही बन्द हो जायगा। क्योकि कान का होना और न होना यही तो बहिरे और अबहिरे इन दोनो को आपस मे अलग करता है? दिक् की अमान्यता मे कान की अमान्यता आवश्यक हो उठने पर फिर कैसे शब्दश्रवण और उसके अश्रवण की व्यवस्था की जायगी? अत दिक् द्रव्य अवश्य मान्य है।

परन्तु साख्य[१७८] आदि भेदवादी और वेदान्त आदि अद्वैतवादी दोनो प्रकार दार्शनिक, तात्त्विक रूप मे दिक् को एक स्वतन्त्र द्रव्य नही मानते। उनका अभिप्राय यह है कि दूरत्व और निकटत्व की प्रतीति का सम्पादन उन दोनो वस्तुओ की प्राप्ति के लिए अपेक्षित होने वाली गति की सख्या के आधार पर भलीभाँति किया जा सकता है। जैसे लखनऊ मे विद्यमान व्यक्ति कलकत्ता को काशी से दूर और काशी को कलकत्ता मे निकट इसलिए भलीभाँति कह सकता है कि उसे कलकत्ते पहुँचने के लिए जितनी गतिस्वरूप क्रिया अपेक्षित होगी उतनी गत्यात्मक क्रिया काशी पहुँचने के लिए अपेक्षित नही होगी। अत दोनो स्थानो की प्राप्ति के लिए अपेक्षित होने वाली क्रियाओ की सख्या मे अन्तर मानना ही होगा।

(१७८) प्रकृतेर्महास्ततोऽहकार तस्मादगणश्च षोडशक।
तस्मादपि षोडषकात् पञ्चभ्य पञ्च भूतानि। २३।
—ईश्वरकृष्ण, साख्यकारिका।

और ऐसा होने पर क्यो न गतिगत सख्या को ही दूरत्व एव निकटत्व मान लिया जाय ? क्यो अतिरिक्त दिक् द्रव्य माना जाय ?

सम्भव है यहाँ कुछ लोग इस कथन की मान्यता मे यह कठिनाई बतलावे कि गति की अपेक्षा तो स्थलविशेष मे उक्त परिस्थिति के विपरीत भी पायी जाती है अत दूरत्व और निकटत्व को गतिगत सख्या नही कहा जा सकता। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझना चाहिए कि मार्ग के बीच जहाँ पर कोई गड्ढा आदि बाधक प्राप्त होता है वहाँ गन्तव्य निकटवर्ती स्थान को प्राप्त करने के लिए अन्य दूरवर्ती स्थान को प्राप्त करने मे अपेक्षित गति से कही अधिक-सख्यक गति अपेक्षित होती पायी जाती है। इसका अनुभव अधिकतर बडी नदी और पर्वत के किनारे होने वाले मार्ग से गुजरने वाले यात्रियो को हुआ करता है। अत दूरत्व और निकटत्व के सम्पादक रूप मे "दिक्" को स्वतन्त्र द्रव्य रूप मे मान्यता देनी चाहिए। परन्तु यह कथन इसलिए सगत नही कहा जा सकता कि वहाँ भी गति के आधिक्य प्रयुक्त ही दूरत्व और उसके अल्पत्व प्रयुक्त नैकट्य मानना उचित है। आँख से निकट प्रतीत होने वाले को निकट मानना बुद्धिमत्ता नही कही जा सकती। उदयशील चन्द्र और सूर्य देखने मे यही प्रतीत होता कि वह निकटवर्ती किसी वृक्ष आदि के पास ही उदित हो रहा है परन्तु उसकी दूरी कितनी होती है सो उसके विवेचको से अपरिचित नही। अत गति-गत सख्या की अधिकता और न्यूनता के आधार पर ही जब दूरत्व और निकटत्व की व्यवस्था हो सकती है, तब तदर्थ स्वतन्त्र दिक् द्रव्य की मान्यता नही कही जा सकती है। वैशेषिक लोग यदि इस सम्बन्ध मे यह दलील उपस्थित करे कि प्रत्येक भाव कार्य के प्रति तीन तरह के कारण अपेक्षित हुआ करते है समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण। तदनुसार दैशिक परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति के लिए भी उक्त तीनो कारणो की अपेक्षा अनिवार्य होगी। समवायिकारण तो वह अव्यापक द्रव्य होगा जिसमे परत्व या अपरत्व नामक गुण उत्पन्न होगा। निमित्तकारण भी काल अदृष्ट ईश्वर, ईश्वरेच्छा इत्यादि हो जायेगे परन्तु असमवायिकारण "दिक्पिण्ड सयोग" अर्थात् दिशा के साथ होने वाला उस परत्वाश्रय या अपरत्वाश्रय का सयोग ही हो सकता है और कोई नही। ऐसी परिस्थिति मे यदि दिक् द्रव्य न माना जाय तो उक्त गुणोत्पत्ति के लिए असमावायी कारण नही जुटाया जा पायेगा अत दिक् द्रव्य मानना चाहिए। तो यह उनका कथन इसलिए सगत नही हो सकता कि गुण-विवेचन के अवसर यह विचार करके दिखलाया जायगा कि परत्व और अपरत्व ये गुण रूप मे मान्य नही है। और साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि यहा गुण और गुणी ये दोनो अलग मान्य नही है। इसलिए भी यह नही कहा जा सकता कि अव्यापक द्रव्य मे परत्व एव अपरत्व गुण की उत्पत्ति के लिए असमवायी-कारण के रूप मे दिक्पिण्ड-सयोग की अपेक्षा मान्य होने के कारण दिक की मान्यता भी अनिवार्य है।

नवम-प्रकरण

चार्वाकीय-दृष्टि में गुण स्वतन्त्र तत्त्व नही

नैयायिक एव वैशेषिक लोग गुण को गुणी से अत्यन्त भिन्न मानते है। उनका इस सम्बन्ध मे दृष्टिकोण यह है कि धर्मधर्मिभाव नियमत भेदाश्रित होता है। क्योकि दोनो की विशिष्ट-भाव से की जाने वाली प्रतीति मे धर्म जहाँ विशेषण रूप से विषय होता है धर्मी वहाँ उसके विपरीत विशेष्य रूप मे विषय होता है। और यदि उक्त प्रातीतिक परिस्थिति के विपरीत रूप से प्रतीति की जाय तो धर्म हो जाता है विशेष्य और धर्मी हो जाता है विशेषण। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि यदि "यह फूल लाल है" इस प्रकार प्रतीति की जाती है तो फूल होता है विशेष्य और लाल रूप होता है विशेपण। और यदि उक्त प्रतीति के स्थान मे ऐसी प्रतीति की जाय कि—"फूल मे लाली है" तो पूर्व प्रदर्शित प्रतीति मे विशेषण रूप से विषय होने वाला लाल रूप हो जाता है विशेष्य और पूर्व प्रतीति मे विशेष्य रूप से विषय होने वाला फूल होता है विशेपण। जो भी कोई प्रतीति क्यो न की जाय विशेष्य और विशेपण इन दोनो मे भेद होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। तदनुसार उक्त रूप से विशेष्य-विशेपण-भावापन्न गुण और गुणी इन दोनो को आपस मे भिन्न मानना नितान्त आवश्यक है।

चार्वाकीय-दृष्टिकोण से नैयायिको के इस कथन का आदर करना इसलिए अत्यन्त कठिन है कि ऐसा मान लेने पर यह चार्वाकीय तत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त असगत हो उठेगा कि महासमवायात्मक एकीभूत चतुर्भूतात्मक अद्वैत भूत ही केवल तत्त्व है। उससे अतिरिक्त और कोई तत्त्व नही है। नैयायिको एव वैशेपिको की प्रदर्शित युक्ति के अनुसार यदि गुणी उक्त भूतो से अतिरिक्त उनमे रहने वाले गुण मान लिये जाते है तो उक्त अद्वैत भूत मात्र का तत्त्वताख्यापन किसी भी प्रकार सगत नही कहला पायेगा। ऐसी परिस्थिति मे नैयायिको एव वैशेपिको की प्रदर्शित गुणभेद-साधक युक्ति कैसे टाली जाय ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। तो इसके उत्तर मे वक्तव्य यह है कि विशेष्य-विशेपणभाव विशेष्य और विशेपण इन दोनो के बीच भेद माने बिना हो नही सकता यह धारणा गलत है। क्योकि 'लाल फूल है' इत्यादि वाक्य प्रयोगस्थल मे नैयायिक एव वैशेपिक लोग एतादृश वाक्य से होने वाले बोध के अन्दर "लाल" इस शब्द के वाच्य अथवा लक्ष्य अर्थ "लाल रूप युक्त" का तादात्म्य सम्बन्ध से विशेषण और फूल को विशेष्य मानते है। तादात्म्य और भेद

ये दोनो अत्यन्त विरुद्ध है। अत "लाल-रूप-युक्त" और फूल इन दोनो के बीच तादात्म्य मान्य होने पर भेद किसी प्रकार नही माना जा सकता। परन्तु तादात्म्य से विशेष्य-विशेषणभाव उन दोनो के बीच माना जाता है। अत ऐसी परिस्थिति मे यह कह कर गुण और गुणी इन दोनो के बीच भेद की खाई इसलिए उपस्थित नही की जा सकती कि उन दोनो मे विद्यमान विशेषण-विशेष्य भाव को विषय करने वाली प्रतीति होती है। कहने का साराश यह कि अभेद के दो प्रभेद मान्य है एक तादात्म्य और दूसरा समवाय। इन दोनो अभेदो के अन्दर गुण और गुणी के बीच तादात्म्यस्वरूप अभेद की मान्यता के सम्बन्ध मे विप्रतिपत्ति होने पर भी समवायात्मक अभेद मानने मे कोई कठिनता प्रतीत होती नही।

यहाँ यदि यह जिज्ञासा उदित हो कि अभेद के उक्त दो प्रभेदो के अन्दर अन्तर क्या होता है ? तो इस सम्बन्ध मे ज्ञातव्य यह है कि जहाँ पृथक्करण और पृथक् प्रतीति दोनो ही न हो वहाँ मान्य होता है तादात्म्य-स्वरूप अभेद और जहाँ पृथक् प्रतीति तो होती है कि तु केवल पृथक्करण सम्भव नही हो सकता वहाँ होता है समवायात्मक अभेद। कोई भी वस्तु स्वत अपने से अलग न तो की जा सकती है और न अलग समझी जा सकती है अत अपने मे अपना तादात्म्य मान्य होता है और अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि स्थल मे पृथक्करण तो सम्भव होता नही, केवल पृथक् प्रतीति हो पाती है अत अवयव और अवयवी इनके बीच, और इसी प्रकार गुण और गुणी इनके बीच समवायात्मक अभेद होता है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि किसी एक फूल का तादात्म्य उसी फूल से हो सकता है अन्य से नही, यहाँ तक कि उस समवायात्मक फूल के सदस्यभूत उसके किसी रूप या रस आदि मात्र के साथ नही। इस प्रकार उस फूल के रूप का तादात्म्य उसी फूल के उसी रूप से हो सकता है अन्य से नही। यहाँ तक कि समवायात्मक उस पूरे फूल से या उस समवाय के अन्य सदस्यभूत रस आदि से भी नही होता। किन्तु समवायात्मक अभेद की परिस्थिति ऐसी नही होती। क्योकि पूरा फूल तत्त्वत एक समवाय रूप ही होता है जिसका दिग्दर्शन "महासमवाय" के विचारावसर पर कराया जा चुका है। अत परिवर्तनशील रूप, रस आदि गुण और गुणी पार्थिव आदि भूत इनके बीच भी समवायात्मक अभेद-सम्बन्ध होता है। सम्भव है कि यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करे कि जब कि फूल एक समवाय है और उसके एक समवायी मौलिक भूतात्मक पार्थिव तत्त्व और रूप, रस आदि गुण इन दोनो के बीच समवायात्मक अभेद मान्य होता है, तो भूत और गुण इन दोनो के बीच जिस प्रकार समवायात्मक सम्बन्ध मान्य होता है उस प्रकार फूल के रूप और उसके रस आदि के बीच भी पारस्परिक रूप मे समवायस्वरूप अभेद सम्बन्ध मान्य होना चाहिए। क्योकि एक ही पुष्प-समवाय के सदस्य जिस प्रकार मौलिक भूत और उसका रूप ये दोनो है उसी प्रकार फूल के रूप, रस आदि सभी, उसी पुष्पात्मक समवाय के

समवायी अर्थात् अलग-अलग सदस्य होते हैं ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि एक फल मे प्रतीयमान रूप, रस आदि का समवाय सचमुच उक्त प्रक्रिया से एक ही होता है अत एक समवाय के समवायी होने वाले रूप, रस आदि के अन्दर भी समवायात्मक अभेद होता ही है। केवल भूतात्मक समवायी की मौलिकता के व्यवतीकरणार्थ उक्त प्रकार रूप रस आदि के सम्बन्ध रूप मे अवस्थित समवायात्मक अभेद को "एकार्थ-समवाय" नाम से कह दिया जाता है।

अभेद के द्वैविध्य प्रतिपादन के समय इसी विचार के अन्दर यह कहा गया है कि जहाँ पृथक्करण और पृथक्-प्रतीति ये दोनो ही नही होते, वहाँ तादात्म्यस्वरूप अभेद मान्य होता है। इस सम्बन्ध मे यदि कोई यह आशङ्का उपस्थित करे कि आँख की परिस्थिति-विशेष मे एक वस्तु भी दो दिखाई देती है। एक चन्द्र को भी चाक्षुष परिस्थिति-विशेष मे दो, कदाचित् कोई देखता ही है। ऐसी परिस्थिति मे चन्द्र भी चन्द्रात्मा न हो पायेगा, चन्द्र मे भी चन्द्र का तादात्म्य नही कहा जा पायेगा। अत उक्त कथन कैसे सगत कहा जा सकता ? तो इस शङ्का का निराकरण इस प्रकार करना चाहिए कि उक्त कथन के अन्दर आने वाले "पृथक्-प्रतीति" इस शब्द के अन्दर आने वाले "पतीति" शब्द से प्रमात्मक पतीति ही विवक्षित है अन्य नही। द्विचन्द्र दर्शन आदि तात्त्विक ज्ञान नही होते नियमत भ्रमात्मक ही होते हैं। अत उन प्रतीतियो के आधार पर उक्त शका नही उठायी जा सकती। इसके अनन्तर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि प्रत्येक वस्तु जब कि एक-एक समवाय स्वरूप ही मान्य है तब उस समवाय के अन्दर विपरीत रूप से "गुणगुणी भाव" क्यो न माना जा सकता ? कहने का तात्पर्य यह कि उक्त-पद्धति के अनुसार जब कि भूत और उनके रूप, रस आदि सभी समवायी है तब रूप, रस आदि को ही क्यो न मौलिक तत्त्व और पृथिवी, जल

धायक होने के कारण रूप रस आदि ही कहलाते है गुण और पार्थिव आदि भूत ही कहलाते है गुणी। ये गुण और गुणी एक ही समवाय के सदस्य है, समवायी है, अत गुण और गुणी मे समवायात्मक तादात्म्य विद्यमान होने के कारण गुण को भूतो से अलग स्वतन्त्र तत्व नही कहा जा सकता।

चार्वाक-मत से गुणो के प्रभेद--

अव्यवहित पूर्व किये गये विवेचन से यद्यपि यह सिद्ध किया जा चुका है कि गुण और गुणी ये दोनो विभिन्न तत्त्व नही है, फिर भी यह जिज्ञासा सर्वथा निरस्त नही हुई है कि उक्त-प्रकार से भूततत्त्वाभिन्न रूप से ही सही, इस चार्वाक-सिद्धान्त मे कितने और कौन-कौन गुण मान्य है ? क्योकि गुणो की मान्यता के सम्बन्ध मे विभिन्न दार्शनिको की तो बात ही क्या एक दर्शन के अनुयायी दार्शनिको के बीच भी मतभेद होता हुआ देखा जाता है। तो इस सम्बन्ध मे प्रकृत-सिद्धान्त के अनुसार चौदह गुण आवश्यक रूप से मान्य प्रतीत होते है। ये चौदह है रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, सयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दु ख, गुरुत्व सस्कार और शब्द। इनसे अन्य, अन्य दार्शनिको द्वारा स्वतन्त्र रूप मे गुणो के अन्दर परिगणित होने वाले पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, इच्छा,द्वेष, यत्न, द्रवत्व स्नेह और अदृष्ट ये सभी, ऊपर स्वीकरणीय रूप से निर्दिष्ट गुणो के अन्दर ही अन्तर्भुक्त हो जाते है। अत इन्हे स्वतन्त्र स्वरूप से गुण मानने की आवश्यकता नही प्रतीत होती है। इन नौ गुणो के अन्दर कौन, उक्त चौदह गुणो के अन्दर किस मे गतार्थता लाभ करता है इसका विवेचन यथास्थान किया जायगा। यहाँ यह जो कहा गया है कि "गुणो की स्वतन्त्र मान्यता के सम्बन्ध मे विभिन्न दार्शनिको की तो बात क्या एक दर्शन के अनुयायी भी आपस मे मतभेद रखते है" इस कथन की यदि पुष्टि अपेक्षित समझी जाय तो इसे यो समझना चाहिए कि नैयायिक वैशेषिक आदि दार्शनिक जहाँ शब्द को आकाश का गुण मानते है, मीमासक लोग इसके विपरीत उसे गुण न मान कर एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते है। वेदान्ती आदि उसे केवल आकाश का गुण न मान कर पांचो भूतो का गुण मानते है। एक दर्शनानुयायियो के गुण सम्बन्धी मतभेद के भी उदाहरण मिलते ही है। यथा नैयायिको के अन्दर कुछ लोगो ने पृथक्त्व को एक स्वतन्त्र गुण नही माना है। कुछ लोगो ने सख्या को गुण न मान कर अतिरिक्त पदार्थ मानने का आग्रह दिखलाया है। अधिकतर नैयायिको ने चित्र को एक स्वतन्त्र रूप माना है किन्तु परवर्ती नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने उसे स्वतन्त्र रूप नही माना है।

चार्वाक-मतानुसार गुणो की सख्या मे कटौती क्यो ?

उक्त विवेचन के अनन्तर यह प्रश्न सहजत उपस्थित हो सकता है कि जब प्रकृत सिद्धान्त मे भूताद्वैत ही मान्य है, जिसकी चर्चा एकाधिक बार की जा चुकी है तब मान्य रूप से

कथित गुण भी तो मान्य उस भूताद्वैत मे ही विलीन होने वाले मान्य हैं। ऐसी परिस्थिति मे उन मान्य गुणो की गणना भी जब काथञ्चित्क ही होगी तब जिन नौ गुणो को कटौती का शिकार बनाया जा रहा है उन्ही का क्या अपराध है ? काथञ्चित्क सत्ता तो उनकी भी मानी ही जा सकती है। क्योकि यदि उसकी भी सम्भावना न होती तो अन्य दार्शनिक भी उन्हे नही स्वतन्त्र गुण के रूप मे गिना पाते। और जब कि मान्य रूप से स्वीकृत इन रूप आदि गुणो की तरह वे अमान्य रूप से घोषित होने वाले पृथक्त्व आदि गुण मान्य होने पर भी उक्त अद्वैत-भूत-तत्त्व के ही गर्भ मे विलीन हो जा सकते है तब उनकी मान्यता से प्रकृत भूताद्वैतवाद को कोई क्षति भी नही बतलायी जा सकती है। ऐसी परिस्थिति मे उक्त पृथक्त्व आदि गुणो की अमान्यता का आग्रह क्यो किया जा रहा है ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि कोई भी कितना बडा अद्वैतवादी क्यो न हो, वह इस ठोस व्यावहारिक जीवन से सर्वथा अपने को अलग नही रख सकता।[१८६] इस कथन के समर्थन मे शून्य, ब्रह्म, और क्षणिक विज्ञान मात्र को पारमार्थिक तत्त्व मानने वाले दार्शनिको को उदाहरण के रूप मे अच्छी तरह उपस्थित किया जा सकता है। जब समग्र दृश्य जगत् को खपुष्प के समान शून्य मानने वाले शून्याद्वैतियो को भी इसे साम्वृतिक कह कर ही सही, विषय एव व्यवहार की सीमा बाधनी पडी। जब योगाचार साम्प्रदायिको को भी औचित्य और अनौचित्य की व्यवस्था देनी पडी। उन नित्य-विज्ञानाद्वैतियो को भी, जिन्होने तर्क को अप्रतिष्ठित कहते हुए भी तर्क का आश्रयण करते हुए यह कहा कि जब तक अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार न हो जाय तब तक प्रमाणप्रमेय-भाव[१८७] अबाधित रूप से चलता ही रहता है। अर्थात् तब तक विषयी और विषय इन दोनो का विवेचन होना उचित है यह कहना पडा। जब कि इन महान् लोकानुभव-विरुद्ध-अद्वैत के उपासको ने विषय-विवेचन से अपने को अलग नही रख सके तो इस लोकानुभवसिद्ध भूताद्वैतवाद को तो उक्त महासमवाय के अभ्युपगम द्वारा विषय और विषयी दोनो के बीच समन्वय उपस्थित करना है, दोनो का एक समन्वित रूप उपस्थित करना है। अत यहाँ औचित्य और अनौचित्य के आधार पर विषयो की मान्यता और अमान्यता घोषित होनी ही चाहिए। उक्त महासमवाय का

(१८६) कतिपय-प्रतिपत्तृ–कतिपय-काल–तथात्वावगमादेव प्रायेणलौकिको व्यवहार प्रतीयते। तादृशश्चाय सत्त्वावगम कयाङ्गम्। एतत्तदुच्यते व्यावहारिको प्रमाणादि-सत्तामादाय विचारारम्भ इति।

—खण्डन-खण्ड-खाद्य, प्रथम-परिच्छेद।

(१८७) देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पित।
लौकिक तद्वदेवेद प्रमाण त्वात्मनिश्चयात् ॥ —वेदान्त-परिभाषा।

एक सदस्य जब कि गुण भी माना गया है तब उसकी भी एक व्यवस्थित मान्यता वर्णित होनी चाहिए। अन्यथा जो ही कुछ कह दे उसी के हाँ मे हाँ अथवा "ना" "मे ना" मिलाने की प्रक्रिया अपना कर पूरा अवसरवादी बन जाना पडेगा। विशेषत "क्यो नही" का उत्तर तो विशेष रूप से दिया ही जायगा।

चार्वाक मत और रूप——

यो तो "रूप" शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता हुआ पाया जाता है। अधिकतर इस शब्द का प्रयोग किसी वस्तु के स्वभाव अर्थ मे होता है जैसे कोई भी व्यक्ति यदि किसी वस्तु के स्वभाव को समझने की इच्छा रखते हुए यह कहता है कि "उसका रूप क्या है" तो एतादृश वाक्य के प्रयोग स्थल मे रूप शब्द उस वस्तु के स्वरूप अर्थ मे अर्थात् स्वभाव अर्थ मे प्रयुक्त होता है। कही "आत्मक" अर्थ मे भी सस्कृत साहित्य मे इस "रूप" शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे यदि कोई "घटात्मक वस्तु" इस अर्थ मे "घट-रूप वस्तु" इस प्रकार वाक्य का प्रयोग करता है तो वहाँ "रूप" शब्द का अर्थ "आत्मक" यह पाया जाता है। बाह्यास्तित्ववादी बौद्ध दार्शनिको ने "रूप" शब्द को बहुत व्यापक अर्थ दिया है। उन्होने कहा है कि रूप को प्रथमत [१८८] दो प्रभेदो मे विभक्त समझना चाहिए। वे दो प्रभेद है वर्ण और और सस्थान अर्थात् आकृति। वर्ण को उन्होने नीलापन, पीलापन, लाली और सफेदी इन चार प्रभेदो मे विभक्त बतलाया है। वर्णात्मक और सस्थानात्मक दोनो रूप-प्रभेदो का विश्लेषण करते हुए उन्होने यह कहा है कि रूप को बीस प्रभेदो मे विभक्त समझना चाहिए। रूप के बीस प्रभेद इस प्रकार होते है यथा——आकृत्यात्मक रूप के प्रभेद दीर्घ, ह्रस्व, वर्तुल, परिमण्डल, उन्नत, अवनत, शात और निशात ये आठ होते है, और नील आदि चार प्रधान वर्ण पहले बतलाये गये है। और अन्य आठ रूप है मेघ, वाष्प, रज, महिका छाया, आतप, आलोक और तम। इनके अन्दर महिका वे सूक्ष्म पार्थिव एव जलीय कण कहलाते है जो कि उत्पतनशील होते है। सूर्य का उष्ण प्रकाश कहलाता है आतप और चन्द्रमा का शीतल प्रकाश कहलाता है आलोक। तम अन्धकार प्रसिद्ध ही है। बौद्धो के इस रूप सम्बन्धी विवेचन मे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे रूप शब्द को केवल गुणवाची नही मानते। किन्तु ऊपर बतलाये गये स्वभाव आदि सारे अर्थों को अभिप्राय मे रखते हुए

(१८८) रूप द्विधा, विशतिधा,··· । —अभिधर्मकोश।
द्विधा—वर्ण सस्थानम्। वर्ण नीललोहितपीतावदाता। तद्विशतिविधम् अष्टा आकृतय · ।

—अभिधर्मकोश-टीका, राहुल साकृत्यन।

उन लोगो ने अपने विवेचन ग्रन्थो मे रूप शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु गुण विवेचन के अन्दर विवेच्य रूप से उपस्थित इस रूप को नील, पीत आदि रूप से कथित गुण ही समझना चाहिए। और बौद्ध दार्शनिको ने भी रूप शब्द का प्रधान रूप मे अर्थ इनको ही माना है। रूप को शब्दान्तर मे "वर्ण" भी कहते हैं। जैसे "नीलवर्ण शृगाल" इत्यादि वाक्य-प्रयोग स्थलो मे "वर्ण" शब्द रग अर्थ मे ही प्रयुक्त होता है।

नैयायिक वैशेषिक आदि अन्य, भूत-भौतिक विवेचको ने आकृति एव आकृति-युक्त द्रव्य अर्थ मे रूप शब्द का प्रयोग मुख्यतया नही किया है। इसीलिए वे रूप को एक प्रकार[१८६] गुण ही मानते हैं। बौद्ध-विवेचको की ओर से भी इनकी पुष्टि इस प्रकार बतलायी जा सकती है कि रूप शब्द का प्रधान अर्थ उन्होने भी नील आदि को ही माना है। परन्तु बौद्धो से नैयायिकों और वैशेषिको का मतैक्य रूप के प्रभेद के सम्बन्ध मे नही देखा जाता है। क्योकि बौद्ध-विवेचको ने जहाँ उक्त चार ही प्रकार रूप माने है वहाँ नैयायिको और वैशेषिको ने शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र इस प्रकार रूप के सात प्रभेद माने है। किन्तु अन्तिम चित्र-रूप के सम्बन्ध मे इन दार्शनिको को भी गृहकलहग्रस्त पाया जाता है। इसका मूल कारण है रूपो की व्याप्यवृत्तिता और अव्याप्यवृत्तिता के सम्बन्ध मे उपस्थित होने वाला मतभेद। "व्याप्यवृत्तिता" का अर्थ है पूरे आश्रय को व्यापन करके अवस्थित होना और "अव्याप्यवृत्तिता" का अर्थ है उसके विपरीत आश्रय के अश मे ही रहना। जो लोग "चित्र" को एक स्वतन्त्र रूप मानते हैं उनका कहना यह है कि जब चित्र-पट आदि स्थल के अतिरिक्त नियमत सर्वत्र यह परिस्थिति देखी जाती है कि नील आदि रूप अपने पूर्ण आश्रय को व्याप्त करके ही रहते हैं, तब वे चित्रपट आदि प्रकृत-विवेच्य स्थलो मे अपने उस "व्याप्यवृत्ता" स्वभाव को कैसे छोड सकते ? क्योकि स्वभाव कहलाने का अधिकारी तो वही होता है जिसे उसका आश्रय कभी छोडता नही। जब कि अन्यत्र सर्वत्र नियमत रूप का यही स्वभाव देखा जाता है कि वह अपने आश्रय को पूर्ण रूप से व्याप्त करके ही रहता है, तब यदि चित्रपट स्थल आदि मे उसे छोड डाले तो उक्त व्याप्यवृत्तिता का रूप का स्वभाव नही कहा जा सकेगा। किसी भी वस्तु का या व्यक्ति का स्वभावसम्बन्धी नियमत सर्वत्र देखी जाने वाली परिस्थिति के आधार पर ही किया जाता है। चित्रपट आदि [illegible] स्थलो को छोड कर जब अन्यत्र सर्वत्र रूप की यही परिस्थिति देखी जाती है कि वह पूरे आश्रय को व्याप्त करके अवस्थित रहता है तब "व्याप्यवृत्तिता" को उसका स्वभाव मानना ही होगा। अन्यथा किसी का भी किसी का स्वभाव मानना कठिन हो

(१८६) चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादे रुपलम्भकम्।
चक्षुषः सहकारि स्याच्छुक्लादिकमनेकधा ॥ —भाषापरिच्छेद

सगत नही कहा जा सकता कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध अनुमान सही नहीं माना जाता । वह अनुमानाभास ही होता है । जब कि उस चित्रपट मे प्रत्यक्ष रूप से यह देखा जाता है कि इस एक पट मे अनेक रूप, विभिन्न अशो मे है तब इस स्पष्ट-प्रत्यक्ष के विरुद्ध पट के रूप मे व्याप्यवृत्तिता या एकता का अनुमान सदनुमान नही अनुमानाभास ही होगा। अत उसके वल से एक चित्र रूप नही मनाया जा सकता। इस विवेचन से नैयायिको के रूपगत सख्या की मान्यता से सम्बन्ध रखनेवाला गृहकलह परिचित हो गया होगा । प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण भी इस द्वितीय पक्ष अर्थात् चित्र-रूप की स्वतन्त्र मान्यता को प्रश्रय न देने वाले पक्ष का ही अनुसारी है। इतना ही नही, यह मुख्य रूप मे बौद्धाभिमत उक्त चार रूपो को ही मान्य ठहराता है । अत अन्य सभी प्रकार के रूप उन्ही रूपो के विभिन्न मात्रायुक्त रूप मे मिलन-प्रयुक्त विभिन्न रूप से प्रतीत होते है । किन्तु बौद्धो ने जो वायु मे रूप माना है वह युक्तियुक्त नही कहा जा सकता। अत यह रूप पृथिवी, जल और तेज इन तीनो भूतो मे ही रहता है अन्य मे नही। पृथिवी मे सभी रूप सम्भावित होते है किन्तु जल मे और तेज मे केवल शुक्ल ही मान्य है । जल मे अभास्वर-शुक्ल और तेज मे भास्वर-शुक्ल । भास्वर है प्रकाशक ।

चार्वाक-मत और रस—

गुणो के अन्दर रस का स्थान इसलिए अति महत्त्वपूर्ण मान्य है कि इसके उपयोग का प्राणि-जीवन पर वहुत वडा प्रभाव पडता है। प्राप्त विभिन्न रस या उससे युक्त अपेक्षित भौतिक खाद्य पेय को आत्मसात् करने से ही प्राणी आत्म-पुष्टि प्राप्त करता है। इसके प्रभेद मधुर अम्ल, लवण, कटु, काषाय और तिक्त ये छ मान्य है। क्योकि स्वतन्त्र रूप से ये छ रस ही प्रामाणिक रूप मे प्रतीत होते है। इनके विभिन्न मात्रायुक्त रूप मे मिलन से विभिन्नता प्राप्त करने वाले रसो की सख्या अगणित ही कही जायगी, जिस प्रकार मिलित रूप की। नैयायिक एव वैशेषिक दार्शनिको ने चित्र-रस, यह कहकर नही माना है कि रस को ग्रहण करने वाली रसना केवल गुणग्राहक होती है द्रव्यग्राहक नही । अत चित्र रस[१६०] को न मानने पर किसी द्रव्य के रासन-प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति नही बतलायी जा सकती, जिसके निवारणार्थ उस द्रव्य मे चित्ररस माना जाय। इसलिए चित्ररूप को मान्यता दिये विना

(१६०) रसादिकमपि नाव्याप्यवृत्ति । किन्तु नानाजातीयरसवदवयवैरारब्धेऽवयविनि रसाद्याभावेऽपिन क्षति । तत्र हि रसनया अवयवरस एत गृह्यते। रसनेन्द्रियादीना द्रव्यग्रहे सामर्थ्याभावात्। अवयविनो नीरसत्वेऽपि क्षतेरभावात् । —न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, गुणनिरूपण ।

चित्रपट प्रत्यक्षता की अनुपपत्ति के निवारणार्थं जिस प्रकार स्वतन्त्र चित्र रूप मान्य होता है उस प्रकार चित्ररस की मान्यता नही स्थिर की जा सकती।

परन्तु नैयायिको और वैशेपिको का यह कथन इसलिए प्रकृत-दृष्टिकोण के अनुसार उचित नही ठहराया जा सकता कि चित्ररूप की अमान्यता घोपित की जा चुकी है। हाँ, चित्ररस की अमान्यता का जहाँ तक प्रश्न है वहाँ तक यह चार्वाकसिद्धान्त भी उनके साथ है। क्योकि चित्र-रूप के खण्डन स्थल मे प्रदर्शित युक्ति के अनुसार चित्ररस का भी खण्डन अनायास रस की अव्याप्यवृत्तिता मानने पर हो जाता है। उक्त छ रस यथासम्भव पार्थिव वस्तुओ मे रहते है और जल, तेज तथा वायु इनमे कोई भी रस रहता नही। जल मे भी कही-कही अनुभूयमान रस पार्थिव सम्बन्ध से भलीभाँति प्रतीयमान माना जा सकता है। कुछ नैयायिक विवेचको ने रस के सम्बन्ध मे यह कहा है कि जल भी सरस है क्योकि आकाश मे ऊपर ही रखे हुए निर्मल अविकारी धातुपात्र मे मेघ से गिरने वाला विशुद्ध जल पीने पर मीठा मालूम होता है। परन्तु यह कथन इसलिए सबल नही हो सकता कि उस जल मे पार्थिव सम्पर्क नही है यह नही कहा जा सकता। अत वहाँ के अनुभूयमान माधुर्य को भी आन्यत्रिक जलगत माधुर्य के समान औपाधिक ही मानना उचित प्रतीत होता है। जगह-जगह पर जल मे अनुभूयमान लवण, रस यदि औपाधिक हो सकता है, शरबत आदि म उपलभ्यमान माधुर्य जब चीनी के सम्पर्क से औपाधिक ही होता है तब उक्त स्थलीय जलगत उपलभ्यमान माधुर्य को भी तदनुसार पार्थिवकण-सम्पर्क-प्रयुक्त भलीभाति कहा जा सकता है। यह नही कहा जा सकता कि माधुर्य के अनुभवानुरूप भौतिक कणो के आधिक्य की वहाँ सम्भावना नही रहती। क्योकि अधिक चीनी और अत्यल्प मिष्टसार-सेकरीन के सम्पर्क से समान माधुर्य का अनुभव जल म होता हुआ पाया ही जाता है। अत जल मे उपलभ्यमान रस को औपाधिक मानते हुए उसे नीरस मानना ही उचित है।

चार्वाक मत और गन्ध—

मे एक बात यह कही है कि एक किसी अवयवी के विभिन्न अवयवो मे विभिन्न प्रकार गध, जैसे सुगन्ध और दुर्गन्ध अवस्थित हो, तो अवयवी को निर्गन्ध मानना चाहिए। इस अपने कथन की पुष्टि मे उन लोगो ने यह युक्ति उपस्थित की है कि अवयवगत गन्ध अवयवी मे सजातीय गन्ध की ही उत्पत्ति कर सकती है। तदनुसार एक अवयवगत सुगन्ध अवयवी मे सुगन्धमात्र को और ऊपर अवयवगत दुर्गन्ध अवयवी मे केवल दुर्गन्ध मात्र को उत्पन्न करना चाहेगी। परन्तु सुगन्ध और दुर्गन्ध इस प्रकार पारस्परिक-विरोधशील है कि आपस मे मानो अहमहमिका उपस्थित होने के कारण परस्पर द्वारा अवरोध प्राप्त करने के कारण अवयवगत सुगन्ध या दुर्गन्ध,कोई भी अवयवी मे अपने अनुरूप सुगन्ध या दुर्गन्ध की उत्पत्ति कर नही पाती। अत ऐसी परिस्थिति मे अवयवी को निर्गन्ध मानना चाहिए। परन्तु यह उनका कथन इसलिए सगत प्रतीत नही होता कि उनके सिद्धान्त मे जैसे चित्रपटस्थल मे अवयवगत विभिन्न रूप आपस के विरोध को भुलाकर आपस मे एक स्वतन्त्र "चित्र" रूप अवयवी मे उत्पन्न कर डालते है। अथवा आपस मे सामजस्य स्थापित करके अवयवी मे सभी अवयवगत रूप अलग-अलग अपने-अपने अनुरूप रूपो को उत्पन्न करते हैं तद्वत् गन्ध-स्थल मे भी क्यो न कहा जा सकता ? नैयायिकों का इस सम्बन्ध मे प्राप्त होने वाला यह उत्तर सन्तोषप्रद नही प्रतीत होता कि नाक द्रव्यग्राहक नही है चक्षु की तरह, अत चित्रपट की आचाक्षुपता के समान यहाँ उक्त प्रकार अवयवी द्रव्य की अप्रत्यक्षता आपन्न नहीं हो सकती इसलिए चित्ररूप की तरह चित्रगन्ध या अव्याप्यवृत्ती विभिन्न रूपो की तरह यहाँ विभिन्न गन्धो की उत्पत्ति नही मानी जा सकती। क्योकि होते हुए अनुभव का अपलाप उचित नहीं कहा जा सकता। अनुभूयमान गन्ध अवयकी ही होती है अवयवी की नही इसका नियामक कोई प्रमाण मिलता नही। बौद्धो के इस गन्ध को सुगन्ध-दुर्गन्ध, उत्कट और अनुत्कट इन चार प्रभेदो मे विभक्त बतलाया है। उनका यह यथाश्रुत कथन सगत नहीं कहा जा सकता। हाँ, उत्कट सुगन्ध, अनुत्कट सुगन्ध, उत्कट दुर्गन्ध, अनुत्कट दुर्गन्ध इस प्रकार चतुर्विभाग हो सकता है। किन्तु उष्ण और शीत इन दोनो से विलक्षण "अनुष्णाशीत स्पर्श जिस प्रकार आगे विवक्षित है उस प्रकार "असुदुर्गन्ध" भी मान्य होना चाहिए।

चार्वाक-मत और स्पर्श——

प्राप्त कर सकते। बौद्धो ने कहा है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु के स्पर्श, श्लक्ष्ण, कर्कश, गुरुत्व, लघुत्व, शीत, बुभुक्षा और पिपासा ये ग्यारह है स्प्रष्टव्य अर्थात् कायेन्द्रिय ग्राह्य। इस कथन मे बौद्धो का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वे पृथिवी, जल आदि को त्वक् के द्वारा गृहीत होने वाला मानते नही, केवल उनके स्पर्शों को ही त्वक्-ग्राह्य मानते है। क्योकि ऐसा उनका अभिप्राय न होने पर, उनके द्वारा निर्धारित स्प्रष्टव्य की ग्यारह सख्या कैसे सगत हो सकती ? यत द्रव्यो को अलग स्प्रष्टव्य रूप से गिनने पर उसकी सख्या ग्यारह न होकर पन्द्रह हो उठेगी, जैसा कि उन्होने कहा नही है। भूख और प्यास का भी स्प्रष्टव्य रूप से निर्देश के कारण, और त्वक्-इन्द्रिय शब्दका प्रयोग न करतेहुए उसके स्थान मे कायेन्द्रिय शब्द का निर्देश यह भी सूचित करता है कि उनके द्वारा प्रयुक्त "कायेन्द्रिय" शब्द के अन्दर आने वाले "काय" शब्द मे पूरे शरीर को ही लिया है, नैयायिक और वैशेषिको की तरह समग्र काय मे व्याप्तत्वक् नामक वायवीय इन्द्रिय नही। प्रकृत-चार्वाक सिद्धान्त इस स्प्रष्टव्य सम्बन्धी बौद्ध-सिद्धान्त मे इसलिए भी सहमत नही हो सकता कि इस सिद्धान्त मे काय अर्थात् शरीर आत्मा है न कि इन्द्रिय। उक्त एतत्सम्बन्धी न्यायसिद्धान्त से भी यह सिद्धान्त एक-मत नही होता कि यहाँ मन ही केवल इन्द्रिय रूप से मान्य है अन्य कान, नाक आदि नही यह बात बारम्बार बतलायी जा चुकी है। फिर इस सिद्धान्त मे त्वक् क्या है ? इस सम्बन्ध मे उत्तर यह समझना चाहिए कि समग्र शरीर प्रदेश से मस्तिष्क तक जानेवाले सूत्र जाल को ही यहाँ त्वक् शब्द से कहा जाता है। कान, नाक आदि मे विलक्षणता इसकी यह है कि वे तत्तत मस्तिष्कगामी सूत्र, कान आदि निश्चित छिद्र स्थल से ही मन तक सगत मान्य है और यह समस्त सूक्ष्म रोमकूप आदि से मस्तिष्क तक पहुँचने वाले सूक्ष्म सूत्रो का समुदाय होता है। स्पर्श गुण को शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत इस प्रकार तीन प्रभेदो मे विभक्त यहाँ भी उसी प्रकार मानना है जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त मे। कुछ नैयायिक एव वैशेषिक बौद्ध-प्रभाव मे आकर गुरुत्व को भी त्वक्-ग्राह्य माना है। तदनुसार गुरुत्व मे उनके द्वारा उक्त स्पर्श के लक्षणकी अतिव्याप्ति उनके लक्षण घटक "मात्र" इस पद से वारित होती है। क्योकि अधिकतर गुरुत्व का ग्रहण तुलादण्ड के नमन और उन्नमन को देखकर ही होता है। यदि यह कहा जाय कि गुण-लक्षणो के अन्दर मात्र पद का निराकरणीय, अनुमान को नही ठहराया जा सकता। क्योकि ऐसा मानने पर नैयायिक एव वैशेषिक के "चक्षु-मात्र से ग्राह्य होने वाला गुण है रूप" इस रूप लक्षण-स्थल मे भी 'मात्र" यह पद अनुमान का निराकारक हो उठेगा। जिसका कुफल यह होगा कि वह उनका रूप लक्षण, लक्ष्य रूप मे अव्याप्त हो उठेगा। क्योकि अनुमान तो रूप का भी होता ही है। तो गुरुत्व को भी स्प्रष्टव्य मानने के पक्ष मे स्पर्श का वह लक्षण न्यायवैशेषिक दृष्टिकोण से भी त्याज्य ही होगा त्याज्य नही। अथवा छूकर गुरुत्व का निर्णय होना नही, किन्तु हथेली

पर भारयुक्त वस्तु को रखने पर गुरुत्व का परिचय मिलता है। अत त्वक् के अतिरिक्त किसी भी शरीर-प्रदेश के साथ उस भारयुक्त वस्तु की ऊर्ध्वाधोभाव से अर्थात् ऊपर-नीचे के क्रम से अवस्थिति भी अपेक्षित होती हुई पायी जाती है। वह विलक्षण अवस्थिति अर्थात् निम्न स्थित शरीर प्रदेश के साथ होने वाला भारयुक्त भूत का सयोग भी उक्त मात्र पद का निराकार्य है। अत उक्त गुरुत्व मे स्पर्शलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होती नही। उक्त त्रिविध स्पर्श के अतिरिक्त कठिनता और कोमलता इन दोनो को भी स्वतन्त्र स्पर्श क्यो न माना जाय ? क्योकि इनका ज्ञान भी छकर ही होता है यह प्रश्न इसलिए नही उठाया जा सकता कि कुछ ऐसी भी वस्तुएँ पायी जाती है जिन्हे देखने से भी उनमे कठिनता और कोमलता दोनो परिलक्षित होती है। अत इन दोनो को त्वक् द्वारा ही मनोग्राह्य नही कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि आँख से कठिनता एव कोमलता का ज्ञान कही नही होता। किन्तु स्थलविशेष मे वस्तुगत आकृति को देख कर उसके सहारे कठिनता और कोमलता का अनुमान होता है, तो कठिनता और कोमलता को भी स्पर्श का प्रभेद माना जा सकता। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि कठिनता और कोमलता दोनो को स्पर्शात्मक गुण क्यो माना जाय ? एक को स्पर्शात्मक गुण और दूसरे को उसका अभाव मान कर काम चलाया जा सकता है। तो यह कथन इसलिए सगत नही ठहराया जा सकेगा कि उक्त दोनो के अन्दर किसे स्पर्श और किसे उसके विपरीत उसका अभाव माना जाय ? यह निर्णय दुर्घट है ? अत एकत्र पक्षपाती युक्ति के अभाव मे दोनो को ही स्पर्श मानना होगा। और भी एक बात यह है कि कठिनता और कोमलता दोनो की प्रतीतियाँ विधिमुख ही होती है निषेधमुख नही। कहने का तात्पर्य यह कि "यह कठिन है", "यह कोमल है" इस प्रकार "है" इस रूप से भावात्मक रूप मे ही जब दोनो की प्रतीतियाँ समान रूप से हुआ करती है तब यह कैसे कहा जाय कि यह है स्पर्शात्मक भाव, और यह वह न होकर उसके विपरीत है अभाव। अत कठिनता और कोमलता दोनो को ही स्पर्श मानना होगा।

चार्वाक मत और सख्या

कठिन हो जायगा कि "गुण चौदह है अधिक या कम नही" क्योकि "चौदह" कहने पर उससे सख्या ही प्रतीत होती है। तदनुसार "गुण चौदह है" यह कहने पर गुणगत ही सख्या प्रतीत होती है। किन्तु गुण मे गुण रहता नही यह बात कही जा चुकी है। नैयायिको एव वैशेपिको ने सख्या जव गुण है तव गुणो मे उसकी प्रतीति कैसे उपपन्न होती है, यह प्रश्न उठा कर उत्तर यह दिया है कि द्रव्यगत सख्या द्रव्याश्रित गुण मे समवाय-सम्बन्ध से भले ही न रह पाये किन्तु समवायघटित-सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से वह गुणो मे रहती है अर्थात् जिन द्रव्यो मे गुण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं उन द्रव्यो मे सख्या भी गुण होने के नाते समवाय सम्बन्ध से रहती है। अत रूप आदि गुण और सख्या ये दोनो द्रव्यात्मक अधिकरण मे रह जाते हैं, इसलिए गुणो मे भी सख्या की प्रतीति होती है। गुण गुण मे रहता नही इस कथन का अभिप्रेत अर्थ यह है कि समवाय-सम्बन्ध से जिस प्रकार गुण द्रव्य मे रहता है गुण मे गुण उस प्रकार समवाय-सम्बन्ध से रहता नही। अत एकार्थ-समवायात्मक सामाना-धिकरण्य-सम्बन्ध मे गुण मे गुण रहता है। इसलिए यह प्रश्न नही उठाया जा सकता कि गुणो मे सख्या की प्रतीति कैसे होती है ? गुण चौदह हैं इस प्रकार ज्ञान एव तदनुरूप प्रामाणिक-वाक्यप्रयोग कैसे होता है ? परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर नैयायिको एव वैशेपिको का यह कथन उचित नही हो पाता। क्योकि सख्या को छोडकर रूप आदि अन्य गुणो मे तो उक्त प्रकार से सख्या को ले जाया जा सकता है किन्तु सख्या मे सख्या को कैसे उक्त-प्रकार एकार्थ-समवाय-सम्बन्ध से रखा जा सकता ? क्योकि अपने को अपना समानाधिकरण नही कहा जा सकता। क्योकि दो वस्तुएँ जव किसी एक आधार मे रहती है तव एक आधार मे रहने वाली उन दो वस्तुओ मे सामानाधिकरण्य प्राप्त होता है। एक को किसी भी प्रकार दो नही वनाया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि सख्या भी तो विभिन्न है अत रूप के समान एक सख्या मे भी दूसरी सख्या उक्त प्रकार सामानाधि-करण्य सम्बन्ध से रह सकती है। तो यह भी इसलिए नही कहा जा सकता कि सख्याएँ विभिन्न होने पर भी दो विभिन्न सख्याएँ एकाश्रित नही हो सकती। इसीलिए सख्या सर्वथा मर्यादित हुआ करती है अमर्याद अर्थात् विशृंखल कभी होती नही। एक कभी दो नही होता अत एकत्व और द्वित्व ये दोनो सख्याएँ एकत्र रहती नही। इस प्रकार सभी सख्याओ के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। ऐसी परिस्थिति मे यह नही कहा जा सकता कि विभिन्न सख्या विभिन्न सख्या मे सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से अर्थात् एकार्थ-समवाय-सम्बन्ध से रहती है। अत अन्य लोगो ने उक्त मूल प्रश्न के उत्तर मे यह कहते हुए पाये जाते हैं कि जो सख्या द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध से रहती है वह द्रव्य से अन्य गुण आदि मे समवाय सम्बन्ध से न रहने पर भी स्वरूप सम्बन्ध से रहती है। अर्थात् समवाय जैसे समवायान्तर से न रहता हुआ स्वरूपत समवायी मे रहता है उसी प्रकार सख्या भी गुण आदि मे स्वरूपत रहती है।

क्योकि ऐसा न मानने पर गुणगत-सख्या की प्रामाणिक-प्रतीति एव प्रामाणिक-व्यवहार की उपपत्ति हो नही सकती है। कल्पना नियमत फलानुसारिणी होती है। अत उक्त प्रामाणिक प्रतीति एव वाक्य-प्रयोगात्मक व्यवहार-स्वरूप फल के अनुसार सख्या का स्वरूपात्मक सम्बन्ध तो सख्या मे मान्य ही होगी। दृष्टान्तभूत समवाय का समवाय इसलिए नही माना जाता है कि ऐसा मानने पर समवाय की अनन्त अव्यवस्थित परम्परा आपन्न हो उठती है। वहाँ जैसे इस आपत्ति के भय मे समवाय का समवाय नही माना जाता है ऐसे यहाँ उक्त प्रतीति एव प्रामाणिक वाक्य-प्रयोग की अनुपपत्ति के भय से सख्या मे सख्या का स्वरूप सम्बन्ध मान्य होगा। अर्थात् सख्या-सख्या मे स्वरूपत रहेगी सम्बन्धान्तर से नही। इस विवेचन से उक्त प्रश्न निराकृत हो गया कि सख्या मे सख्या न रहने के कारण सख्या-घटित उक्त गुणो मे चतुर्दशत्व सख्या कैसे रहेगी? और नही रहेगी तो गुण चौदह है यह कथन कैसे सगत कहा जा सकेगा। वस्तुत चार्वाकीय-दृष्टिकोण के अनुसार उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि इस सिद्धान्त मे सख्या केवल एकत्व ही मान्य है द्वित्व, त्रित्व आदि नही। द्वित्व, त्रित्व आदि भेदस्वरूप है सख्यात्मक गुणस्वरूप नही। ऐसी परिस्थिति मे "गुण चौदह है" इत्यादि प्रतीति का विषय एव तदनुरूप वाक्य का प्रतिपाद्य चतुर्दशत्व भी भेदस्वरूप ही है। भेद है अन्योन्याभाव अत गुण मे गुण न रहने पर भी अन्योन्याभाव की विद्यमानता गुण मे अक्षुण्ण होने के कारण उक्त प्रतीति एव उक्त प्रकार व्यवहार असगत नही कहा जा सकता। द्वित्व आदि सख्या नही किन्तु भेदस्वरूप है, यह इसलिए कि किन्ही वस्तुओ को दो समझने के लिए यह एक है और यह एक इस प्रकार ज्ञानात्मक अपेक्षा बुद्धि की आवश्यकता वे लोग भी मानते है जो कि द्वित्व आदि को स्वतन्त्र सख्या मानते हुए उसका उत्पाद एव विनाश मानते है। साराश यह कि विभिन्न एकत्वो को या एकत्व के आश्रय मे होने वाले भेदो को ही द्वित्व, त्रित्व आदि शब्दो का बोध्य माना जाय अलग द्वित्व, त्रित्व आदि सख्याएँ

"ये तीन है"। सुतरा उक्त द्वित्व की तरह त्रित्व भी कोई स्वतन्त्र सख्या नही है। इसी प्रकार चार, पाँच छ आदि से लेकर अन्तिम सख्या रूप से स्वीकृत परार्द्ध सख्या पर्यन्त समझना चाहिए। इस विवेचन के अनन्तर यह सुस्पष्ट है कि सख्या केवल एकत्व ही है अन्य द्वित्व आदि नही। यहाँ इन द्वित्व आदि के सम्बन्ध मे जो ये दो बातें बतलायी गयी है कि "द्वित्व दो एकत्व है एव त्रित्व तीन एकत्व है, इसी प्रकार परार्द्ध पर्यन्त समझना चाहिए" यह एक और "दूसरा यह कि उक्त पद्धति के अनुसार द्वित्व,त्रित्व आदि सभी को अन्योन्याभावात्मक भेद मानना चाहिए" इन दोनो कथनो के अन्दर द्वितीय कथन अर्थात् द्वित्व आदि की भेदात्मकता पक्ष का समादर इसलिए अधिक उचित प्रतीत होता है कि प्रथम पक्ष का आदर करते हुए यदि यह कहा जाय कि दो एकत्व ही द्वित्व शब्द से कहे जाते है और तीन एकत्व ही त्रित्व शब्द मे। तो "दो एकत्व", "तीन एकत्व" यहाँ पर एकत्वगत द्वित्व, त्रित्व आदि के सम्बन्ध मे फिर उसी प्रकार जिज्ञासा उठ खडी होगी कि एकत्वगत द्वित्व एव त्रित्व आदि क्या है। वहाँ भी यदि द्वित्व आदि को एकत्व रूप माना जायगा तो इसी प्रकार प्रश्न और उत्तर का क्रम जारी रहने के कारण अनवस्था आपन्न होगी। उस अनवस्था से छुटकारा पाने का तरीका एक यही हो सकता है कि आम मे विद्यमान एकत्व और अमरूद मे विद्यमान एकत्व इनके अन्दर आपस मे विद्यमान भेद ही है एकत्वगत द्वित्व। जिसे लेकर एकत्व को "दो" बताया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति मे यही उचित कहा जायगा कि आम और अमरूद के अन्दर विद्यमान पारस्परिक भेद को ही आम और अमरूदगत द्वित्व माना जाय। एव त्रित्व आदि को भी भेद रूप ही माना जाय। क्योकि जब उक्त विचार के अनुसार आम के एकत्व और अमरूद के एकत्व इन दोनो मे विद्यमान द्वित्व को उक्त प्रकार अनवस्था से बचने के लिए उक्त पद्धति से भेदस्वरूप ही मानना होगा तब पहले ही आम और अमरूदगत द्वित्व को क्यो न भेदात्मक माना जाय ?

इस विचार के अनुसार यह भी स्पष्टीकृत समझना चाहिए कि "बहुत्व" सख्या भी द्वित्व, त्रित्व आदि की तरह भेदात्मक ही है, वह भी वस्तुत गुणभूत सख्या नही है। इस सक्षिप्त कथन का तात्पर्य यह है कि नैयायिको और वैशेषिको के घर मे त्रित्व, चतुष्ट्व आदि एव बहुत्व इनकी एकता और अनेकता के सम्बन्ध मे गृहकलह पाया जाता है। एक दल का कहना यह है कि बहुत्व, त्रित्व, चतुष्ट्व से लेकर अन्तिम परार्द्धत्व सख्या ही है कोई अतिरिक्त सख्या नही। और दूसरा दल इसके विरुद्ध यह कहता पाया जाता है कि बहुत्व एक स्वतन्त्र सख्या है जो कि किन्ही भी तीन वस्तुओ से लेकर अन्तिम परार्धत्व सख्यायुक्त वस्तुओ मे रहती है। दोनो ही दल अपने-अपने पक्ष मे दलील भी उपस्थित करते है। जो लोग बहुत्व को त्रित्व आदि स्वरूप ही मानते है उनकी युक्ति यह है कि किसी भी स्वतन्त्र सख्यावाची शब्द के आगे तरप् या तमप्प्रत्यय लगा कर वाक्य-प्रयोग नही होता,

ह्रस्वत्व आपस मे परस्पर विरोधी है एव दीर्घत्व और ह्रस्वत्व ये भी आपस मे परस्पर विरोधी है। कुछ नैयायिको ने अणुत्व और महत्त्व इन दो परिमाणो को ही मान्य ठहराया है। उनका कहना है कि दीर्घता अर्थात् लम्बापन भी महत्त्व का ही एक प्रभेद है और ह्रस्वता अर्थात् नाटापन भी अणुत्व का ही प्रभेद है। अत परिमाणो को उक्त चार प्रभेदो मे विभक्त न मानकर दो प्रभेदो मे ही विभक्त मानना चाहिए। किन्तु परिमाणगत चतुष्ट्व के पक्षपातियो के अन्दर एक विवेचक ने इस परिमाण द्वित्ववाद के विपरीत यह तर्क उपस्थित किया है कि प्रत्यक्ष के द्वारा स्पष्ट विषयीकरण मे महत्त्वातिशय का जिस प्रकार उपयोग देखा जाता है दीर्घता का वैसा उपयोग उसमे देखा जाता नही। अत दोनो मे अन्तर मानना आवश्यक है। इसलिए दीर्घता और महत्ता इन दोनो को एक नही कहा जा सकता। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि श्याम के आगे एक चावल गिरा पडा है और सामने एक काफी लम्बा मकडी का तन्तु भी लम्बायमान होकर अवस्थित है। वह व्यक्ति दानो के साथ आँख के सन्निकर्ष के होने पर भी चावल को जिस प्रकार अनायास स्पष्ट भाव से देखता है उस मकडी-तन्तु को उस प्रकार अनायास स्पष्ट भाव से देखता नही यह निर्विवाद है। यदि महत्त्व और दीर्घत्व परस्पर मे भिन्न न हो, अतिरिक्त न हो तो यह परिस्थिति नही होनी चाहिए। उस मकडी तन्तु मे ही प्रात्यक्षिक स्पष्ट-विषयता होनी चाहिए उस चावल मे नही। क्योकि महत्त्व और दीर्घत्व दोनो एक माने जाने पर उस चावल से उस मकडी तन्तु मे ही महत्त्वातिशय रहेगा। परन्तु ऐसा होता नही। चावल उस मकडी तन्तु से कही अधिक स्पष्ट देखा जाता है। अत महत्त्व और दीर्घत्व इन दोनो को एक नही माना जा सकता। इस प्रकार महत्त्व और दीर्घत्व इन दोनो का पारस्परिक भेद सिद्ध होने पर उन दोनो के विपरीत अणुत्व और ह्रस्वत्व को भी परिमाण रूप मे मान्यता देनी होगी। अत परिमाण दो नही चार ही है। परन्तु प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण इन दोना ही परिमाण सम्बन्धी मतवादो को नही मानता। इस सिद्धान्त मे महत्त्व ही केवल परिमाण मान्य है। इस महत्त्व मे आपेक्षिक उत्कर्ष और अपकर्ष स्वरूप अतिशय अर्थात् आपेक्षिक वैलक्षण्य अवश्य मान्य है। इसलिए विभिन्न इयत्ताक दो द्रव्यो के अन्दर एक को बडा और दूसरे को उससे छोटा समझा जाता है। यदि यहाँ परिमाण चतुष्ट्ववादी की ओर से यह कहा जाय कि तब तो परिमाण निर्भेद इस सिद्धान्त मे भी नही हो पाया। क्योकि उक्त सापेक्ष अतिशय की मान्यता के कारण उत्कृष्ट महत्त्व और अपकृष्ट महत्त्व ये दो प्रभेद मान्य हो ही जाते है। तो इनके सम्बन्ध मे कहना यह है कि ये प्रभेद तो परिमाण चतुष्ट्व-वादी को भी मान्य ही है। क्योकि इन दो महत्त्व के प्रभेदो को मान्यता न देने पर दस हाथ कपडे और पाच हाथ कपडे इन दोना मे परिमाण का तारतम्य जो कि प्रत्यक्ष सिद्ध है नही बन पायेगा। क्योकि उक्त दोनो ही कपडे महान् तो होगे ही। तात्पर्य यह कि उत्कर्ष,

और अपकर्ष के आधार पर महत्त्वगत तारतम्य न मानने पर कपडो को अलग-अलग पाँच हाथ का और दस हाथ का कहा ही नही जा पायेगा, या दोनो को पाँच हाथ का या दस हाथ का कहा जायगा। क्योकि किसके आधार पर उन दोनो का पृथक्करण होगा ? महान् तो उक्त दोनो कपडो को मानना ही होगा अन्यथा दोनो का प्रत्यक्ष कैसे हो पायेगा ? परिमाण चतुष्ट्ववादी को तो प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व को कारणता मान्य ही है। महत्त्व परिमाण मात्र को मान्यता देने पर दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, अणुत्व और उत्कर्ष एव अपकर्ष के आधार पर इनके किये जाने वाले प्रभेद अमान्य होने के कारण महान् लाघव होगा। यह बात सही है कि आपत्ति या अनुपत्ति की सम्भावना आ पडने पर लाघव गौरव का विचार नही किया जाता है, परन्तु महत्त्व मात्र को परिमाण मानने पर कोई आपत्ति या अनुपत्ति दी नही जा सकती। क्योकि यह छोटा है और अन्य यह उससे बडा है इत्यादि परिमाण सम्बन्धी प्रतीतियाँ महत्त्वगत रूप मे मान्य उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर भलीभाँति सम्पादित होगी यह बात बतलायी जा चुकी है। एक चावल और मकडी तन्तु का जो दृष्टान्त परिमाण द्वित्ववादी के विरोध मे परिमाण-चतुष्ट्ववादी की ओर से उपस्थित किया गया है वहाँ भी प्रकृत परिमाणकत्व-सिद्धान्त के अनुसार किसी प्रकार का असामजस्य नही उपस्थित होता। क्योकि भूयोवयव-सयोगप्रयुक्त महत्त्वातिशय चावल मे ही होगा। लम्बायमान मकडी तन्तु मे नही। इसलिए प्रत्यक्षगत अथवा विषयगत अनुभूयमान-स्पष्टता एव अस्पष्टता भलीभाँति उपपन्न होगी। अत महत्त्वमात्र ही परिमाण मानना चाहिए। यदि इस पर यह कहा जाय कि "अनेक बडे डडो के अन्दर जो अधिक लम्बा हो उसे ले जाओ" इस प्रकार की प्रतीति कभी-कभी लोगो को हुआ करती है। यह प्रतीति प्रकृत रूप से मान्य परिमाणैकत्व-सिद्धान्त मे बन नही पायेगी। क्योकि वाक्य मे प्रयुक्त सप्तम्यन्त पदार्थ और प्रथमान्त पदार्थ इन दोनो का भेद नियमत हुआ करता है। तो इसके सम्बन्ध मे कहना यह है कि उक्त प्रतीति मे भी इस परिमाणैकत्व-सिद्धान्त का ही समर्थन होता है। क्योकि 'बडो के अन्दर जो दीर्घ है" ऐसा कहने पर यह स्पष्ट प्रतिभात होता है कि वह दीर्घ वस्तु [illegible] है। फलितार्थ यह निकलता है कि दीर्घता महत्त्वविशेष ही है अन्य कुछ नही।

चार्वाक मत मे पृथक्त्व गुण नही—

कुछ अन्य दार्शनिको ने पृथकत्व को भी उक्त अन्य गुणो के समान एक स्वतन्त्र गुण माना है[१९५]। इस गुण को वे सख्या का अनुगामी मानते है। तात्पर्य यह कि एकत्व, द्वित्व आदि रूप मे सख्या के जितने प्रभेद, अन्तिम सख्या परार्ध पर्यन्त उनके सिद्धान्त मे मान्य होते है पृथक्त्व के भी उतने प्रभेद मान्य है। परन्तु इस सिद्धान्त के अन्दर द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि पृथक्त्व के प्रभेदो की मान्यता का तो प्रश्न ही नही उठता। क्योकि सख्या के विवेचन के अवसर पर सिद्ध किया जा चुका है कि सख्या केवल एकत्व ही है द्वित्व, त्रित्व आदि नही। तदनुसार द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि तो स्वत मान्य नही हो पाते। तदतिरिक्त यह कि एक-पृथक्त्व भी यहाँ मान्य नही है। यदि कहा जाय कि "यह घडा इस कपडे से पृथक् है" ऐसी प्रतीति प्रामाणिक लोगो को भी होती ही है। और तदनुसार वे उक्त प्रकार वाक्य-प्रयोग करते ही है। ऐसी परिस्थिति मे यह कथन कैसे सगत कहा जा सकता कि पृथक्त्व गुण नही है? पृथक्त्व को गुण न मानने पर आखिर "पृथक्" पद से कौन कहा जायगा? उक्त वाक्य के अन्दर "पृथक्" इस पद को निरर्थक तो माना नही जा सकता। क्योकि तब "घडा कपडे से है" इतने ही पद सार्थक रह जायेगे। फलत निरा-काक्ष न हो सकने के कारण उन उक्त पदो को वाक्य भी नही कहा जा पायेगा। क्योकि उतना सुनने पर भी "क्या" यह आकाक्षा श्रोता को बनी ही रहेगी? तो इसके उत्तर मे वक्तव्य यह है कि "पृथक्" इस पद का अर्थ "भिन्न" यह मान्य है। फलत पृथक्त्व भी द्वित्व आदि सख्याओ की तरह भेदात्मक अन्योन्याभाव स्वरूप ही होता है स्वतन्त्र गुणात्मक एक प्रकार भाव नही। साराश यह कि "यह इससे भिन्न है" और "यह इससे पृथक् है" ये दोनो वाक्य एकार्थक है। क्योकि उक्त दोनो प्रकार बोध एव वाक्य प्रयोग एक ही परिस्थिति मे होते हुए पाये जाते है। जिन दार्शनिको ने पृथक्त्व को एक स्वतन्त्र गुण माना है उन्होने इसके लिए यह युक्ति उपस्थित की है कि पृथक्त्व और अन्योन्याभाव इन दोनो का एक इसलिए नही कहा जा सकता कि पृथक्त्व को विषय करने वाली प्रतीति होती है 'यह इससे पृथक् है" यह। और अन्योन्याभाव को विषय करने वाली प्रतीति होती है 'यह यह नही है'। इन दो प्रतीतियो के आकारो मे अन्तर स्पष्ट है अत पृथक्त्व और अन्योन्याभाव इन दोनो को एक नही माना जा सकता। इस कथन का साराश यह है कि 'यह यह नही है" ऐसा यदि वाक्य प्रयुक्त होता है तो वहा दोनो ही "यह पद प्रथमान्त ही रहते है और यदि "यह इससे भिन्न है' इस प्रकार वाक्य प्रयुक्त होता है तो वहा 'यह यह पद तो होता है

(१९५) पृथग्व्यवहारासाधारण कारण पृथक्त्वम्। —तर्कसग्रह।
अस्मात्पृथगिदनेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा। —भाषा-परिच्छेद।

प्रथमान्त किन्तु "इससे" यह पद होता है पञ्चम्यन्त, प्रथमान्त नही। यह प्रायोगिक वैलक्षण्य अवश्य ही अर्थ वैलक्षण्य पर आधारित होना चाहिए। वह अर्थ वैलक्षण्य "यह" और "इससे' इन दोनो के अर्थों से अवश्य ही अन्य होना चाहिए। क्योकि इन दो पदो के,अन्दर प्रत्ययगत वैलक्षण्य के सम्बन्ध मे प्रश्न ही उपस्थित है प्रकृति के अर्थ मे कोई अन्तर है नही जिसे उक्त वैलक्षण्य का प्रयोजक माना जा सके। इसलिए अगत्या "पृथक्" और "नही" इ ही पदो के अर्थगत वैलक्षण्य का कुछ प्रयोजक मानना होगा। इसलिए "पृथक्" इस पद के अर्थ पृथक्त्व और उक्त "नही" इसके अर्थ भेद को एक नही माना जा सकता।

चाहिए। अर्थात् ज्ञाता का मन केवल रूपात्मक घटाश की ओर या अरूप, अवशिष्ट घटाश की ओर आकृष्ट होती है। उसीके आधार पर वह घट के रूप और अरूप अश को अत्यन्त भिन्न समझ वैठता है। उसी का फल यह होता है कि "रूप घडा नही है" इस प्रकार प्रतीति एव वाक्य-प्रयोग किया करता है। साराश यह कि उक्त प्रतीति एव वाक्य-प्रयोग प्रकृत-सिद्धान्त के अनुसार प्रामाणिक नही है। इसलिए उसे प्रमाण रूप से उपस्थित कर तदनुरूप वस्तु की सत्ता नही मानी एव मनायी जा सकती है। इसलिए पृथक्त्व को भेदात्मक अन्योन्याभाव ही मानना उचित है। उससे अतिरिक्त उसे गुणस्वरूप नही कहा जा सकता। वह गुण नही भेदात्मक अन्योन्याभाव ही है।

चार्वाक-मत और सयोग——

अव विवेच्य है सयोग[१६६]*। यह भी एक प्रकार गुण है और समवायात्मक अद्वैत का एक* सदम्य रूप मे यहाँ मान्य है। यह कह देने का प्रयोजन यह है कि यहाँ भूताद्वैत मान्य होने के कारण लोग यह कह वैठ सकते हैं कि तव तो यहाँ सयोग-गुण मान्य नही हो सकता। क्योकि सयोग नियमत सर्वसम्मत रूप मे किन्ही दो का ही हो सकता है। किसी से और कोई जुटता है उस जुटने को ही अपर शब्द मे सयोग कहा जाता है। किसी प्रकार अद्वैत की मान्यता पक्ष मे जब दो होते ही नही तव, उक्त प्रकार जुटना कैसे सम्भव कहा जा सकता? इस सयोग को अमान्यता भी किसी प्रकार नही दी जा सकती। क्योकि स्वाभाविक हो या अस्वाभाविक समस्त जागतिक परिवर्तन इस सयोग गुण के ऊपर ही आधारित है। पूर्वापरीभाव मे आवद्ध उत्पाद और विनाश का ही सम्मिलित नाम है परिवर्त्तन। कोई भी उत्पाद या विनाश क्यो न हो वह विभिन्न भौतिक सघट्टन के अतिरिक्त और कुछ होता नहीं यह प्रत्यक्षसिद्ध हे। और सघटन सयोग ही है। अत सयोग यहाँ विशेष रूप से विवेच्य का आसन ग्रहण करता है। सयोग नियमत क्रियाजन्य होता है। जिस वस्तु मे क्रिया उत्पन्न होती ह वह वस्तु उस चलनात्मक क्रिया के कारण पूर्व-सयुक्त अन्य वस्तु से विभक्त हो उठती है। अर्थात् उस क्रियाशील वस्तु मे विभाग नामक गुण उत्पन्न हो जाता ह। उस विभाग का काम यह होता है कि उस क्रियाशील वस्तु मे जो अन्य वस्तु के साथ पूर्व-सयोग रहता है, वह उसे नष्ट कर देता है। तव वह कम्पशील वस्तु किसी अन्य वस्त्वन्तर से सयुक्त हो जाती है। अर्थात् उस क्रियाशील वस्तु मे सयोग गुण उत्पन्न होता है। ऐसा

(१६६) सयोग सयुक्तव्यवहारहेतुर्गुण। स च द्वयाश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च। स च त्रिविध अन्यतर-कर्मज, उभय-कर्मज, सयोगजश्चेति।
——तर्कभाषा।

कोई भी मूत नही दिखलाया जा सकता जिसमे कभी-न-कभी सयोग न उत्पन्न होता हो। सूक्ष्म भौतिक कणो की ओर ध्यान दिया जाय तो यह अवश्य मानना होगा कि प्रत्येक मूत सर्वदा किसी-न-किसी से सयुक्त होता ही है। नैयायिक और वैशेषिक लोग भी सभी द्रव्यो को किसी-न-किसी से सर्वदा सयुक्त मानते है। परन्तु इस परिस्थिति की मान्यता उनके मत मे व्यापक-द्रव्य-रूप से मान्य आकाश काल दिक् और आत्मा इन द्रव्यो के साथ होने वाले सयोग के कारण भी होता है। परन्तु प्रकृत चार्वाकसिद्धान्त मे वैसा इसलिए नही माना जा सकता कि यहाँ उक्त आकाश आदि स्वतन्त्र वस्तु रूप मे मान्य नही है यह बात बतलायी जा चुकी है। किन्तु सतत चलनशील सूक्ष्म-भौतिक-कणो से सयोग सभी स्थिर वस्तुओ को भी होता ही रहता है, इस दृष्टिकोण से यहाँ यह मानना है कि प्रत्येक मूत सतत सयुक्त हुआ करता है। इस सयोग गुण को नैयायिको एव वैशेपिको ने कर्मज और सयोगज इन दो प्रभेदो मे प्रथमत विभक्त माना है। कर्मज-सयोग का परिचय ऊपर दिया गया है। द्वितीय सयोगज-सयोग के सम्बन्ध मे उन लोगो का कहना यह है कि पुस्तक के साथ हाथ का सयोग होने पर पूर्ण शरीर के साथ भी पुस्तक का सयोग होता है। वह पुस्तक और शरीर के बीच होने वाला सयोग होता है—सयोगज-सयोग। उसकी मान्यता के समर्थन मे वे लोग युक्ति यह उपस्थित करते है कि क्रिया अपने आश्रय मे ही सयोग उत्पन्न करती है। ऐसी परिस्थिति मे हाथ मे होने वाली क्रिया से किसी अन्य वस्तु के साथ हाथ का ही सयोग हो सकता है शरीर का नही। हाथ मे होने वाली क्रिया को शरीर की क्रिया इसलिए नही कहा जा सकता कि शरीर और हाथ ये दोनो दो चीजे होती है। अत अगत्या यही मानना पडेगा कि हाथ मे होने वाली क्रिया से तो हाथ और पुस्तक इन दोनो का एक सयोग उत्पन्न होता है, और उस सयोग से शरीर और पुस्तक इन दोनो का एक अन्य सयोग उत्पन्न होता है। अत प्रथम हस्त-पुस्तक-सयोग होता है कर्मज और द्वितीय शरीर-पुस्तक-सयोग होता है सयोगज। इस सयोगज-सयोग की मान्यता का रहस्य गम्भीर-भाव से चिन्ता करने पर यह प्रतीत होता है कि अतिप्राचीन कोई अनुमानैक-प्रामाण्यवादी अथवा अवयवी को मान्यता न देने वाले परमाणु-पुजवादी बौद्धो की ओर से जो नैयायिको एव वैशेषिको के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि वृक्ष आदि की बुद्धि को किसी प्रकार चाक्षुष-प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता। क्योकि प्रत्यक्ष के प्रतिकारण होता है इन्द्रिय का सन्निकर्ष। आँख का जब कभी सन्निकर्ष होगा तो नियमत देखने वाले के सामने पडने वाले वृक्षावयव के साथ ही। समग्र वृक्ष के साथ द्रष्टा की आँख का सयोग सम्भव नही। क्योकि द्रष्टा के पुरोवर्ती वृक्षावयव के द्वारा वृक्ष का परवर्त्ती एव मध्यवर्त्ती भाग नियमत व्यवहित रहेगा, ढका ही रहेगा। जिसमे आँख का सयोग नही होगा। उसका प्रत्यक्ष यदि आँख से होने वाला माना जायगा तो फिर प्रात्यक्षिक विषयता का कोई नियम नही रह पायेगा। यहाँ तक

हाथ मे ही होती है। पुस्तक पडी रहने पर भी हाथ जाकर उससे जुट जाता है। वृक्ष की परस्पर विपरीताभिमुख चलनशील दो शाखाओ का सयोग होता है उभय-कर्मज। क्योकि वहाँ दोनो शाखाओ के बीच होने वाला सयोग दो शाखाओ के अन्दर एक-एक मे उत्पन्न होने वाली दो क्रियाओ से उत्पन्न होता है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

चार्वाक-मत और विभाग

अव विभाग[१६७] को समझा जाय। इसकी भी उत्पत्ति नियमत क्रिया से होती है यह वात अव्यवहित पूर्व विवेचन मे बतलायी जा चुकी है। कुछ लोग यहाँ यह सन्देह उपस्थित कर सकते हैं कि क्रिया से जब कि विभाग उत्पन्न होकर ही सयोग नियमत उत्पन्न होता हुआ पाया जाता है, तब उत्पाद के पूर्वापरीभाव के अनुसार पहले विभाग का ही विवेचन होना उचित प्रतीत होता है। फिर वैसा न करके सयोग-विवेचन के अनन्तर विभाग का विवेचन क्यो किया जा रहा है? तो इसके सम्बन्ध मे ज्ञातव्य यह है कि सयोग जिस प्रकार विभाग को पूर्वत और परत भी आक्रान्त करता है विभाग इस प्रकार नियमत सयोग को आक्रान्त नही कर पाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्येक विभक्त होनेवाला भूत विभाग के पहले एव पीछे भी अवश्य भूतान्तर से सयुक्त होता है। परन्तु प्रत्येक सयुक्त होनेवाला भूत उक्त प्रकार से आगे और पीछे भी नियमत भूतान्तर से विभक्त होगा ही यह नही कहा जा सकता। साराश यह कि सन्दश-न्याय से विभाग सयोगद्वय का अन्त पाती नियमत होता है किन्तु सयोग विभागद्वय का अन्त पाती नियमत नही होता। इसके अनुसार सयोग विभाग से प्रबल सिद्ध होता है। अत सयोग विवेचन का प्राथम्य औचित्य प्राप्त है। दूसरी एक वात और भी यह इस सम्बन्ध मे ध्यान मे रखने की है कि विभाग भी क्रिया का सयोग के समान ही कार्य है यह वात सही है, फिर भी क्रिया का चरमलक्ष्य सयोग ही हुआ करता है, इसीलिए जब तक क्रियाश्रय भूत का किसी अन्य भूत से सयोग उत्पन्न नही हो जाता, तव तक क्रिया कभी नही मरती। इसलिए भी सयोग को महात्ता प्राप्त होती है, और तदनुरूप सयोगविवेचन का प्राथम्य उचित ही है। तीसरी बात यह भी कही जा सकती है कि सयोग जिस प्रकार आरम्भानुकूल दृष्टिगोचर होता है अर्थात् भौतिक निर्माण-कार्य के लिए साक्षात् भाव से अपेक्षित होता है विभाग उस प्रकार भौतिक निर्माण मे तादात्म्य प्रदान करने वाला नही पाया जाता। क्वचित् उत्पाद-कार्य का सम्पादक होने पर भी वह अधिकतर विनाश का ही सम्पादक बनता है। निर्माण और विनाश इन दोनो

(१६७) विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतु । सयोगपूर्वकोद्वयाश्रय ।
स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मज, उभयकर्मज, विभागतश्चेति। —तर्कभाषा।

कमलकली के विनाश की आपत्ति इसलिए होगी कि उस कली मे अग्रभाग और निम्न भाग दोनो जगह विद्यमान कमल-दलो के सयोग द्विविध होने के कारण,दोनो स्थलो मे होने वाले विभाग भी दो होगे ही। इसीलिए अग्रभागीय दल-विभाग तो प्रति दिन सूर्य-रश्मि के सम्पर्क से हुआ करता है, किन्तु निम्नवर्त्ती दलीय-विभाग एक ही बार होता है, जब कि वह कमल का फूल जर्जर होकर नष्ट होता है। उन दोनो विभागो के अन्दर निम्नवर्त्ती दलीय-विभाग होगा कपाल-कपाल-विभाग के समान आरम्भक सयोग का विरोधी विभाग। क्योकि उस विभाग के होने पर आरम्भक तत्रत्य सयोग नष्ट हो जायगा। और अग्रवर्ती उक्त दलीय-विभाग होगा कपालाकाश-विभाग के समान अनारम्भक-सयोग का विरोधी विभाग। क्योकि अग्रभागीय उक्त दल सयोग को अनारम्भक इसलिए मानना होगा कि प्रतिदिन सूर्य किरण के सम्पर्क से खिलते समय विभाग होने के कारण अग्रभागीय दल सयोगो के वारम्वार नष्ट होते हुए भी कमल-फूल का विनाश तब तक नही होता है, जब तक निम्नवर्त्ती उक्त आरम्भक दलीय-सयोग नष्ट नही हो जाता वहाँ दलो का विभाग होकर। ऐसी परिस्थिति मे एक कर्म को कपाल-कपाल विभाग और कपालाकाश-विभाग दोना का विनाशक मानने पर एक कर्म को उक्त कमल-पुष्पगत दोनो विभागो का भी उत्पादक मानना होगा। और ऐसा होने पर सूर्योदय के समय किरण-सम्पर्क से अग्रभागीय दल-विभाग होने पर स्वत दलीय-निम्नभागो मे भी विभाग हो जायगा। क्योकि दोनो विभागो—कारण, कर्म एक मान्य होने कारण निम्नभागीय दल-विभाग को कोई रोक नही सकता। कारण के रहने पर कार्य का होना उचित ही है। उक्त दार्शनिको का कहना है कि परिस्थिति किन्तु ऐसी देखी नही जाती, अत एक कर्म को आरम्भक-सयोग का विरोधी विभाग और अनारम्भक-सयोग का विरोधी विभाग इन दोनो का उत्पादक नही माना जा सकता। अत

गत बहुत्व के आधार पर ज्येष्ठता का और तादृश क्रियागत अल्पता के आधार पर कनिष्ठता का बोध एव वाक्य-प्रयोगस्वरूप व्यवहार सम्पन्न हो सकता है और मध्यवर्त्ती भूतगत बहुत्व के आधार पर दूरत्व और मध्यवर्त्ती भूतगत अल्पत्व के आधार पर निकटत्व का बोध एव वाक्य प्रयोग भी उपपन्न हो सकता है। अत परत्व और अपरत्व गुण नही मान्य है।

चार्वाक-मत और बुद्धि

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान आदि शब्द पर्यायवाची[१२२] है। न्याय के प्रवर्त्तक गौतम ने भी कहा कि ये अर्थान्तर नही है। इस ज्ञान का विस्तृत भाव से विवेचन "प्रमाण", "प्रमा", "अप्रमा" आदि रूपो मे किया जा चुका है। फिर भी इस पर कुछ और प्रकाश डालना अच्छा होगा। क्योकि इसी के सम्बन्ध मे चार्वाक-दर्शन का अपना मौलिक-निर्णय अन्य दार्शनिको के एतत्सम्बन्धी मौलिक-निर्णय से विशेषत टकराता है। इसलिए दर्शनान्तर से इस दर्शन को प्राप्त होने वाले विरोधो का सूत्रपात इस ज्ञान-सम्बन्धी मान्यता से ही होता है। यह बात यो तो विवेचन के द्वारा विस्तारपूर्वक बतलायी जा चुकी है कि चार्वाकसिद्धान्त अद्वैत भूत से अतिरिक्त ज्ञान की सत्ता नही मानता। इसका कहना यह है कि प्रत्येक भौतिक कण चेतन है। भौतिक विशिष्ट-परिस्थिति के कारण जब वह सुप्त भौतिक-चेतना जग उठती है तब वह सघटित भौतिक-पिण्ड चेतन प्राणी आदि शब्दो से कहा जाता है। इसलिए जड-अजड और चेतन-अचेतन विभाग भौतिक चैतन्य के स्फुटत्व एव अस्फुटत्व पर ही आधारित है। इसलिए अन्य दार्शनिक लोग ज्ञान की स्वतन्त्रता एव जड की स्वतन्त्र सत्ता मानने का जो आग्रह रखते है वह ठीक नही है। जिसे लोग भारतीय सनातन धर्म कहते है, और जिसे लोग अपने दैनन्दिन जीवन के उपयोग म लाते है, उनके ऊपर गहराई के साथ दृक्पात करने पर यह चार्वाक-दर्शन ही सनातन जीवन-दर्शनसिद्ध होता है। उदाहरण के रूप मे समान धार्मिक-मर्यादा के अन्दर आने वाले शिवपूजन को ही लिया जाय। शिव पूजन किसी भी प्रकार का क्यो न हो उसका आधार पार्थिव पिण्ड ही होता है। उस पार्थिव पूज्य पिण्ड का यदि चेतन न मान लिया जाय तो उसका पूजन या उससे लाभ की कल्पना सर्वथा अनुचित होगी। शैव सम्प्रदाय के अन्दर, अनेक लिंग-पिण्ड मे चैतन्यस्वरूप शिव के आविर्भाव की कथा प्रचुर रूप मे शैव-साहित्य के अन्दर पायी जाती है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिवपूजन आदि की प्रथा भूतचैतन्यवादी चार्वाक-सिद्धान्त के आधार पर ही प्रचलित हुई थी, और आज तक यदि यह प्रथा अविच्छिन्न रूप से चली आती हुई आ रही

(१२२) बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।१५। —न्यायदर्शन, अध्याय१आ१।

ओर ध्यान देने पर भी भूतचैतन्य की मान्यता का आभास मिलता हुआ पाया जाता है। क्योंकि भव शब्द है समग्र-समारवाची। यह सारा ससार भूतभौतिक के अतिरिक्त और क्या है ? अत भारतीय सनातन परम्परा मे यदि "भव" को विद्याओ का अधिष्ठाता शिवस्वरूप मानना है तो यह मानना ही होगा कि समग्र जगत् चेतन है। यदि यह कहा जाय कि शिववाची भव शब्द का अर्थ है—"जिससे ससार की उत्पत्ति हो"। इसलिए भव का अर्थ ससार लेकर सबको चेतन नही कहा जा सकता तो इस पर व्यक्तव्य यह होगा कि इस व्याख्या के अनुसार भी भूतचैतन्य की ही पुष्टि होती है। क्योंकि इस दृश्य समग्र भौतिक जगत् का उत्पादन भूत छोडकर और किससे होता है ? और अन्य किससे हो सकता है ? अत भव पद से प्रकृत चार्वाकीय मौलिक-महासमवायात्मक-भूत ही प्राप्त होता है, जिसकी चर्चा विस्तार और युक्ति के साथ की जा चुकी है। अत भौतिक जगत् के उत्पादक "भव" को चेतन मानने पर भी भूत चैतन्य ही मान्य निर्णीत होता है। और ऐसा मानने पर ही शैव-उपासना की भारतीय-परम्परा मे शिव को क्षिति मूर्ति, जल मूर्त्ति, तेजो मूर्त्ति रूप से की जाने वाली उपासना सगत होती है। यदि कुछ लोग यहाँ यह कहे कि ससारात्मक इस भव का उत्पादक भव जगत् का उपादान स्वरूप नही विवक्षित है किन्तु घडे का उत्पादक कुम्हार आदि की तरह निमित्त-कारण विवक्षित है। अत उक्त कथन के अनुसार भूतचैतन्य नही सिद्ध होता है। तो यह कथन इसलिए सगत नही होगा कि तब तो उस जगत् के निर्माता को शरीरी मानना होगा

रूप से स्वीकृत इन्द्र को जो जगह-जगह आख्यायिकाओ के द्वारा "सहस्राक्ष" कहा गया है वह कथन भी इस बात को पुष्ट करता प्रतीत होता है। प्राचीन राजनीति-सम्बन्धी ग्रन्थो के अन्दर यह भी कथित पाया जाता है कि राजा और सम्पूर्ण राष्ट्र ये दोनो मिलित रूप मे एक शरीर रूप मे मान्य हैं। इससे भी इसकी पुष्टि होती है राजनीति मे दूसरो की आँखो को दूसरो की आँखे माना गया है। ऐसी परिस्थिति मे सारे विषयो को प्रत्यक्षसिद्ध और सारे ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहने का अवसर प्राप्त हो पाता है। यदि थोडी देर के लिए ऐसा भी विषय मान लिया जाय जिसे किसी ने देखा न हो, फिर भी उसमे प्रत्यक्ष की स्वरूप-योग्यता तो होती ही है। वस्तुत योगज और सामान्यलक्षणाजन्य तथा ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष मानने पर कोई वस्तु अप्रत्यक्ष नही हो सकती, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। ज्ञान और क्रिया दोनो ही तत्त्वत मूत से अभिन्न हैं इस दृष्टि-कोण से ज्ञान को अस्फुट क्रिया भी कहा जा सकता है।

चार्वाक मत मे इच्छा भी ज्ञान ही—

रूप से स्वीकृत इन्द्र को जो जगह-जगह आख्यायिकाओ के द्वारा "सहस्राक्ष" कहा गया है वह कथन भी इस बात को पुष्ट करता प्रतीत होता है। प्राचीन राजनीति-सम्बन्धी ग्रन्थो के अन्दर यह भी कथित पाया जाता है कि राजा और सम्पूर्ण राष्ट्र ये दोनो मिलित रूप में एक शरीर रूप मे मान्य हैं। इससे भी इसकी पुष्टि होती है राजनीति मे दूसरो की आँखो को दूसरो की आँखे माना गया है। ऐसी परिस्थिति मे सारे विषयो को प्रत्यक्षसिद्ध और सारे ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहने का अवसर प्राप्त हो पाता है। यदि थोडी देर के लिए ऐसा भी विषय मान लिया जाय जिसे किसी ने देखा न हो, फिर भी उसमे प्रत्यक्ष की स्वरूप-योग्यता तो होती ही है। वस्तुत योगज और सामान्यलक्षणाजन्य तथा ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष मानने पर कोई वस्तु अप्रत्यक्ष नही हो सकती, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। ज्ञान और क्रिया दोनो ही तत्त्वत मूल से अभिन्न है इस दृष्टि-कोण से ज्ञान को अस्फुट क्रिया भी कहा जा सकता है।

चार्वाक मत मे इच्छा भी ज्ञान ही—

नैयायिको एव वैशेषिको[200] ने इच्छा को भी स्वतन्त्ररूप से मान्य, वर्णित अन्य गुणो की तरह एक स्वतन्त्र गुण माना है। उनका कहना है कि वस्तुगत सौन्दर्य से आकृष्ट व्यक्ति उस वस्तु को चाहता है कि "यह मुझे प्राप्त हो"। यह चाह है इच्छा। इसे वे लोग ज्ञान न मान कर एक स्वतन्त्र गुण इसलिए मानते है कि यह उनके मत मे ज्ञान से उत्पन्न होती है। कारण और कार्य दोनो एक नही हो सकते। इसलिए उन्हे इच्छा को ज्ञान से अतिरिक्त मानना पडता है। साथ ही उन लोगो के सिद्धान्त मे ज्ञान क्षणिक है अत तृतीय क्षण मे उसका नाश अवश्य होता है। पूरा नही अधूरा ही सही किन्तु ज्ञान के अस्तित्व की मात्रा के सम्बन्ध मे वे लोग क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्धो के सिद्धान्त से बहुत कुछ प्रभावित है। उक्त बौद्ध लोग ज्ञान को भी एक क्षण मात्र सम्बद्ध मानते हैं, द्वितीय क्षण मे उनका ज्ञान रह पाता नही। नैयायिक और वैशेषिक, ज्ञान का नाश तृतीय क्षण मे मानते है। इसीलिए अन्य दार्शनिको ने नैयायिको और वैशेषिको "अर्धवैनाशिक" कह कर उनका उपहास किया है। यही कारण है कि वे इच्छा को ज्ञान से उत्पन्न होने वाली मानते है ज्ञान नही। परन्तु प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इच्छा को भी ज्ञान ही मानना उचित है। ज्ञान का क्षणिकत्व यहा मान्य नही है। वस्तुगत सौन्दर्य का प्रभाव प्राणियो के मस्तिष्क पर पडने पर वही ज्ञान [illegible] कि विषय का प्रकाशन

(२००) निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते ।
इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥ —भाषा परिच्छेद ।

रूप मे स्वीकृत इन्द्र को जो जगह-जगह आख्यायिकाओ के द्वारा "सहस्राक्ष" कहा गया है वह कथन भी इस बात को पुष्ट करता प्रतीत होता है। प्राचीन राजनीति-सम्बन्धी ग्रन्थो के अन्दर यह भी कथित पाया जाता है कि राजा और सम्पूर्ण राष्ट्र ये दोनो मिलित रूप मे एक शरीर रूप मे मान्य है। इससे भी इसकी पुष्टि होती है राजनीति मे दूसरो की आँखो को दूसरो की आँखे माना गया है। ऐसी परिस्थिति मे सारे विषयो को प्रत्यक्षसिद्ध और सारे ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहने का अवसर प्राप्त हो पाता है। यदि थोडी देर के लिए ऐसा भी विषय मान लिया जाय जिसे किसी ने देखा न हो, फिर भी उसमे प्रत्यक्ष की स्वरूप-योग्यता तो होती ही है। वस्तुत योगज और सामान्यलक्षणाजन्य तथा ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष मानने पर कोई वस्तु अप्रत्यक्ष नही हो सकती, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। ज्ञान और क्रिया दोनो ही तत्त्वत भूत से अभिन्न है इस दृष्टिकोण से ज्ञान को अस्फुट क्रिया भी कहा जा सकता है।

चार्वाक मत मे इच्छा भी ज्ञान ही—

नैयायिको एव वैशेपिको[२००] ने इच्छा को भी स्वतन्त्ररूप से मान्य, वर्णित अन्य गुणो की तरह एक स्वतन्त्र गुण माना है। उनका कहना है कि वस्तुगत सौन्दर्य से आकृष्ट व्यक्ति उस वस्तु को चाहता है कि "यह मुझे प्राप्त हो"। यह चाह है इच्छा। इसे वे लोग ज्ञान न मान कर एक स्वतन्त्र गुण इसलिए मानते है कि यह उनके मत म ज्ञान मे उत्पन्न होती है। कारण और कार्य दोनो एक नही हो सकते। इसलिए उन्हे इच्छा को ज्ञान से अतिरिक्त मानना पडता है। साथ ही उन लोगो के सिद्धान्त मे ज्ञान क्षणिक है अत तृतीय क्षण मे उसका नाश अवश्य होता है। पूरा नही अधूरा ही सही किन्तु ज्ञान के अस्तित्व की मात्रा के सम्बन्ध मे वे लोग क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्धो के सिद्धान्त से बहुत कुछ प्रभावित है। उक्त बौद्ध लोग ज्ञान को भी एक क्षण मात्र सम्बद्ध मानते है, द्वितीय क्षण मे उनका ज्ञान रह पाता नही। नैयायिक और वैशेषिक, ज्ञान का नाश तृतीय क्षण मे मानते है। इसीलिए अन्य दार्शनिको ने नैयायिको और वैशेषिको "अर्ध वैनाशिक" कह कर उनका उपहास किया है। यही कारण है कि वे इच्छा को ज्ञान से उत्पन्न होने वाली मानते है ज्ञान नही। परन्तु प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इच्छा को भी ज्ञान ही मानना उचित है। ज्ञान का क्षणिकत्व यहा मान्य नही है। वस्तुगत सौन्दर्य का प्रभाव प्राणियो के मस्तिष्क पर पडने पर वही ज्ञान जो कि विषय का प्रकाशन

(२००) निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते।
इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि॥ —भाषा परिच्छेद।

स्यूततया मान्य अद्वैत-ब्रह्म की ओर ध्यान देने पर भी प्रकृत भूत-चैतन्य का अभ्युपगम निकटवर्त्ती प्रतीत होता है। अपने नित्य चैतन्यस्वरूप ब्रह्म को जब कि वे सर्वानुस्यूत सर्वान्तिर्यामी मानते है। यहाँ तक कि प्रत्येक विषय को भी विषयावच्छिन्न-चैतन्य कहते है। तो नित्य चैतन्य का सम्बन्ध सभी भूत भौतिको मे मानते ही है। यदि यह कहा जाय कि वे तो जगत् को नित्य चैतन्य मे अध्यस्त मानते है, आरोपित मानते है, जगत् को सत्य तो मानते नही ? तो यह कथन भी सगत इसलिए नही होगा कि अधिष्ठान की और आरोप्य की सत्ता जब कि वे एक मानते है तब जगत् भी असत् नही, सत् ही हो जाता है। फलत उनका मिथ्यात्व एक प्रकार पारिभाषिक मात्र होकर रह जाता है। इसलिए जगत् शब्द से न कहा जाय ब्रह्म शब्द से ही सही, किन्तु भूत-भौतिकात्मक जगत् की सार्वदिक सत्ता वहाँ भी मान्य ही है। दूसरी बात यह कि ज्ञान जब भूत से अत्यन्त भिन्न रूप मे अत्यन्त असम्पृक्त रूप में कभी पाया नही जाता तो ज्ञान से भूतो को और भूतो से ज्ञान को अलग किस दृष्टान्त के सहारे सिद्ध किया जा सकता ? इसलिए ज्ञान और भूत इन दोनो को सदा सन्निहित सदा सम्मिलित सदा एक समवायान्तर्गत मानना ही होगा। और प्राचीन वेदान्ती तो ब्रह्म-परिणामवादी थे। वे जगत् को शुक्ति-रूप्य या रज्जुसर्प के तुल्य नही मानते थे। उनका मतवाद तो चार्वाकीय-मतवाद का अत्यन्त निकट था। इसलिए चैतन्यात्मक ज्ञान भूत का ही स्वभाव है इसे मानना ही उचित है। यह भूत-स्वभावभूत-ज्ञान केवल प्रत्यक्षात्मक ही है अन्य नही। क्योकि मन को ही इन्द्रियतया प्रतिपादित होने के कारण अन्य दार्शनिको द्वारा मान्यता प्राप्त सारे ज्ञान यहाँ वस्तुत प्रत्यक्ष ही हो जाते है यह बात विस्तारपूर्वक बतलायी जा चुकी है। सम्भव है कि यहाँ कुछ लोगो द्वारा यह प्रश्न उठाया जाय कि ज्ञान-मात्र को प्रत्यक्ष मानने का प्रयोजन यहाँ क्या था ? तो इसका मुख्य उत्तर तो है वास्तविक-स्थिति। जिसका दिग्दर्शन प्रत्यक्षविचार के अवसर पर विस्तृत-भाव से कराया जा चुका है। तदतिरिक्त एक कारण यह भी समझना चाहिए कि इस दर्शन को दण्डदर्शन पहले कहा जा चुका है। दण्डनीति मे दूसरो की आंखो को भी अपनी आँख मानना पडता है। यदि ऐसा न हो तो साक्षी के देखे हुए को न्यायाधीश अपना देखा नही मान सकता। और ऐसा न होने पर दण्डनापन्न कठिन-से कठिन दण्ड तक की, फलत प्राणदण्ड तक की व्यवस्था नही दे सकता। इस प्रकार युक्ति के अनुसार मान्यता की दृष्टि मे सभी प्राणी के प्रत्यक्ष एक हो जाते है तो सारी वस्तुए मान्यता की दृष्टि मे सबके लिए प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है। ऐसी भला कौन-सी वस्तु हो सकती, जो कि किसी भी प्राणी से देखी न जाती हो ? अत इस दृष्टि से भी प्रत्यक्षमात्र ज्ञान माना जा सकता है। राजा चार-चक्षु शब्द से भारतीय परम्परा मे सदा से कहा जाता हुआ आ रहा है, इससे भी इस बात की पुष्टि होती है। राजा

रूप से स्वीकृत इन्द्र को जो जगह-जगह आख्यायिकाओ के द्वारा "सहस्राक्ष" कहा गया है वह कथन भी इस बात को पुष्ट करता प्रतीत होता है। प्राचीन राजनीति-सम्बन्धी ग्रन्थो के अन्दर यह भी कथित पाया जाता है कि राजा और सम्पूर्ण राष्ट्र ये दोनो मिलित रूप में एक शरीर रूप मे मान्य हैं। इससे भी इसकी पुष्टि होती है राजनीति मे दूसरो की आँखो को दूसरो की आँखे माना गया है। ऐसी परिस्थिति मे सारे विषयो को प्रत्यक्षसिद्ध और सारे ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहने का अवसर प्राप्त हो पाता है। यदि थोडी देर के लिए ऐसा भी विषय मान लिया जाय जिसे किसी ने देखा न हो, फिर भी उसमे प्रत्यक्ष की स्वरूप-योग्यता तो होती ही है। वस्तुत योगज और सामान्यलक्षणाजन्य तथा ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष मानने पर कोई वस्तु अप्रत्यक्ष नही हो सकती, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। ज्ञान और क्रिया दोनो ही तत्वत भूत से अभिन्न हैं इस दृष्टि-कोण से ज्ञान को अस्फुट क्रिया भी कहा जा सकता है।

चार्वाक मत मे इच्छा भी ज्ञान ही—

नैयायिको एव वैशेपिको[२००] ने इच्छा को भी स्वतन्त्ररूप से मान्य, वर्णित अन्य गुणो की तरह एक स्वतन्त्र गुण माना है। उनका कहना है कि वस्तुगत सौन्दर्य से आकृष्ट व्यक्ति उस वस्तु को चाहता है कि "यह मुझे प्राप्त हो"। यह चाह है इच्छा। इसे वे लोग ज्ञान न मान कर एक स्वतन्त्र गुण इसलिए मानते हैं कि यह उनके मत मे ज्ञान से उत्पन्न होती है। कारण और कार्य दोनो एक नही हो सकते। इसलिए उन्हे इच्छा को ज्ञान से अतिरिक्त मानना पडता है। साथ ही उन लोगो के सिद्धान्त मे ज्ञान क्षणिक है अत तृतीय क्षण मे उसका नाश अवश्य होता है। पूरा नही अधूरा ही सही किन्तु ज्ञान के अस्तित्व की मात्रा के सम्बन्ध मे वे लोग क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्धो के सिद्धान्त से वहुत कुछ प्रभावित हैं। उक्त बौद्ध लोग ज्ञान को भी एक क्षण मात्र सम्बद्ध मानते हैं, द्वितीय क्षण मे उनका ज्ञान रह पाता नही। नैयायिक और वैशेषिक,ज्ञान का नाश तृतीय क्षण मे मानते हैं। इसीलिए अन्य दार्शनिको ने नैयायिको और वैशेषिको "अर्ध वैनाशिक' कह कर उनका उपहास किया है। यही कारण है कि वे इच्छा को ज्ञान से उत्पन्न होने वाली मानते हैं ज्ञान नही। परन्तु प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इच्छा को भी ज्ञान ही मानना उचित है। ज्ञान का क्षणिकत्व यहाँ मान्य नही है। वस्तुगत सौन्दर्य का प्रभाव प्राणियो के मस्तिष्क पर पडने पर वही ज्ञान जो कि विषय का प्रकाशन

(२००) निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते।
इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधी यदि॥ —भाषा परिच्छेद।

मान करता है इच्छा का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। अर्थात् "यह मुझे प्राप्त हो" या "ऐसा मुझे भी मिले" ऐसा हो जाता है। जहाँ नैयायिक और वैशेषिक लोग नियमत ज्ञान का धारावहन मानते हैं वहाँ उसके विरुद्ध अनेक काल स्थायी एक ज्ञान अन्य दार्शनिकों ने भी माना है। जब ज्ञान की अनेक कालस्थायिता मान ली जाय, तब क्यो इच्छा को एक स्वतन्त्र गुण माना जाय ? हा, एक बात यह अवश्य इच्छा के सम्बन्ध मे मान्य है कि इसे अस्फुट चैतन्यात्मक नही मानना है। यह नियमत स्फुट ही होता है और स्फुट चैतन्य ही कुछ और स्फुट होता हुआ अपेक्षित रूप मे भावी सम्पर्क को भी विषय करता हुआ इच्छा आदि नामो से कथित होता है। यद्यपि साख्य और वेदान्तसिद्धान्त भी इच्छा को अन्त करण की ही वृत्ति मान कर कुछ इसी प्रकार का दिग्दर्शन कराता हुआ पाया जाता है किन्तु उससे महान् पार्थक्य यह यहाँ ज्ञातव्य है कि उन दोनो सिद्धान्तो के अन्दर ज्ञान, इच्छा आदि को अन्त करण की वृत्ति मान कर स्पष्ट रूप से अन्त करण का ही धर्म इन्हें माना गया है ओर यहाँ अन्त करण पर वस्तु का प्रभाव पडने पर भूतात्मास्वरूप समग्र शरीर मे व्याप्त चैतन्य का क्रमश ज्ञान, इच्छा आदि रूपो मे स्फुटीभाव मान्य है।

चार्वाक मत मे द्वेष भी स्वतन्त्र गुण नही——

देखी जाती है उस तरलता का अपर नाम है द्रवत्व। यह द्रवत्व गुण दो प्रकारो का होता है सासिद्धिक और नैमित्तिक। उनका कहना है कि सासिद्धिक द्रवत्व जल में होता है और नैमित्तिक द्रव्यत्व पृथिवी और तेज मे। घी, तेल, लाह आदि पार्थिव द्रव्यों में द्रवत्व नैमित्तिक होता है। क्योकि विलक्षणताप मे ये द्रवीभूत होते हैं और उनके अभाव मे ये जम जाते हैं यह प्रत्यक्ष दृष्ट है। तेज मे वे लोग द्रवत्व इसलिए मानते है कि सोने को भी पार्थिव न मानकर एक प्रकार तेज ही मानते हैं। और सोने मे विलक्षण-तापप्रयुक्त होनेवाला द्रवीभाव देखा ही जाता है। परन्तु इस चार्वाकसिद्धान्त मे द्रवत्व स्वतन्त्र गुण ही नही मान्य है। क्योकि विचारपूर्वक देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो सकता है कि द्रवत्व अवयवो की विरलता के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस विरलता को जल आदिगत सयोग-शैथिल्य भलीभाँति कहा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि बरफ आदि जलगतकण जब वैरल्यानुकूल ताप के अभाव के कारण आपस मे पूर्ण रूप मे चिपक जाते है, घनीभूत हो जाते है तब शिथिल सयोगात्मक वैरल्य उन कणो मे रहता नही, अत वे तरल, द्रवीभूत, प्रत्यक्षगाचर नही होते हैं। और जब उनके अन्दर शिथिल-सयोगात्मक-वैरल्यानुकूल ताप प्राप्त होता है तब उक्त शिथिल-सयोगात्मक-वैरल्य उन जलकणो मे रह नही पाता अत वैरल्य-विरोधी घनीभाव अर्थात् एक प्रकार अतिशयित सयोग उन जलकणो मे हो जाता है। अत वहाँ का वह समवायात्मक जल, करक हिम, ओला आदि विभिन्न नामो से कथित होता है। अत द्रवत्व नामक कोई स्वतन्त्र गुण यहाँ मान्य नही है। इस विवेचन के अनुसार द्रवत्व-गुण का ही खण्डन हो जाने पर सासिद्धिक-द्रवत्व और नैमित्तिक-द्रवत्व और तदनुसार उक्त तदाश्रय का विभाजन आदि सभी स्वत खण्डित हो जाते है। यदि यह कहा जाय कि द्रवत्व स्वतन्त्र गुण भले ही न हो वह सयोग-वैरल्य ही हो सही, फिर भी उसकी सासिद्धिकता और नैमित्तिकता जो कि प्रत्यक्ष दृष्ट है मान्य ही होगी। तो इसके सम्बन्ध मे भी ज्ञातव्य यह है कि गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह मानना ही होगा कि तारल्य एव घनीभाव दोनो ही विभिन्न तापात्मक निमित्त-प्रयुक्त प्राप्त होते है। अत तारल्यात्मक अर्थात् अवयव-वैरल्यात्मक किसी भी द्रवत्व को सासिद्धिक नही कहा जा सकता। जिस द्रवत्व को नैयायिक एव वैशेषिक लोग स्वाभाविक कहते है विचार करने पर वह भी नैमित्तिक ही स्थिर होता है। एक बात यहाँ और भी यह ध्यान रखने की है कि यहा सोना तेज नही पार्थिव ही मान्य है जैसा कि परवर्ती नैयायिक एव वैशेषिको ने भी माना है। अत तेज मे उक्त द्रवत्व बिलकुल मान्य नही है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि सभी द्रवत्व को नैमित्तिक अर्थात् ताप-प्रयुक्त बतलाया जा चुका है। अब यदि तापात्मक तेज मे भी द्रवत्व माना जाय तो उसकी नैमित्तिकता के आधार पर अनवस्था आपन्न हो पडेगी।

चार्वाक-मत मे स्नेह भी स्वतन्त्रगुण नही—

नैयायिक एव वैशेषिक विवेचको ने गुणो के अन्दर स्नेह को भी एक स्वतन्त्र स्थान दिया है। इस स्नेह गुण का परिचय देते हुए उन लोगो ने यह कहा कि—आटा' मृत्-चूर्ण आदि मे उपयुक्त मात्रा मे जल मिलाने पर आटा के या मिट्टी आदि के कण इस प्रकार आपस मे चिपक जाते है कि एक देशधारण से समग्र का धारण एव एक देश के आकर्षण से समग्र का आकर्षण होता हुआ पाया जाता है। इस विलक्षण परिस्थिति को देखते हुए उसके सम्पादक रूप मे केवल जल मे ही रहने वाला 'स्नेह" नामक गुण अवश्य मान्य है। परन्तु प्रकृत चार्वाकीय दृष्टिकोण मे देखने पर इस स्नेह-गुण को एक स्वतन्त्र गुण मानना उचित नही प्रतीत होता है। क्योकि उक्त प्रकार जलगत अवयव वैरल्यात्मक द्रवत्व की मान्यता के कारण उक्त एक-देशधारण-स्थलीय समग्र-धारण एव एक देश आकर्षणस्थलीय समग्र का आकर्षण उपपन्न किया जा सकता है। अत स्नेह को एक स्वतन्त्र गुण मानने का कोई प्रयोजन नही रह जाता है। कुछ लोग यदि यह कहें कि द्रवत्व को स्नेह का स्थान इसलिए नही दिया जा सकता कि आटा या मृत् चूर्ण मे गलाये हुए काँच को डालने पर या गलाये हुए स्वर्ण आदि धातुओं को डालने पर पिण्डीभाव नही हो पाता है। और इसीलिए वहाँ एक-देशधारण से समग्र का धारण या एक देश-आकर्षण से समग्र का आकर्षण भी होता हुआ नही देखा जाता है। स्नेहजल मात्र मे होने के कारण जलसयोग होने पर—एक-देशधारण से समग्र-धारण एव एक देशआकर्षण से समग्र का आकर्षणानुकूल पारस्परिक सयोग होता है। पिण्डीभाव होता है। अत स्नेह को जलमात्रगत गुणरूप मे मान्यता अनिवार्य है। तो इसके उत्तर मे यह भलीभाँति कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार वैरल्यात्मक-द्रवत्वयुक्त जलसयोग को उक्त प्रकार धारणाकर्षण के प्रति अनुकूल होने वाले पिण्डीभाव के प्रति कारण मान लेने पर अनायास द्रुत काँच के एव द्रुत सुवर्ण आदि के सयोग से मृत्चूर्ण आदि में पिण्डीभाव क्यो नही हो पाता ? एव तत्प्रयुक्त एक देशधारण से समग्रधारण एव एक देश आकर्षण से समग्राकर्षण क्यो नही होता ? यह प्रश्न अनायास उत्तर पा जाता है कि उक्त प्रकार पिण्डीभाव का कारण जब कि द्रुत जल सयोग को माना जा रहा है तब काँच, स्वर्ण आदि पार्थिव होने के कारण जल नही हो सकता। अत उक्त प्रकार जल सयोगात्मक कारण के अभाव के कारण वहाँ पिण्डी भाव एव तत्प्रयुक्त रूप मे होने वाले धारण एव आकर्षण का अभाव उचित कहा जा सकता है। इसलिए स्नेह अतिरिक्त गुणरूप मे मान्य नही ठहराया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि घृत, तेल आदि में होने वाली स्निग्धता की प्रतीति

(२०४) चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुण स्नेह । —तर्क-संग्रह ।

एव तदनुरूप प्रामाणिक वाक्य-प्रयोगात्मक व्यवहार स्नेह को स्वतन्त्र गुण माने विना सम्भव नही है अत जलगत स्नेह गुण मान्य है। तो यह कथन इसलिए समार नही होगा कि स्नेह को स्वतन्त्र गुण माननेवाले तेल, घृत आदि को जल तो मानते नही। फिर उक्त प्रतीति एव व्यवहार मे सिद्ध होने वाला स्नेह जलमात्रगत कैसे हो पायेगा ? यदि यह कहा जाय कि वह स्नेह घृत, तेल आदिगत जल का होता है तो यह इसलिए ठीक नही होगा कि तब केवल जल मे स्निग्धता की अधिक प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नही तेल, घृत आदि मे ही अधिक स्निग्धता की प्रतीति आदि होते है।

चार्वाक मत और सुख--

अन्य सासारिक वस्तुओ की इच्छा जिसकी इच्छा होने के कारण[205] होती हे वह भावात्मक वस्तु है सुख। कहने का तात्पर्य यह कि घर, भोजन, कपडे, लत्ते आदि वस्तुओ को कोई क्यो चाहता है ? इसीलिए तो, कि जीवन सुखमय हो ? अत इस वस्तु-स्थिति के अनुसार यह मानना ही होगा कि सुख शरीरात्मा का एक आगन्तुक भाव ह और इसीलिए वह उसका गुण है। यह वात नही कही जा सकती कि उक्त वस्तुओ की इच्छाएँ तो दु खाभाव की इच्छा के कारण भी हो सकती है, ऐसी परिस्थिति मे या तो उक्त परिभाषा के अनुसार सुख को दु ख का अभावात्मक मानना होगा या सुख की उक्त परिभाषा त्याज्य होगी। तो इसके उत्तर मे वक्तव्य यह होगा कि सुख को दु ख का अभाव इसलिए नही कहा जा सकता कि फिर दु ख को ही सुख का अभावस्वरूप क्यो न माना जाय ? इसका उचित उत्तर दिया नही जा सकता। यदि यह कहा जाय कि ऐसा ही मान लिया जाय तो क्षति क्या होगी ? तो यह कथन इसलिए उचित नही हो पायेगा कि ऐसा मानने पर "अन्योन्याश्रय" जिसे अन्य शब्द मे "परस्पराश्रय" कहा जाता है अनिवार्य हो उठेगा। क्योकि अभाव का ज्ञान नियमत प्रतियोगिज्ञान-सापेक्ष हुआ करता है। अत दु ख को समझे विना दु खाभावस्वरूप सुख नही समझा जा सकेगा और सुख को समझे विना सुखाभावस्वरूप दु ख को नही समझा जा सकेगा। जिसका कुफल यह हो बैठेगा कि कोई भी व्यक्ति न तो सुख का अनुभव कर पायेगा और और न दु ख का। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है नही, प्रत्येक मानव ही नही, प्रत्येक प्राणी सुख और दु ख का अनुभव करता है, यह उसकी विभिन्नकालिक शारीरिक परिस्थिति को देखते हुए ज्ञात होता है। अत सुख को दु ख का अभाव न मान कर एक स्वतन्त्र आत्मगुण ही मानना उचित है। दूसरी वात इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य यह है कि

(२०५) इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्व सुखस्य लक्षणम्। —तर्कसग्रह न्या० बो० २५

सुख को दु ख का अभाव मानने पर सुख का भान नियमन दु खविषयक भी बन बैठेगा। कहने का तात्पर्य यह कि अभाव कभी निष्प्रतियोगिक रूप मे प्रतीत नही होता। प्रतियोगी से सहित रूप में ही प्रतीत होता है। किसी भी ज्ञान मे घट का विषयीकरण न होते हुए उसके अभाव का विषयीकरण कभी नही होता। किन्तु सुखानुभव के समय प्राणी दु ख का अनुभव बिलकुल नही करता है इसलिए भी सुख को दु ख का अभाव नहीं कहा जा सकता। नैयायिको एव वैशेषिको ने जो सरल रूप से सुख का परिचय देते हुए यह कहा है कि "जिसे सब चाहे वह है सुख" यह उनका कथन इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि फिर तो शरीरात्माओ मे उक्त सुखलक्षण अतिव्याप्त हो बैठेगा। क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपनी शरीरस्थिति का इच्छुक होता है। न्यायवैशेषिक मत मे धर्म और धर्मी अभिन्न भी नही माने जाते कि उक्त आपत्ति अभ्युपगम्य कही जा सके। साथ ही दु ख के अभाव मे भी उक्त सुखलक्षण अतिव्याप्त हो उठेगा। क्योकि सुख की इच्छा की तरह समग्र प्राणी को दु ख के अभाव की भी इच्छा होती है।

चार्वाक-मत और दु ख--

दु ख गुण का परिचय नैयायिको एव वैशेषिको ने इस प्रकार दिया है कि "जो सबके लिए[२०६] प्रतिकूल हो, अर्थात् जिसे कोई न चाहे वह है दु ख। यह उनका निर्वचन इसलिए मान्य नही है कि दु ख को न चाहनेवाला दु खो के साधनो को भी तो नही चाहता है? अत उक्त दु ख का निर्वचन दु ख साधन अहिकण्टक आदि मे अतिव्याप्त हो उठेगा। यदि यह कहा जाय कि प्राणी दु ख के साधनो को इसलिए नही चाहता है कि उन साधनो से प्राप्त होने वाले दु ख को वह चाहता नही। तो फिर तदनुरूप ही निर्वचन दु ख का करना चाहिए। अर्थात् दु ख का निर्वचन इस प्रकार करना चाहिए कि 'जिसे न चाहने के कारण उसके साधनो को भी न चाहा जाय वह है दु ख। इस कथन का अभिप्रेत अर्थ यह समझना चाहिए कि "जिसके सम्बन्ध मे होने वाली अनिच्छा अन्य विषय मे होने वाली अनिच्छा के अधीन न हो, वह है दु ख" अभिप्राय यह कि दु ख को स्वत नही चाहता है प्राणी, और दु ख के प्रति साधन होने वालो को इसलिए नही चाहता कि उनसे अनिवार्य रूप मे होने वाले दु ख को वह चाहता नही। अत यह मानना ही होगा कि "ससार मे ऐसी वस्तु केवल दु ख ही है जिसको प्राणी स्वत नही चाहता है। अत दु ख का यह निर्वचन सर्वथा उचित माना जायगा कि "प्राणी जिसे स्वत नही चाहे वह है दु ख। दु ख को सुख का अभाव क्यों

(२०६) अधर्मजन्य दु खस्यात् प्रतिकूल सचेतसाम् —भाषा-परिच्छेद।
सर्वेषा प्रतिकूल-वेदनीय दु खम्। —तर्कसग्रह।

न माना जाय ? इस प्रश्न का उत्तर विहित सुख-विचार के अवसर पर किये गये सुख के दु खाभावरूपत्व-खण्डन के आधार पर दातव्य है। साराश यह कि दु ख को सुखाभाव मानने पर तुल्ययुक्तिप्रयुक्त सुख को भी दु ख का अभाव मानना होगा। और उसे भी स्वीकार करने पर अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो उठेगा। अधिकतर वैशेषिक-लोग यथासम्भव वस्तुओ का निर्वचन असाधारण जाति के आधार पर किया करते है। तदनुसार दु ख का भी निर्वचन वे इस प्रकार कर सकते है कि दु खत्व जाति जिसमे रहे वह है दु ख। परन्तु इस प्रकार के निर्वचन का आदर इसलिए नही किया जा सकता कि यहाँ गुण और गुणी की तरह तत्त्वत जाति और जातिमान् रूप से प्रतीत होने वाले, इन दोनो के बीच भी तात्त्विक आधाराधेय भाव मान्य नही। दूसरा यह कि कही भी जातिघटितलक्षण को मान्यता इसलिए नही दी जा सकती कि लक्ष्यतावच्छेद अर्थात् लक्ष्यता का नियामक और लक्षण ये दोनो एक हो उठेंगे। जिसका कुफल यह होगा कि लक्षण के द्वारा विधेय लक्ष्यगत इतर-भेद का अनुमान सिद्ध-साधन दोपग्रस्त हो उठेगा। लक्षण यदि लक्ष्य को औरो से भिन्न न समझा पाये तो उसकी लक्षणता ही व्यर्थ हो उठेगी। लक्ष्यो को स्वेतर-भिन्न समझाना ही होता है लक्षण का मुख्य प्रयोजन। अत दु ख का लक्षण दु खत्व जाति को नही माना जा सकता है। उसी प्रकार जाति को कही भी लक्षण नही बनाया जा सकता। बौद्ध आदि दार्शनिको ने जो समग्र ससार को दु ख कहा है वह सर्वथा अनुभव विरुद्ध है।

चार्वाक-मत और गुरुत्व—

भार वजन आदि शब्दो से कहा जाने वाला गुण है गुरुत्व। यह प्रथम पतन के प्रति असाधारण[२०७] कारण होता है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी भारी वस्तु को कही ऊपर से छोड देने पर वह नीचे गिरता है यह देखा ही जाता है किन्तु धुनी हुई हलकी थोडी रूई आदि कुछ चीजें ऊपर ही उडती रह जाती है। अत गिरने और न गिरने वाली दोनो वस्तुओ के अन्दर कुछ अन्तर मानना अनिवार्य होगा। ऐसी परिस्थिति मे यह अनायास समझा जा सकता है कि उक्त गिरने वाली वस्तुओ मे कोई ऐसा गुण है जिसके कारण वह गिरता है जिसकी उपयुक्त मात्रा मे अविद्यमानता के कारण उक्त हलकी रूई आदि गिरती नही। अत गुरुत्व नामक गुण अवश्य मान्य है। इसके अतिरिक्त तुलादण्ड की अवनति के आधार पर भी इस गुरुत्व गुण को पहचाना जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि तराजू के दो पलरो पर विभिन्न भारयुक्त वस्तुओ को एक ही काल मे रखने पर एक पलरा नीचे और दूसरा पलरा ऊपर उठ जाता है यह देखा ही जाता है। अत इस प्रत्यक्ष-दृष्ट नमनोन्न-

(२०७) गुरुत्वम्, आद्यपतना समवायिकारण अतीन्द्रिय पृथिवीजल वृत्ति

—तर्क-भाषा।

मनात्मक वैलक्षण्य का सम्पादक कोई गुण तराजू के पलरे पर रखी गयी वस्तु मे मानना आवश्यक होगा वही है गुरुत्व। यह गुरुत्व तारतम्ययुक्त हुआ करता है इसीलिए किसी सेर भर की वस्तु से दो सेर-तीन सेर की वस्तुएँ अधिक गुरु, अधिक भारयुक्त कहलाती हैं। इस कथन से यह सम्भवत स्पष्ट हो गया होगा कि लघुत्व भी अनतिशयित गुरुत्व ही होता है गुरुत्व का अभाव या गुरुत्व के समान कोई गुणान्तर नही।

सम्भव है कि नैयायिक और वैशेषिक लोग इसका दृढतापूर्वक प्रतिवाद उपस्थित करें क्योकि उनके मत मे गुरुत्व केवल पृथिवी और जल इन दो द्रव्यो के ही गुण रूप मे माने जाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे तेज मे एव वायु मे बिलकुल अनतिशयित गुरुत्व भी रहता नही यत उस गुरुत्व को लघुत्व कहा जा सके। परन्तु इस चार्वाकसिद्धान्त मे पृथिवी, जल, तेज और वायु चारो ही भूत अन्योन्य मिथुन ही होते हैं सदा विभिन्न मात्रा मे आपस मे मिले ही रहते हैं यह बात बारम्बार कही जा चुकी है। अत यहाँ यह नही कहा जा सकता है कि पृथिवी और जल इन दो भूतो मे ही गुरुत्व गुण रहता है, तेज और वायु इन दोनो मे नही। इस सम्बन्ध मे दूसरी बात यह ध्यान देने योग्य है कि जोर से चलने वाली हवा से भी चोट लगती है यह अनुभव सिद्ध है इसलिए वायु मे भी भार अर्थात् गुरुत्व मानना ही होगा। रही बात तेज की तो उसके सम्बन्ध मे भी यह भली भाँति कहा जा सकता है कि कोई भी भौतिक कण सर्वथा भारहीन हो सकता नही, अत तैजस कणो को भी सर्वथा भारहीन नही कहा जा सकता अत गुरुत्व तेज का भी गुण है। हाँ, यह बात अवश्य मान्य है कि पृथिवी की अपेक्षा जल मे और जल की अपेक्षा वायु मे और उसकी भी अपेक्षा तेज मे गुरुत्व की मात्रा अल्प होती है अत उनमें मात्राकृत कमी होने वाले अनतिशयित गुरुत्वो को ही लघुत्व भी भलीभाँति कहा जा सकता है।

चार्वाक-मत और सस्कार--

नैयायिको एव वैशेषिको ने भी सस्कार[२०८] गुण का अस्तित्व माना है। उनका कहना इस गुण के सम्बन्ध मे यह है कि सस्कार तीन प्रकार का होता है—वेग, भावना और स्थिति-स्थापक। वेग पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यो मे रहता है। भावना शरीर आदि से अतिरिक्त आत्मा का धर्म है क्योकि इसी के उद्बोध के कारण पूर्वानुभूत वस्तुओ के स्मरण हुआ करते हैं। स्थितिस्थापक सस्कार मुख्य रूप से पृथिवी मे ही पाया जाता है, कुछ लोगो के मत मे वह चारो भूतो मे होता है। परन्तु यहा उन इस प्रकार मानने वालो से

(२०८) सस्कार-व्यवहारा साधारण-कारण सस्कार । सस्कारास्त्रिविध वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। —तर्कभाषा।

अनेक प्रकार का मतभेद है। यथा—वेग भूतचतुष्टय का ही धर्म है। क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई तत्त्व ही यहाँ मान्य नही है। अत वेगात्मक सस्कार के आश्रय चार ही है, पाँच नही। दूसरी बात यह कि भावनात्मक सस्कार भी भूतो का ही धर्म है अन्यका नही। क्योंकि इस भूतचैतन्यसिद्धान्त मे भूतचतुष्टय से अतिरिक्त कुछ तात्त्विक रूप से मान्य नही है। तृतीय यह कि स्थितिस्थापक को एक स्वतन्त्र सस्कार मानने का कोई प्रयोजन नही दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि उसे भी वेग का ही प्रभेद अनायास माना जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि वेग को ही स्थितिस्थापक और अस्थितिस्थापक इस प्रकार जब कि दो प्रकार माना जा सकता है तब स्थितिस्थापक को एक सर्वथा स्वतन्त्र-प्रकार सस्कार मानना बुद्धिमत्ता नही कही जा सकती। और यह अनुभव भी ऐसी मान्यता मे इस प्रकार साहाय्य करता है कि वृक्ष, शाखा आदि की पुन पूर्वावस्थितिस्थल मे वेग भी परिलक्षित होता ही है। फिर उस वेग को ही क्यो न स्थितिस्थापक मान लिया जाय। स्थलविशेप मे वेग की अल्पता अर्थात् अतीव्रता भले ही हो सर्वथा वेगराहित्य किसी भी क्रियाधारास्थल मे मान्य नही। ऐसी परिस्थिति मे यही मानना सर्वथा उचित होगा कि स्थितिस्थापक को भी वेग का ही एक प्रभेद मान लिया जाय। चौथी बात यह है कि न्यायवैशेषिकसिद्धान्त मे धर्म और अधर्म इन दोनो को अदृष्ट-नामक स्वतन्त्र आत्मगत गुण माना है। परन्तु इस चार्वाकसिद्धान्त मे उस पाप पुण्यात्मक अदृष्ट को भी सस्कार ही मानना है। पाप और पुण्य को सस्कारात्मक अनेक दार्शनिको ने माना है। उन्होने जगह-जगह पर अदृष्ट को सस्कार[२०८] शब्द से कहा है। और यह सस्कारात्मक अदृष्ट भी चैतन्य की तरह भूतो का ही धर्म है क्योंकि यहाँ अतिरिक्त आत्मा मान्य नही है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। यह अदृष्ट भूतगत होकर भी भोग का नियामक इसलिए हो पाता है कि साख्यवेदान्त आदि सिद्धान्त मे लिंग शरीर के अनन्तर्गत भूतो की तरह पूर्व शरीरात्मगत सूक्ष्म भूतो का शरीरान्तर तक अनुधावन यहाँ भी माना जा सकता है। इसलिए परलोक एव कर्तृत्व भोक्तृत्व के बीच सामानाधिकरण्य आदि सब कुछ यहाँ भी मान्य हो पाते हैं।

चार्वाकीय-दृष्टि मे शब्द—

शब्द को नैयायिको एव वैशेपिको ने आकाशमात्र का गुण माना है। वैयाकरण तथा मीमामक शब्द को गुण न मान कर द्रव्य मानते हैं। परन्तु यहाँ ये दोनो मत सर्वथा अमान्य हैं। क्योंकि यहाँ पञ्चममत रूप मे आकाश की मान्यता न होने के कारण शब्द को आकाश का गुण नही कहा जा सकता, और साथ ही उसे द्रव्य भी इसलिए नही माना जाता है कि शब्द चारो भूतो का गुण है। कहने का तात्पर्य यह कि जब वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि से होने

(२०८) सस्कार पुस एवेष्ट प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभि। —न्याय कुसुमाजलि।

वाले शब्दो का श्रवण अबाधित भाव से होता है, तब शब्दो को वीणा, वेणु आदि गत ही मानना सर्वथा उचित है, तदनुसार चारो भूतो मे शब्द का अस्तित्व मान्य है। जल का मनोहर कलकल निनाद प्रसिद्ध ही है। आग आदि तेज के प्रज्वलन-स्थलो मे भी शब्द का अनुभव होता ही है। अत शब्द को जलगत तथा तेजगत भी मानना उचित ही है। वायु के चलने पर वायुगत एक प्रकार विलक्षण शब्द सुना ही जाता है। इसलिए शब्द को वायुधर्म मानना भी उचित ही है। नैयायिको एव वैशेषिको ने इसके विरुद्ध यह कहा है कि शब्द वायु का गुण इसलिए नही हो सकता कि वायु के अन्य स्पर्श आदि गुण यावद्द्रव्यभावी देखे जाते है। यदि शब्द भी स्पर्श आदि की तरह वायु का गुण होता तो वह भी स्पर्श आदि की तरह यावद्द्रव्य-भावी होता। अर्थात् वायु के अस्तित्व काल तक शब्द रहता किन्तु ऐसा पाया जाता नही, अत शब्द को वायु का गुण नही माना जा सकता। परन्तु विचार करने पर यह उनका कथन इसलिए उचित नही प्रतीत होता कि यह कथन तो ऐसा ही कहा जायगा कि स्पर्श यदि कान से गृहीत नही होता है तो शब्द भी कान से गृहीत न हो। इसलिए यह यान्तिक नही कहा जा सकता कि वायु का स्पर्श यावद्द्रव्यभावी होता है तो शब्द को वायुगत मानने पर उसे भी वैसा होना ही चाहिए। दूसरी बात यह कि गतिशील वायु

कसने पर यह कथन इसलिए नही टिक पाता है कि कुशल वाद्यवादक वाद्यो से भी जब स्पष्ट वोल निकालता है तब वे वाद्य शब्द भी वर्णात्मक प्रतीत होते है और रोगादि ग्रस्त मानव भी जव लडखडाते हुए अस्फुट वाक्यो को बोलते है तो वहाँ स्पष्टतया प्रभिव्यक्त भाव से क ख आदि की श्रूयमाणता न होने के कारण वे उनके शव्द ध्वनिमात्र ही रह जाते है। इसीलिए वहाँ श्रोताओ को अर्थवोध नही होता है। तीसरी बात यहाँ ध्यान देने की यह भी है कि उक्त शव्द-विभाजन के आधार पर पशुपक्षियो के शब्दो को क्या कहा जा सकेगा ? कण्ठ सयोगादिजनित होने के कारण वर्णसमूहात्मक कहना इसलिए कठिन होगा कि श्रोताओ को क ख आदि वर्णों का वहाँ श्रवण होता नही। और उक्त परिभाषा के अनुसार मृदङ्गादि अनाध्यात्मिक सावनजन्यता भी तो वहाँ होती नही। यदि यह कहा जाय कि पशुओ के शव्दो से मानवो को भले ही वोध न होता हो किन्तु अन्तत सजातीय पशुओ को उन शव्दो से वोध होता ही है, अत उन शव्दो को भी वार्णात्मक मानना होगा। तो इसके सम्बन्ध मे वक्तव्य यह है कि इस कथन से फलत ध्वनिमात्र की शव्दता ही सिद्ध होती हे। क्योकि कण्ठ सयोग आदि जन्य क ख आदि को ही उक्त विभाजनवादी वर्ण मानते है। पशु वाक्य यदि तत्त्वत वर्णात्मक होते तो वे मानवो के लिए भी वर्णात्मक होते। क्या मानव और क्या पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणी, सभी एक प्रकार सुनते और उससे वोध करते। किन्तु जव ऐसा होता नही तो इससे यह स्वत सिद्ध हो गया कि ध्वनि और वर्ण रूप मे शव्द का विभाजन आपेक्षिक है, ज्ञानाश्रित है, वास्तविक नही। और पशुपक्षी आदि के शव्दो को ध्वनि मानते हुए भी यदि अन्वय व्यतिरेक का दृढ अनुशीलन करे तो उसे पशुपक्षियो के अवर्णात्मक शव्दो मे भी उनके अभिप्रेत अर्थों का भान होता ही है। इसीलिए योगशास्त्र के अन्दर सर्वभूत रुतज्ञान की चर्चा पायी जाती है। और आवुनिक कतिपय पाश्चात्य अन्वेपक भी पक्षिगत ज्ञान करते हुए सुने जाते है। और ध्वन्यात्मक शव्द के सम्वन्ध मे भी जव दो व्यक्तियो के अन्दर सकेत निर्णय हो जाता हे तो उससे अर्थवोध का होना पाया ही जाता है। अत किसी भी विभाजक के आवार पर ध्वनि और वर्ण इन दो प्रभेदो मे शव्दो का विभाजन वास्तविक रूप मे सम्भव नही है। इस प्रकार विवेचन उपस्थित करने के अनन्तर वर्णनित्यता, स्फोट आदि की मान्यता आदि स्वत निरस्त हो जाते हैं। इस उपस्थापित गुण-विवेचन के अन्त मे फिर यह स्मरण दिला देना अनुचित नही कहा जायगा कि वास्तविकता के आवार पर गुण और गुणी भिन्न नही, अभिन्न ही होते है।

चार्वाक-मत मे कर्म—अतिरिक्त पदार्थ नही

गुण और गुणी की तरह कर्म और कर्मी भी तत्त्वत अभिन्न ही है। हाँ, यह वरावर ध्यान रखना चाहिए कि गुण-गुणी और कर्म-कर्मी आदि के वीच होने वाला अभेद-भेद-

चार्वाकीय दृष्टि मे सामान्य—भी अतिरिक्त मान्य नही

इस चार्वाकसिद्धान्त मे गुण-गुणी और कर्म-कर्मी की तरह सामान्य और सामान्य-वान् ये दोनो भी अभिन्न ही मान्य हैं। और अभेद भी पूर्ववत् समवायात्मक ही मान्य है। सामान्य की परिभाषा वही यहाँ भी मान्य है जिसे नैयायिको एव वैशेषिको ने दुहराया है। अर्थात् नित्य होता हुआ जो अनेक[२१२] आशयो मे एक रूप से विद्यमान हो वह है सामान्य। गोत्व, घटत्व आदि मे यह परिभाषा भलीभाँति सगत होती है कि सृष्टि अनादि एव अनन्त होने के कारण सदाविद्यमान गोघट आदि मे गोत्व, घटत्व आदि सामान्य सदा रहते हैं अत वे नित्य होते है और गायो एव घटो की विभिन्नता के कारण वे अनेक आश्रयो मे समवाय से रहने वाले भी होते हैं अत सामान्य होते हैं इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। बौद्ध आदि दार्शनिक इसे नही मानना चाहते। वे कहते हैं कि सामान्य "अपोह" है और कुछ नही। अपोह का अर्थ होता है तद्भिन्नभेद। यहाँ "तत्" पद से ग्राह्य होता है सामान्य का आश्रय। यथा घटत्व की सामान्यता स्थल मे "तद्भिन्न भेद" यहाँ पर तत् पद से ग्राह्य होता है घट। इस प्रकार तद्भिन्न पद से हाथ मे आते हैं घडो को छोड कर अन्य सारी वस्तुएँ और उन सारी वस्तुओ का भेद आता है लौट कर सब घडो मे ही। अत सभी घडो मे लौट कर आने वाला उक्त भेद ही है घटत्व। इसी प्रकार गोत्व आदि का भी विवेचन समझना चाहिए। यह है बौद्धो का सामान्य के सम्बन्ध मे अभिप्राय। परन्तु यह मान्य इसलिए नही है कि "घट भिन्न भेद" यहाँ पर प्रथम घट पद से सारे घडो को लेने पर ही बौद्धो का उक्त कथन सगत हो सकता है। और सो घटत्व सामान्य को मान्यता दिए बिना हो नही सकता। क्योकि एक "घट" पद से अतीत अनागत व्यवहित विप्रकृष्ट घडो तक को कैसे लिया जा सकता? घटत्व सामान्य की मान्यता पक्ष मे उसकी सर्व-घटानुगति के कारण उससे नियन्त्रित होने वाली घट पद की वाच्यता सब घडो मे जा सकती है अत एक घट पद से सारे घडे हस्तगत हो सकते हैं। परन्तु इस विचार के अनुसार जिस अपोह के आधार पर बौद्ध पक्ष से सामान्य-खण्डन का दावा किया जाता है वह अपोह ही सामान्य की मान्यता के विना मान्य नही हो पाता। अत उक्त अपोह के सहारे सामान्य का खण्डन नही किया जा सकता। इस सामान्य के सम्वन्ध मे विशेष वक्तव्य यह है कि यहाँ साकर्य को जातिवाधक नही मानना है साराश यह कि अनेकानुगत एक धर्म को सामान्य ही मानना है। अन्यथा गोत्व, घटत्व आदि भी सामान्य नही हो पायेगे। क्योकि घटत्व से रहित चाँदी मे रजतत्व रहता है और रजतत्वरहित मिट्टी के घडो मे घटत्व रहता है और चाँदी के घडो मे रजत्व और घटत्व दोनो रह जाते है। इस प्रकार रजत्व और घटत्व ये दोनो आपस मे सङ्कीर्ण हो जाते हैं।

(२१२) नित्यमेकमनेकानुगत सामान्यम्। —तर्कसग्रह।

अत साङ्कर्य को जातिबाधकता यहाँ मान्य नही है। इस जाति की मान्यता के विरुद्ध बौद्ध लोग[२११] एक प्रबल तर्क यह उपस्थित करते है कि जब सब गायो मे एक गोत्व और सब घडो मे एक घटत्व माना जायगा तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक सामान्य नियमत व्यापक हुआ करेगा। अन्यथा अतिदूरवर्त्ती विभिन्न आश्रयो मे एक कोई सामान्य कैसे रह पायेगा ? और प्रत्येक सामान्य के व्यापक हो जाने पर गोत्व, घटत्व आदि भेद से मान्य सामान्यगत विभिन्नता कैसे बन पायेगी ? और ऐसा न बन पाने पर गाय, घडा, कपडा इन व्यावहारिक वस्तुओ की विभिन्नता जो कि प्रत्यक्षत अनुभूयमान है सर्वथा नष्ट हो बैठेगी। साराश यह कि गाय भी घोडा और घोडा भी गाय हो बैठेगे। सारा व्यवहार अस्त-व्यस्त हो उठेगा। नैयायिको एव वैशेषिको ने बौद्धो को इसका उत्तर यह दिया है कि सामान्य स्वत व्यापक होते हुए भी सर्वत्र प्रतीत इसलिए नही होता कि प्रतीति नियामक उसका समवाय सम्बन्ध सर्वत्र समान रूप से रहता नही। गोत्व का समवाय विभिन्न स्थानस्थित गायो मे होता है घोडे, गदहे, खच्चर आदि सब मे नही। इसलिए यह आपत्ति सामान्य की मान्यता पक्ष मे नही दी जा सकती कि गाय भी घोडा प्रतीत हो जाय और घोडा भी गाय। प्रतीतिगत आपत्ति का निराकरण इस प्रकार करने पर भी उनकी वास्तविक एकता की आपत्ति इसलिए नैयायिको एव वैशेषिको को दी जा सकती है कि वे लोग अनेक व्यापको का सह अस्तित्व मानते है। आकाश कालदिक् और आत्माएँ जो कि व्याप है सह रहते है। समानदेशता का विरोध मूर्त्तो ही मे होता है अमूर्त्तो मे नही और व्यापक मूर्त्त हो सकते

मान्य है। इसलिए भी एकता उस प्रकार आपत्ति का स्थान नही बन पाती जिस प्रकार न्याय-वैशेपिक सिद्धान्त मे। फलत यहाँ सामान्य की व्यावहारिक मान्यता मे कोई बाधा नही उपस्थापित हो सकती। हाँ, तत्वत वह स्वाश्रय से अभिन्न ही होगा। विशेप कूटही होगा।

चार्वाक-सिद्धान्त मे विशेप-पदार्थ अतिरिक्त मान्य नही—

नैयायिको एव वैशेपिको ने सामान्य के विपरीत "विशेप" नामक भी अतिरिक्त पदार्थ माना है। उनका कहना यह है कि सावयव वस्तुओ को फलत साश्रय वस्तुओ को आश्रय भेद प्रयुक्त भिन्न समझा जा सकता है परन्तु निरवयव अत निराश्रय चारो भूतो के परमाणुओ एव आकाश, काल, दिक् आदि व्यापक द्रव्यो, इनमे विद्यमान पारस्परिक भेद के ज्ञानार्थ ज्ञापक रूप मे विशेप नामक एक स्वतन्त्र पदार्थ अवश्य मान्य है जो सख्या मे अनन्त है। इस विशेप के सहारे ही उक्त निरवयव द्रव्यो का पारस्परिक भेद ज्ञात होता है। अर्थात् विशेपो को हेतु बना कर परमाणु आदिगत भेदो की अनुमिति होती है। अत विशेप अवश्य मान्य है। परवर्त्ती नैयायिको एव वैशेपिको ने इस विशेप नामक एक स्वतन्त्र पदार्थ की मान्यता के विपरीत इस प्रकार बौद्धिक अभियान किया कि परमाणु आदि के भेद ज्ञापक इन विपयो को जब तक विभिन्न न समझ लिया जाय तब तक उनके सहारे उनके आश्रयो को भी नही विभिन्न समझा जा सकता। यदि उन मान्य विशेपो को भी विभिन्न समझने के लिए उनमे भी विशेपान्तर मान्य हो तो अनवस्था चल पडेगी। अत अनन्त अन्त्य विशेपवादियो को भी उन स्वमान्य विशेपो को स्वत व्यावृत मानना होगा। अर्थात् भिन्न मानते हुए यह कहना पडेगा कि मान्य परमाणु आदि के व्यावर्त्तक विशेप, स्वगत भेद-ज्ञान के लिए विशेपान्तर की अपेक्षा रखते नही, अत उक्त अनवस्था आपन्न नही हो सकती। परन्तु ऐसा कहने पर माने हुए परमाणु आदिगत विशेप भी उनके हाथ से निकल पडेंगे। क्योकि उक्त माने हुए विशेप की तरह परमाणु आदि को ही क्यो न स्वतोव्यावृत्त अर्थात् स्वत भिन्न मान लिया जाय? जब कि उन विशेपो को मान्यता देकर भी हमे उन्हें स्वतोव्यावृत्त ही मानना पडता है तो परमाणु आदि विशेपाश्रय रूप मे विवक्षितो को ही स्वत भिन्न मान लेना उचित होगा। क्योकि ऐसा मान लेने पर अनन्त अन्त्य विशेपो की कल्पना से प्राप्त होने वाले गौरव का भार तो हलका हो पडेगा? परन्तु यहाँ अतिरिक्त विशेप पदार्थ की मान्यता के विरुद्ध उपस्थाप्य युक्ति यह नही, और है। एक यह कि इस चार्वाकसिद्धान्त मे परमाणु और आकाश आदि मान्य नही है यह बात विस्तृत भाव से बतलायी जा चुकी है। ऐसी परिस्थिति मे उनके पारस्परिक भेदो का ज्ञापन विशेप पदार्थ की मान्यता का प्रयोजन नही बतलाया जा सकता। दूसरी बात यह कि परमाणु आदि की मान्यता देने वाले भी तर्क के प्रकाश मे

(२१४) नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेपास्त्वनन्ता एव। —तर्कसग्रह।

विशेष की सिद्धि इसलिए नही कर सकते कि इस विशेष के सहारे परमाणु आदिगत भेदो का ज्ञान वे किसे करायेंगे ? सबको या योगियो को ? "सबको" यह इसलिए नही कहा जा सकता कि उनके मत मे परमाणु आकाश आदि की अतीन्द्रियता के कारण जनसाधारण उन्ही को नही देख पायेगा तब तद्गतभेद के ज्ञान का प्रश्न ही नही उठेगा। योगियो के लिए विशेषो की मान्यता इसलिए नही उचित कहला पायेगी कि वे अपने योगवल से परमाणु आदि को प्रत्यक्षत देखेंगे, अत भेद को भी देखेंगे ही। फिर भेदानुमिति अपेक्षित ही, न होगी यदर्थ विशेष मान्य हो सके।

चार्वाक-मत और अभाव —

अभाव की अनुभूति प्रत्येक प्राणी करता है। यदि गहराई के साथ देखा जाय तो क्या मानव और क्या अमानव प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्तियाँ अभावमूलक होती है। किसी भी अपेक्षित वस्तु का अभाव अर्थात् अपने पास न होना जब प्राणी को खटकता है तब उसे पाने के लिए वह प्राणी प्रवृत्त होता है यह सर्वानुभव-सिद्ध है। अत अभाव का बिलकुल अपलाप नही किया जा सकता है। इस अभाव के सम्बन्ध मे नैयायिको और वैशेषिको का कहना यह है कि अभाव के प्रभेद चार है—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव[२१६]। इन चार अभाव प्रभेदो के अन्दर प्रथम तीन को वे लोग कहते है ससर्गाभाव। तदनुसार अभावो को दो प्रभेदो मे भी विभक्त कहा जा सकता है। इन अभावो के अतिरिक्त कुछ लोग एक स्वतन्त्र अभाव सामयिकाभाव भी मानते है। इन अभावो का परिचय वे इस प्रकार देते है कि किसी भी उत्पत्तिशील वस्तु के होने के पहले विद्यमान उसका अभाव कहलाता है प्रागभाव। और किसी भी वस्तु की अस्तिता के विपरीत प्राप्त होने वाली परिस्थिति से आगन्तुक अभाव होता है ध्वस अथवा प्रध्वसाभाव। इसी को शब्दान्तर मे नाश-विनाश आदि भी कहा जाता है। वायु मे होने वाला रूप का अभाव होता है अत्यन्ताभाव, जो लोग अत्यन्ताभाव के अतिरिक्त सामयिकाभाव भी मानते है वे किसी स्थान मे कभी होने एव कभी न होने वाले अभाव को सामयिकाभाव कहते है। जैसे घडा कभी घर मे रहता है और कभी रहता नही, अत घर मे उसके न रहते समय होने वाला घटाभाव होता है सामयिकाभाव। दो भावो या अभावो के बीच विद्यमान भेद होता है अन्योन्याभाव। इसे ही परस्पराभाव भी कहा जाता है। इसी के आधार पर विभाजन या

(२१६) अभावस्तु द्विधा ससर्गान्योन्याभावभेदत ।
प्रागभाव स्तथा ध्वसोप्यत्यन्ताभाव एवच ।
एव त्रैविध्यमापन्न ससर्गाभाव इष्यते —भाषा-परिच्छेद ।

वर्गीकरण हुआ करता है। मीमासको के अन्दर यहा कुमारिल का सम्प्रदाय भी वहुत कुछ इसी प्रकार अभावो को मान्यता देता हुआ पाया जाता है। किन्तु प्रभाकर का सम्प्रदाय अभाव को भावान्तर ही मानता है। वौद्ध लोग इस अभाव के सम्वन्ध मे अपना यह मत व्यक्त करते हुए पाये जाते है कि "निरोध" हे अभाव। निरोध के प्रभेद दो है— प्रति सख्या-निरोध और अप्रतिसख्या निरोध[२१६]। ये दोनो ही निरोध आकाश की तरह असस्कृत अर्थात् कारण के विना ही होनेवाले होते है। प्रतिसख्या है प्रज्ञा तन्मूलक होने वाला निरोध अर्थात् वियोग फलत अभाव कहलाता है प्रतिसख्या-निरोध, और किसी भी वस्तु के होने के प्रति अतिविघ्नभूत अर्थात् स्वत विरोधी होने वाला निरोध अर्थात् अभाव कहलाता है "अप्रतिसख्या-निरोध। इसका अभिप्राय यह है कि किसी के विना समझे ही जो स्वत प्रतिक्षण वस्तुओ का विनाश होता रहता है वह होता है अप्रतिसख्या-निरोध। इस वौद्ध-सिद्धान्त के ऊपर गहराई के साथ दृक्पात करने पर प्रतीत यह होता है कि मूलत ये लोग जो कि वाह्य वस्तु और विज्ञान का अथवा केवल विज्ञान का अस्तित्व मानते वे वौद्ध-विवेचक निरोधात्मक ध्वस को ही केवल अभाव रूप से मान्यता देते हैं। जो कि उनके लिए यौक्तिक भी है। क्योकि प्रत्येक भाव जव कि अपने अव्यवहित पर क्षण मे वोरिया वस्तर वान्ह वैठेगा महाप्रयाण कर वैठेगा, नष्ट हो जायगा, तव नाश के अतिरिक्त उसका अभाव क्या और कैसे माना जा सकेगा? अत वे लोग केवल नाश को ही अभाव मानते हैं और उसे ही "निरोध" कहते हुए ज्ञातता और अज्ञातता के आधार पर उसे फिर "प्रति सख्यानिरोध और अप्रतिसख्या-निरोध इस प्रकार दो प्रभेदो मे विभक्त मानते है। परन्तु नागर्जुनीय वौद्धमतवाद की ओर ध्यान देने पर वहाँ ध्वसात्मक-अभाव की मान्यता का विलकुल प्रश्न ही नही उठता। क्योकि वहाँ तत्त्वत किसी वस्तु की उत्पत्ति ही नही होती फिर ध्वस हो किसका? परन्तु अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव इन दोनो अभावो की मान्यता सम्वन्धी विचारधारा का मौलिक गन्ध वहाँ प्राप्त होती है। क्योकि उनके द्वारा मान्यताप्राप्त "असत्ता" अत्यन्ताभाव के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकती। और जव उस सिद्धान्त के द्वारा मान्यता प्राप्त "चतुष्कोटि विनिर्मुक्ति" की ओर दृष्टि पडती है तव कुछ अन्योन्याभाव का भी वीज वहाँ विखरा-सा दिखाई देता है। क्योकि वे लोग अपने तत्त्वभूत असत् को "चतुष्कोटिविनिर्मुक्त" कहते हैं, जिनका मतलव अभिप्राय यह होता है कि वह सत् भी नही, असत् भी नही, सदसत् भी नहीं, और सदसद्भिन्न भी नहीं। चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त की यह व्याख्या अन्योन्याभाव को मान्यता दिये विना कथमपि

(२१६) प्रतिसख्यानिरोधो यो विसयोग पृथक् पृथक्।
प्रतिसख्याहि प्रज्ञा, तया निरोधोऽय भवति। —अभिधर्मकोश।

दशम-प्रकरण

वेद और चार्वाक-सिद्धान्त

चार्वाकीय-दृष्टिकोण से मान्य तत्त्व-सम्बन्धी विवेचन हो जाने के अनन्तर इस सिद्धान्त की मान्यता एव प्राचीनता आदि पर भी यथासम्भव प्रकाश डालना अनुचित नही, उचित ही कहा जायगा। उपलब्ध भारतीय साहित्यो के अन्दर वेद सर्वाधिक प्राचीन है यह सर्वथा निर्विवाद है। वैदिक-साहित्यो के अन्दर भी ज्ञान-काण्ड से अपेक्षाकृत कर्मकाण्ड प्राचीन माना जाता है, जो कि यौक्तिक भी है। क्योकि ज्ञानकाण्ड मे कर्म का त्याग करके ज्ञान का आश्रयण उपदिष्ट हुआ है। त्याग कभी अप्राप्त का सम्भव होता नही, इसलिए वैदिक-कर्म-काण्ड के द्वारा कर्म की प्राप्ति के अनन्तर ही कोई भी विरक्त मुमुक्षु कर्म के त्यागात्मक सन्यासस्वरूप-ज्ञाननिष्ठा का आश्रयण कर सकता है। ऐसी परिस्थिति मे यह अनिवार्य रूप से मान्य ही होगा कि वेद का कर्मकाण्डात्मक भाग जो कि सहिता एव तात्सम्पृक्त याग-यज्ञ आदि का विधायक है, कर्मत्यागोपदेशात्मक उपनिषद्-भाग से प्राचीन है। एव त्रिवर्ग, साधन का मार्ग होने के नाते अधिक-सख्यक जनता के लिए तो सर्वथा समाश्रयणीय है ही, अधिकन्तु ऐसे मुमुक्षुओ के लिए भी आश्रयणीय है जिनकी हृदयभूमि ज्ञानाङ्कुर के समुदय के अनुरूप विशुद्ध नही हो पायी हो। क्योकि वह विशुद्धि विहित-कर्माचरण से ही प्राप्त होती है यह सभी लोग मानते है। इसके अनुसार अतिउपादेय कर्मकाण्डात्मक वेद-भाग से यदि इस भूतचैतनिक चार्वाकसिद्धान्त की पुष्टि होती हो, दोनो के अन्दर प्रचुर रूप मे मतैक्य पाया जाता हो, तो यह मानना ही होगा कि चार्वाकसिद्धान्त वैदिकसिद्धान्त है और इसलिए यह अतिप्राचीन तथा समाश्रयणीय है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सारा का सारा वैदिक-कर्मकाण्ड-भाग चार्वाकीय भूत-चैतन्य-सिद्धान्त से भरा पाया जाता है। कही पृथ्वी की स्तुति की जाती है तो कही जल की। कही अग्निस्वरूप भौम-तेज का विस्तृत स्तवन चल रहा है तो कही विद्युत्-स्वरूप दिव्य-तेज का। कही आज्य से बातें की जा रही है तो कही सोम लता या उनके निचोडे हुए तरल रस से। कही हव्य-पुरोडाश को यह कहा जा रहा है कि तुझे सुन्दर निवासस्थान दे रहा हूँ तो कही सूखे कुश से यह कहा जा रहा है कि तुम्हे तोड रहा हूँ। कही सूर्य, चन्द्र आदि तामिक ग्रह एव उपग्रहो की स्तुति है तो कही पर्वत, मेघ आदि भूत भौतिको की। इस सम्बन्ध मे किसी भी वेद-व्याख्याता के द्वारा

विरोध नही उपस्थापित हो सकता कि वेद के कर्मकाण्ड-भाग मे ये बातें नही हैं या इस तरह की बातो से सारा वैदिक-कर्मकाण्ड भाग नही भरा पडा है। और ऐसा मान लेने पर यह सर्वथा सुस्पष्ट-भाव से प्राप्त होता है कि सारी वैदिक कार्मिक-विचारधारा चार्वाकीय-भूतचैतन्य-सिद्धान्त से ओतप्रोत है। जो व्यक्ति मिट्टी और जल को, भौतिक चन्द्र और सूर्य को, पुरोडाश और आज्य को, सोम और कुश को, चेतन नही मानेगा वह उससे विवेकी प्राणी की तरह कैसे उक्त-प्रकार बाते कर पायेगा ? यदि चार्वाकसम्मत भूत-चैतन्य का आदर करता है तभी उसे यह अधिकार सर्वथा प्राप्त होता है कि किसी भी भूत भौतिक को चेतन-प्राणी की तरह सम्बोधन करे और उससे यह प्रार्थना करे कि तुम मेरा साहाय्य करो। तुम मेरे लिए हिंसक मत बनो इत्यादि।

के कारण सर्वथा आदरणीय वेद के द्वारा समर्थित होने के कारण आदरणीय हे अनादरणीय नही। साथ ही कर्मकाण्ड की क्रिया-प्रधानता निर्विवाद होने के कारण भी वहाँ भूत-प्रधानता मान्य है। क्योकि क्रिया और उसके आश्रयभूतो का अभेद स्थापित हो चुका है।

उपनिषद् और चार्वाकसिद्धान्त—

यो तो वेद का ज्ञानकाण्ड जिसे अन्य शब्द मे उपनिषद् कहा जाता है ज्ञानाश की ही गुणगरिमा का वर्णन विस्तारपूर्वक करता हुआ पाया जाता है, फिर भी भूतभौतिको के प्रभाव से उसे भी सर्वथा मुक्त नही कहा जा सकता है। अन्वेषण करने पर उपनिषत्साहित्य के अन्दर भी ऐसे वाक्य पाये जाते है जिनसे चार्वाकीय भौतिक-महत्त्वमय दृष्टिकोण पर प्रकाश पडता है—उदाहरण के लिए सर्वप्रथम ईशोपनिषत् के छठे मन्त्र को उपस्थित किया जा सकता है। मन्त्र के द्वारा यह कहा गया है कि जो व्यक्ति [२१७]सारे भूतो मे आत्मदृष्टि रखता है और आत्मा मे समग्र भूतदृष्टि रखता है वह किसी मे भी घृणा दृष्टि करता नही। इस कथन से क्या यह साराश नही निकलता कि भूतात्मवाद जो कि चार्वाकदर्शन की ही विशेषता है इस मन्त्र द्वारा वर्णित हुआ है ? केनोपनिषद् द्वितीय खण्ड के अन्तिम अर्थात् पचम वाक्य द्वारा यह कहा गया है कि "इस चराचरात्मक भौतिक ससार को यदि सत्य समझा तो ठीक है और यदि ऐसा नही समझा तो समझो महान् विनाश प्राप्त है। प्रत्येक भूत को आत्मा समझने वालाही मर कर अमृत अर्थात् मुक्त हो सकता है।[२१८] इसके द्वारा भी - चार्वाकीय भृतात्मवाद प्रतिपादित होता है। कठोपनिषद् के अन्दर बीसवे पद्य-वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि "आत्मा अणु से अणु और महान् से महान् है जिसे प्राणी अपनी बुद्धि-गुहाके अन्दर रखता है अर्थात् जो वुद्धि का विषय होता है।[२१९] अक्रतु अर्थात् साधारण क्रियाओ से अपनी बुद्धि को अलग करके चिन्ताशीलव्यक्ति धातुप्रसाद अर्थात् तत्त्वगत-प्रसन्नता से फलत वस्तु की विशदता प्रयुक्त, आत्मा की महत्ता को जानता है। यह महत्ता उक्त महासमवायात्मक अद्वैत व्यापक भूत-तत्त्व की ही हो सकती है। प्रश्नोपनिषद् के अन्दर

(२१७) यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥ —ईश०—उप०

(२१८) इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नचेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोका दमृता भवन्ति ॥ ५ ॥
—कोनोपषित्, द्वितीयखण्ड, ।

(१९) अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्यजन्तो र्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मन ॥ २० ॥
—कठोपनिषत्, द्वितीयवल्ली ८

चतुर्थ प्रश्नगत सप्तम और अष्टम वाक्यो को देखते हुए मन पूर्ण रूप से चार्वाकीयसिद्ध का समर्थक बनता है। कहा यह गया है कि हे सौम्य! जैसे पक्षी अपने वास-स्थान वृक्ष मे सम्प्रतिष्ठित होते है उसी प्रकार स्थूल एव सूक्ष्म पृथिवी, जल, तेज आदि आत्मा सम्प्रतिष्ठित होते है।[२२०] यहाँ प्रतिपादित आत्मा यदि महाभूत-समवायात्मक न लिया जा भूतातीत निर्गुण नित्य-विज्ञानात्मक लिया जाय, जिसे कि भाष्यकार शङ्कर आदि ने लि है, तो दृष्टान्त ठीक नही उतर पायेगा, अत महासमवायात्मक अद्वैत-भूत को ही लेना उचि है, और ऐसा होने पर वर्णित चार्वाकसिद्धान्त का ही आदर होता है। मुण्डकोपनिष मे भूतात्मक अग्नि की महत्ता विस्तारपूर्वक बतलायी गयी है।[२२१] काली-कराली आदि सा जिह्वाओ का वर्णन और उनमे आहुतियाँ एव फल आदि प्रतिपादित हुए है, अत चार्वाकी भूत तत्त्व के प्रभाव से सर्वथा मुक्त मुण्डकोपनिषद् को भी नही कहा जा सकता। इतना ही नही, द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड के अन्तिम भाग मे यह कहा गया है कि समुद्र गिरि पर्वत[२२२] सारी औषधियाँ और रस सभी जिससे निर्गत होते है—वही भूतो से वेष्टित अर्थात् परिपूर्ण अन्तरात्मा है। जिससे यहाँ इन वस्तुओ की निर्गति बतलायी गयी है, वह चार्वाकसिद्धान्त-सिद्ध उक्त महासमवायात्मक अद्वैत-भूत से अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। अन्यथा निर्गुण, निरवयव, निष्क्रिय आत्मा से वर्णित निर्गति एव वहाँ उनकी अवस्थिति भला कैसे सम्भव बतलायी जा सकती? माण्डूक्योपनिषद् के अन्दर छठे वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि "यह आत्मा सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है सबका योनि अर्थात् कारण है, भूतो का भव एव अप्यय है अर्थात् पृथिवी आदि भूत इसीसे बहिर्गत होते है और इसी के अन्तर्गत होते है" यहाँ कथित भूतो के भव एव अप्यय रूप मे यदि महासमवायात्मक भूत को न लिया जाय तो कथन सङ्गत नही हो सकता।[२२३] क्योकि अमूर्त मूर्त का भव एव अप्यय अर्थात् बहिर्गत एव अन्तर्गत करने वाला हो नहीं सकता। तैत्तिरीयकोपनिषद् मे भृगु-

(२२०) यथा हि सोम्य! वयासि वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते। एव ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते। ७। —प्रश्नोपनिषत् ४ प्रश्न।

(२२१) काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वा ॥ ४ ॥
—मुण्डकोपनिषत्, १ मुण्डक, २ खण्ड।

(२२२) अतस्समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा। ९।
—मुण्ड०, २ मुण्डक १ खण्ड।

(२२३) एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ, एषोन्तर्याम्येष योनि सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। ६। —माण्डूक्योपनिषत्।

वल्ली के अन्दर अत्यन्त विस्तारपूर्वक अन्न-ब्रह्म का वर्णन किया गया है।[२२४] यह वर्णन भूतात्म-वाद की मान्यता के बिना कभी सगत नही हो सकता। ऐतरेयोपनिषद् के अन्दर जो प्रजनन की पद्धति बतलायी गयी है एव यह कहा गया है कि "ब्रह्मा इन्द्र, प्रजापति, सारे देव पचमहाभूत पृथिवी, जल, तेज आदि जितने है सब "प्रज्ञानेत्र" है, प्रज्ञान मे प्रतिष्ठित है" इत्यादि, इससे भी महासमवायात्मक अद्वैत-भूत का वर्णन प्राप्त होता है।[२२५] क्योकि अमूर्त्त निर्गुण मे कैसे उक्त स्थिति सगत कहला सकती है। रही बात "प्रज्ञानेत्र" और प्रज्ञान की, तो वह भी चार्वाकीय-दृष्टिकोण से विपरीत इसलिए नही कहा जा सकता कि इससे भूत-चैतन्य का स्पष्टीकरण होता है। छान्दोग्य-उपनिषद् के अन्दर जो प्रजापति इन्द्र एव विरोचन की आख्यायिका वर्णित है वह भी चार्वाकसिद्धान्त का ही पोषक है।[२२६] विरोचन ने प्रजापति के उपदेश से व्यष्टि शरीर को ही आत्मा समझा जो कि अशत सत्य होने पर भी महासमवायात्मक अद्वैत-आत्मा तक न पहुँचने के कारण पूर्ण सत्य नही कहा जा सका। इन्द्र ने पुन जिज्ञासु बन कर उस महासमवायात्मक अद्वैत भूतात्मा को समझा। वृहदारण्यक उपनिपद् के अन्दर विद्युत्, अग्नि आदि को ब्रह्म कहा गया है, अन्न को ब्रह्म कहा गया है। मृत्यु के अनन्तर पुनर्जन्म की जो पद्धति बतलायी गयी है। जिसके अन्दर यह बतलाया गया है कि जीवात्मा वायु,[२२७] सूर्य, चन्द्र आदि में जाता है एव उसी क्रम से उतर कर जन्म प्राप्त करता है, वह वाद भूतात्मवाद को मान्यता दिये बिना सगत नही हो सकता। पञ्चाग्नि-विद्या भी इस मत के अनुकूल प्रतीत होती है। क्योकि तत्तत्-भूतात्मक अग्नि मे पडने वाली आहुति, भूत की ही बतलायी गयी है और स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि पचमी आहुति[२२८] मे जाकर प्रथमाहुत जलात्मक-भूत, पुरुष कहलाता है। अर्थात् प्राणी

(२२४) अन्नाद्वै प्रजा जायन्ते। सर्वं वैतेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नब्रह्मोपासते। अन्नहि भूताना ज्येष्ठम्।

—तैत्तिरीयोपनिषत्, २ अनुवाक, अन्तिम वाक्य।

(२२५) एष ब्रह्मेष इन्द्र एष प्रजापति पञ्चस्थावर सर्वं तत्प्रज्ञानेत्र प्रज्ञाने प्रतिष्ठित प्रज्ञानेत्रो लोक प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञान ब्रह्म। ३।

—ऐतरेयोपनिषत्, २ आरण्यक, ६ अध्याय, ५ खण्ड।

(२२६) अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भय ददर्श। यथैव खल्वामस्मिन्छरीरे नाहमत्र भोग्य पश्यामीति। १। —छान्दोग्य, खण्ड, ९ अध्याय ८।

(२२७) यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति सवायुमागच्छति। १।

—वृहदारण्यक ब्रा० १० अध्याय ५।

(२२८) पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुप-वचसो भवन्ति। —वृहदारण्यक।

लक्ष्य करके उनके प्रति अपना अभिप्राय व्यक्त किया है।[२३१] लौकायतिको के एक दल को लक्ष्य करके यह कहा कि "ये बहुज्ञ न होते हुए भी अपने को पण्डित मानते है तथा अनर्थ कुशल है अर्थात् वैदिक अभिचारात्मक मारण, मोहन, वशीकरण आदि मे ही चतुर होते है।" और लौकायतिको के द्वितीय दल को लक्ष्य मे रख कर उन्होने भरत से यह कहा कि "ये अपर लौकायतिक लोग आन्वीक्षिकी के अभ्यास से दुर्बुद्धि-वैभव प्राप्त करके जल्प वितण्डात्मक कथा को अपनाते हुए धर्मपथ से विच्युत हुआ करते है।" उक्त टीकाकार ने इस प्रकार अपनी व्याख्या के समर्थन मे यद्यपि कुछ नही कहा है, अत अनेक विवेचक उक्त टीकाकार-कथित लौकायतिकगत द्वैविध्य से सहमत नही भी हो सकते है। परन्तु आगे चलकर अयोध्याकाण्ड के ही १०८ और १०९ सर्ग को देखते हुए टीकाकार द्वारा वर्णित उक्त लौकायतिक–द्वैविध्य समर्थित होता है। वहाँ १०८ सर्ग मे कथा यह आयी है कि भरत के वहुत कहने-सुनने पर भी जब राम अयोध्या लौटने के लिए राजी नही हुए, भरत के द्वारा उपस्थापित युक्तियो का खण्डन करते हुए, अपने न लौटने के सम्वन्ध मे किये हुए निर्णय को अपरिवर्तनीय ठहराते गये, तब ब्राह्मणोत्तम जाबालि ने उन्हे इस प्रकार धर्मविरुद्ध प्रतिपावन-मार्ग को अपनाते हुए कहा कि—"आप जैसे वुद्धिमान[२३२] व्यक्ति को यह निरर्थक दुर्बुद्धि शोभा नही देती। सोचिए भला इस ससार मे कौन किसका वन्धु है और कौन किसका वान्धव? प्राणी अकेला ही इस ससार मे उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। कोई किसीका साथ देता नही, इसलिए माता-पिता आदि वन्धु-वान्धवो की कल्पना करके जो लोग उनमे अनुरक्त होते है अर्थात् उनके वचन-पालन को अपना कर्त्तव्य समझते है, वे पागल है। सचमुच देखा जाय तो कोई किसीका नही है। जिस प्रकार यात्री मार्ग मे रात विताने के लिए कही-कही कुछ देर के लिए ठहरता है सही, किन्तु उस स्थान के साथ प्रेम नही जोडता, सवेरा होते ही वहाँ से चल पडता है, उसी प्रकार प्राणी को पिता, माता, घर, वन्धु इनसे स्थायी सम्बन्ध नही जोडना चाहिए। तात्पर्य यह कि पिता की आज्ञा के पालनार्थ इस प्रकार कष्ट नही सहना चाहिए। राज्यत्याग नही करना चाहिए। अयोध्या की राजगद्दी पर आपका जन्मसिद्ध अधिकार है इसलिए उसे छोड कर दु खकण्टकवहुल इस निन्द-

(२३१) आश्वासयन्त भरत जावालिर्ब्राह्मणोत्तम
उवाचराम धर्मज्ञ धर्मापेत मिद वच ॥ १ ॥
—वाल्मी० रा०, अयो०, सर्ग० १०८।

(२३२) साधुराघव ! माभूत्ते वुद्धिरेव निरर्थिका।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यवुद्धे सतपस्विन ॥ २ ॥
—वाल्मी०, अयो०, सर्ग १०८।

कसौटी है। अगर मै भी बुरे आचरणो को अपनाऊँ तो लोग क्या मुझे समझेगे, एव कहेगे। और साथ ही प्रजाएँ राजा का ही अनुकरण किया करती है, इसलिए मेरे दुराचरण का कुफल यह होगा कि सारी प्रजा दुराचार की ओर अग्रसर हो पडेगी। सत्य और दया ये दोनो ही सनातन राजवृत्त है। अत राज्य सत्यात्मक होता है। यह सारा ससार सत्य के बल पर ही प्रतिष्ठित है। इत्यादि बहुत-सी बाते बतलाते हुए राम ने जाबालि से यहाँ तक कहा कि "इसके सम्बन्ध मे तो मैं पिताजी की भी निन्दा करूँगा कि आप जैसे अधार्मिक-बुद्धि-वाले नास्तिक व्यक्ति को उन्होंने अपने यहाँ याजक आदि रूप मे स्थान दिया। राजा के लिए उचित तो यह है कि बुद्ध और चोर इन दोनो को समान समझे अर्थात् चोर के समान बौद्धो को भी दण्ड दे। बुद्ध को भी नास्तिक समझना चाहिए। राम ने जो जाबालि को उत्तर रूप मे कहा है उसका स्वरूप विस्तृत है। यहाँ सक्षेप मे कुछ बाते मैंने बतलायी है। रामायण के इस लोकायत-सम्पृक्त अश से लोकायत-सिद्धान्त पर बहुत प्रकाश पडता है। सर्व प्रथम यह कि इससे चार्वाकदर्शन की अति प्राचीनता व्यक्त होती है। क्योकि रामराज्य काल मे ही यह पतन की ओर अग्रसर हो चला था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इसकी सर्वमान्यता का एव सर्वमान्य वास्तविक स्वरूप का अस्तित्व-काल उससे भी कितना प्राचीन रहा होगा? दूसरी बात यह कि दशरथ के राज्य-काल तक लोकायतमत पूर्ण निन्दित नही था। उसकी वह परिस्थिति उस समय नही परिलक्षित होती है जो महाभारत के समय। तीसरी बात यह कि लौकायतिको की भी दो धाराएँ बतलायी गयी है। जिनके लिए वाल्मीकि ने ब्राह्मणोत्तम शब्द तक का प्रयोग किया है, उनके लिए भी लोकायतसिद्धान्त का उपदेशक होना, प्रचारक होना, जनसाधारण की दृष्टि मे कोई बुरी या आश्चर्यप्रद बात नही थी। कर्मठ ब्राह्मण लोग भी एक लौकायतिक-धारा को अपनाते थे। जाबालि की वैदिक कर्मठता इस बात से व्यक्त होती है कि राम ने उनसे यह कहा है कि "यह मेरे पिता दशरथ ने उचित नही किया कि आप जैसे दुर्विचारी को अपने यहाँ स्थान दिया"। राम ने लोकायत के ही प्रसग मे जो बुद्ध की निन्दा की है, उन्हे नास्तिक कहा है, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय मे प्रचलित बौद्ध-विचारधारा भी द्वितीय लौकायतिक-विचार-धारा ही थी। तब तक बौद्धन्याय या बौद्धदर्शन चार्वाकीयन्याय एव दर्शन से अलग नही हो पाया था। अर्थात् द्वितीय नास्तिक लौकायतिक-विचारधारा उस समय बौद्ध-विचार-

(२३६) निन्दाम्यह कर्म कृत पितुस्तत् यस्त्वामगृह्णद्विषमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्यानयैव विधया चरन्त सुनास्तिक धर्मपथादपेतम्॥ ३३॥
यथाहि चोर स तथाहि बुद्ध तथागत नास्तिक मत्र विद्धि। ३४।
—वाल्मी० रा०, अयो०, सर्ग १०९।

की आज्ञा के पालनार्थ जिन्होंने गहन जगल को अपनाया और अपनी दयिता की इच्छा के अनुसार माया-मृग के पीछे दौड़े, ऐसे महापुरुष के चरणारविन्द को मैं नमस्कार करता हूँ। ये सारे कथन भूतात्मवादी चार्वाकदर्शन के अनुसार ही सगत हो सकते हैं। अन्यथा कभी नही। क्योंकि घटनात्मक चेष्टाएँ शरीरात्मक-भूत-धर्म ही हो सकती हैं अन्य धर्म नही।यह तो मानना ही होगा कि भक्ति की आधारशिला चेष्टात्मक लीलाए ही हैं और कुछ नही। भागवत के अन्दर ऐसी घटनाएँ प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है जिन पर गम्भीरता पूर्वक दृक्पात करने पर जगह-जगह चार्वाकसिद्धान्त की मान्यता और उसकी उपादेयता, मुखरित हो उठती है। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण के उदर मे यशोदा के द्वारा किये गये समग्र-विश्व-दर्शन को भी लिया जा सकता है भावगत की इस कथा से सावयव महासमवायात्मक उक्त भूताद्वैत की मान्यता का स्पष्ट सकेत पाया जाता है। और इसका दिग्दर्शन मिलता है कि एक क्षुद्र भौतिक कण से लेकर सर्वाधिक महान् तक एक समवाय-सूत्र मे बँधे हुए हैं। भागवत की एक घटना को और लीजिए। यह घटना विस्तारपूर्वक वहाँ वर्णित है कि श्रीकृष्ण ने इन्द्र की पूजा को रोक कर गोवर्धन की पूजा चलायी। इस घटना पर यदि विचारपूर्वक दृष्टि डाली जाय तो इसमे भी चार्वाकीय भौतिक महत्ता का स्पष्ट समादर किया जाता हुआ प्रतीत होता है। गोवर्धन की पूजा को भला भूतपूजा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है जिसकी प्रवर्त्तना स्वय भगवान् माने जाने वाले श्रीकृष्णजी ने की ? इससे बढकर भूत-तत्त्वता के व्यापक रूप मे विवेकियों को और क्या चाहिए ?

जलता हुआ गिरा जिस प्रकार वज्र के गिरने पर कोई सघन पादप। यह है उक्त महाभारत राजधर्म प्रकरण अध्याय ३८ मे प्रतिपादित कथा। चार्वाक का सम्बन्ध यहाँ ही समाप्त नही हुआ है। इसके अनन्तर अध्याय ३९ मे वासुदेव ने उक्त राक्षस चार्वाक का परिचय देते हुए युधिष्ठिर से यह कहा है कि यह भला ब्राह्मण कैसे हो सकता है ? ब्राह्मण लोग तो इस पृथ्वी पर विद्यमान देवता हैं। उनकी वाणी मे भले ही कटुता हो किन्तु अतिशीघ्र वे प्रसन्न होने वाले होते हैं। इसलिए वे हम लोगो के सदामान्य हैं, पूज्य हैं। इस चार्वाक राक्षस का परिचय यह है कि[२४२] यह सत्ययुग मे वर्षो तक उत्तराखण्ड बदरिकाश्रम मे तप करता रहा। तप से प्रसन्न हुए ब्रह्मा ने जब उस तपस्वी राक्षस से यह कहा कि वर माँगो तो उसने उनसे यही वर माँगा कि मुझे किसी से भय न हो। ब्रह्मा ने उससे यह कहा कि ब्राह्मणो के अपमान मात्र से तुम्हे भय है, और किसी से नही। इस प्रकार निर्भयता का वरदान प्राप्त कर लेने पर तो फिर कहना क्या था ? वह पापी राक्षस चार्वाक देवताओ को सताने लगा। देवता लोग विचारविमर्श के लिए एकत्र हुए। सोच-विचार कर ब्रह्मा के पास पहुँचे और उनसे सारी दुःखगाथा सुनाई। ब्रह्मा ने देवताओं से यह कहा कि अब चिन्ता की बात नही। अब इसकी मृत्यु निकट ही है। मनुष्य लोक मे राजा दुर्योधन इसका मित्र होगा। उससे मैत्री के कारण यह ब्राह्मणो का अपमान करेगा। निदान कुछ ब्राह्मण देवता अपने तपोबल से इसे शाप देकर नष्ट कर डालेंगे। सो बात आज सही निकली। यह राक्षस चार्वाक ब्रह्मदण्ड से मारा गया। हे राजन्, आप दुःखी मत हो। आपने बुरा काम नही किया है। वे वीर क्षत्रिय लोग अपने क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध करके स्वर्ग सिधारे हैं। इस प्रकार चार्वाक राक्षस का परिचय दिया गया है।

आधुनिक विवेचको का महाभारत के उपलब्ध बृहत् आकार के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट मत है कि वर्तमान उपलब्ध होने वाला महाभारत का महान् आकार अति प्राचीन काल मे नही था[२४३]। यह महान् कलेवर महाभारत को एकदा ही नही प्राप्त हुआ है। कथा करने वाले विद्वान् लोग कथाओ को रोचक बनाने के लिए अथवा किसी खास वक्तव्य विषय पर प्रकाश डालने के लिए जिन कथाओ को गढ कर स्वय कथा के समय जोडते

(२४२) पुराकृत युगे राजन् चार्वाको नाम राक्षस ।
तपस्तेपे महाबाहो बदर्या बहुवार्षिकम् ।

—महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय ३९।

(२४३) (महा) भारत के वर्तमान रूप में परिबृहण का कार्य उपाख्यानो को जोडने से हुआ है।

—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ९२, बलदेव उपाध्याय।

सम्भवत यह कथा प्रचलित हुई होगी। उधर सम्भवत उस समय चार्वाक सिद्धान्तियो मे पूर्वापेक्षा मानव-दोषो का बाहुल्य हो गया होगा, यत्प्रयुक्त जनता उन्हे अच्छी दृष्टि से नही देखती होगी। अत चार्वाक को ही पात्र बना लिया गया होगा। महाभारत के इस उपाख्यान का प्रभाव महाभारत के परावर्ती साहित्य पर प्रचुरमात्रा मे पडा। जिसका परिचय आगे किये जाने वाले विवेचनो से अनायास प्राप्त होगा। यो तो महाभारत की इस चार्वाकीय आख्यायिका अथवा लघुकथा से चार्वाकसिद्धान्त की स्पष्ट रूप मे निन्दा ही की गयी प्राप्त होती है, फिर भी इससे यह बात तो अवश्य स्पष्ट हो उठती है यह दर्शन राजदर्शन था, दण्डदर्शन था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। दुर्योधन की राजनीति सुदृढ थी और राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रसशनीय थी, इस बात का उल्लेख भारतीय साहित्य में प्रचुर परिमाण मे पाया जाता है। महाभारत मे ऐसे राजनीतिनिपुण राजा के साथ जब कि चार्वाक का सख्य सम्बन्ध बतलाया गया है, यहाँ तक कहा गया है कि "यह चार्वाक राजा दुर्योधन का हितैषी है" तो यह मानना ही होगा कि चार्वाकीय-विचारधारा अवश्य राजनयिक दाण्डिक-विचारधारा थी, होगी। राजनीति कितनी भी सत्याश्रित और धर्माश्रित क्यो न हो वहाँ अन्तत "मन्त्र" की आवश्यकता रहती ही है। अधिक स्पष्ट मानी जाने वाली आज की जनतन्त्र—राजनीति के अन्दर भी विभिन्न पृष्ट-विषयो को "गोपनीय" कह कर, "इस विषय का स्पष्टीकरण जनहित के पक्ष मे नही है" यह कर, मन्त्री लोग टालते हुए पाये ही जाते है। जहाँ मन्त्रियो को अत्यन्त कथन-सकट प्राप्त होता है, उत्तर देने का कोई चारा नही दीखता, वहाँ अन्तत यह कह कर मन्त्री लोग अपना पिण्ड छुडाते पाये जाते है कि "सरकार इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रही है"। परराष्ट्रनीति के सम्बन्ध मे अत्यन्त जागरूकता अपेक्षित होने के कारण गुप्त रूप से, प्रच्छन्नतम रूप मे, बहुत कुछ करना पडता है, एव पता लगाना ही पडता है। यह निर्विवाद है कि राजनीति स्पष्ट सत्य को आगे लेकर नही चलती। इसलिए वैयक्तिक जीवन को ही लेकर चलने वाले विरक्त धार्मिक-लोग सत्तारूढ राजनीति के निन्दक बन जाते है, जिन्हे कि राजनीति से कोई प्रयोजन नही रहता। अपने-अपने इष्ट फल को पाने के लिए सतत राजमुख देखने वाले लोग इसलिए सत्तारूढ राजनीति के निन्दक एव विरोधी बन जाते है, कि अधिक सख्यक प्रार्थी अपने इष्टो को सिद्ध होते नही देखते, ये सारी बातें सर्वथा मान्य है। अत सत्तारूढ राजनीति के प्रति लोगो की अनास्था, और उसकी निन्दा मे प्रवृत्ति आदि स्वाभाविक ही है। कहने का साराश यह कि एक सच्चे राजनीतिज्ञ छल-बल सबको राज्य के लिए अपनाने वाले, भारत-सम्राट् दुर्योधन का जब चार्वाक को घनिष्ट मित्र बतलाया गया तो इस आख्यायिका से यह निर्विवाद रूप में सिद्ध हो उठता है कि चार्वाक-दर्शन राजदर्शन था,

और उस प्राण के कारण ही प्राणी चेष्टाशील होते हैं, श्वास-प्रश्वास लेते है, बोलते-चालते है, तब अतिरिक्त जीवात्मा का अस्तित्व मानना कोई अर्थ नही रखता। देह मे पायी जाने वाली गरमी अवश्य शरीरगत अग्नि की ही है, जठरानलस्वरूप शरीरगत अग्नि के कारण ही खाये हुए खाद्य पदार्थ पकते है और रस, शोणित, मास आदि की निष्पत्ति होती है, अत भूतातिरिक्त जीवात्मा मान्य नही है। क्योकि उसकी मान्यता का कोई प्रयोजन नही दीख पडता है। यदि प्राणियो के शरीर के अन्दर जीवात्मा शरीराश भूत भूतो से अतिरिक्त कुछ होता तो मरते समय शरीर से होने वाली उसकी बहिर्गति अवश्य आस पास बैठे हुए बन्धु-बान्धवो के द्वारा देखी जाती। किन्तु देखी जाती नही अत यही मानना उचित है कि प्राणियो का मरण शरीर से प्राण-निर्गमन के अतिरक्त और कुछ नही है। यह भी मानना उचित नही प्रतीत होता है कि जीवात्मा प्राणियो के प्राण के साथ मिला रहता अत प्राणवायु के निर्गमन के साथ-साथ जीवात्मा का भी निर्गमन प्राणियो की मृत्यु के समय होता है। क्योकि ऐसा होने पर भी मृत्यु के समय वायु के साथ होने वाला जीव का निर्गमन अवश्य देखा जाता। किन्तु देखा जाता नही। अनाहार से, पानी पीना छोड देने से, शरीर के रस सूख जाते है। हठात् श्वास-प्रश्वास के निग्रह से प्राण-वायु का नाश हो जाता है। कोष्ठ-भेद से अर्थात् पेट आदि फट जाने से शरीर के अन्दर विद्यमान आकाश का नाश होता है और खाना बिलकुल छोडने पर शरीर के अन्दर पाचक रूप से अवस्थित जठरानल नष्ट हो जाता है और विभिन्न प्रकार व्याधि, घाव, आदि से शरीरगत पार्थिव भाग नष्ट हो उठता है। लोग मरते समय गोदान यह सोच कर करते है कि यह दी हुई गाय मुझे परलोक मे फायदा पहुँचायेगी, परन्तु वे इस बात की ओर ध्यान नही देते कि यह भीतो अजर-अमर नही है। यहाँ ही मर जाने वाली यह गाय मुझे वहाँ कैसे साहाय्य पहुँचायेगी? सोचा जाय—जहाँ गाय उसका दान लेने वाला और उसका दान देने वाला ये तीनो साथ ही मर जायँ, वहाँ भला उन तीनो का समागम कैसे सम्भव हो सकता? जिस मृत शरीर को चील, गीध आदि नोच कर खा डालते है, जो कही किसी उन्नत पर्वतशृग से गिर कर चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है, अग्नि जिसे जला डालता है वह फिर कैसे पुनर्जीवन प्राप्त कर सकता है? जड से उखाड फेंका गया वृक्ष फिर प्ररूढ नही होता, फिर पल्लवित, पुष्पित और फलित होता हुआ कभी नही देखा जाता। हाँ, उसके छोटे-छोटे बीज सजातीय वृक्षान्तर को उत्पन्न करते हुए पाये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे मरा व्यक्ति फिर कैसे आ सकता? यह स्पष्ट है कि यह शरीर मास, शोणित, मेद, स्नायु, अस्थि इनका ही एक सचित रूप है और कुछ नही। इसलिए इस शरीर के नष्ट होने पर जीव के अस्तित्व को उपपन्न नही किया जा सकता।"

इस भृगु-भारद्वाज सम्वाद के अन्दर आकाशात्मक पचम भूत की भी चर्चा आयी है अत इसी

भूत-चतुष्टयवादी चार्वाकसिद्धान्त का प्रतिपादक कहना कठिन है परन्तु इसे सुना कर यदि किसी दर्शन परिचित व्यक्ति से पूछा जाय कि यह किसका मत है तो निःसकोच भाव मे शीघ्रतापूर्वक वह यही कहेगा कि यह मतवाद चार्वाक का है और किसका हो सकता है ? परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत यह है कि परिस्थिति के अनुसार इस प्रकार की विचारधारा विभिन्न विवेचको के हृदय मे बराबर उठती आयी है, केवल चार्वाक सप्रदाय ही इसके लिए दायी नही है, इस बात का परिचय मोक्षपर्व ११८ अध्यायगत जनक पञ्चशिख सम्वाद से भी प्राप्त होता है। वहाँ यह कहा गया है कि[२५२] "एकदा मिथिलाधिपति जनक जिन्हे जनो का देव भी कहा जा सकता है मरने के अनन्तर होने वाली परिस्थिति के विवेचन मे सलग्न हुए। उनके यहाँ विद्वान् विवेचको की कमी नही थी। उनके यहाँ विभिन्न आश्रमी एक सौ आचार्य उस समय विद्यमान थे जो विभिन्न धर्मो के अनुसार अपना-अपना निर्णय विवेच्य परलोक तत्व के सम्बन्ध मे सुना रहे थे। परन्तु जनक का मन उन विचारो से भर नही रहा था" इत्यादि। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शरीरातिरिक्त अभौतिक आत्मतत्त्व के अस्तित्व के सम्बन्ध मे अधिक लोगो को निर्णयात्मक ज्ञान नही था और शरीरात्मवाद को भी उस प्रकार बुरी नजर से लोग नही देखते थे जिस प्रकार परवर्ती लोगो ने उसे देखा है। शरीरात्मवाद भूत-चैतन्य की मान्यता पर आधारित है और भूतचैतन्य की मान्यता चार्वाकीय दृष्टिकोण की विशेषता है, इत्यादि बाते विहित पूर्व-विवेचन से सुस्पष्ट की जा चुकी है। उक्त महाभारतीय चार्वाकाख्यायिका को देखते हुए कुछ ऐसा आभास मिलता-सा प्रतीत होता है कि लोकायत अथवा लौकायतिक विचारधारा की चार्वाकीय-विचारधारा के रूप मे विख्याति का श्रीगणेश, महाभारतीय उक्त आख्यायिका के उद्गमानन्तर ही हुआ। इसलिए लोकायतमत चार्वाकमत रूप मे ख्यात बन कर राक्षसमत की उपाधि प्राप्त कर अधिक घृणा का पात्र भी महाभारत के अनन्तर बना।

(२५२) जनको जनदेवस्तु मिथिलाया जनाधिप ।
और्ध्वदेहिक धर्माणामासीत् तत्त्व-विवेचने ॥
तस्यैकशतमाचार्या वसन्ति सतत गृहे ।
दर्शयन्त पृथग्धर्मान् नानाश्रमनिवासिन ॥
स तेषा प्रेत्यभावे च प्रेत्यजातौ विनिश्चये ।
आगमार्थ स भूयिष्ठ मात्मतत्त्वे न तुष्यति ॥

—महाभारत मोक्षधर्म, अध्याय २१८ ।

भगवद्गीता और चार्वाक मत

गीता भी यद्यपि महाभारत का ही एक अशाश है। फिर भी उसकी महत्ता अधिक स्वातन्त्र्य रखती है। इसीलिए जगह-जगह पर गीता को एक स्वतन्त्र शास्त्र तक की सज्ञा दी गयी है। कही उसके महत्त्व के ख्यापनार्थ उसे उपनिषद् कहा गया है तो कही ब्रह्म-विद्या। यह बात तो सर्वथा निर्णीत है कि यह चार्वाक-सिद्धान्त का समर्थक नही है। क्योकि कुछ विवेचक इसको केवल ज्ञान का प्रतिपादक मानते हैं और कुछ लोग केवल कर्म का। अन्य कुछ लोगो ने ज्ञान और कर्म दोनो का इसे प्रतिपादक माना है। जो भी कुछ हो यह निर्विवाद है कि यहाँ चार्वाक-मत के समर्थन के अभिप्राय से कुछ नही कहा गया है। ऐसी वस्तुस्थिति के होते हुए भी यदि आनुषङ्गिक रूप मे यहाँ चार्वाकसिद्धान्त के समर्थक कुछ बातें मिल जायँ तो चार्वाकसिद्धान्त के लिए उन बातो का महत्त्व अत्यधिक होगा। क्योकि विरोधी के द्वारा की गयी प्रशसा का महत्त्व अधिक माना ही जाता है। और किसी भी ग्रन्थ में यदि उससे असम्पृक्त अन्य विषय की अभिव्यक्ति हो उठती है तो वह अभिव्यक्ति इसलिए सचमुच महत्त्वास्पद होती है कि उसके द्वारा उस ग्रन्थ के ऊपर पडा हुआ प्रभाव स्वाभाविक अवगत होता है। तो गहराई के साथ यहाँ यह देखा जाय कि गीता पर चार्वाकीय-सिद्धान्त का कुछ प्रभाव अव्यक्त भाव से पडा हुआ पाया जाता है या नही ? विश्वास यही है कि उक्त प्रभाव अवश्य इसके ऊपर पडा है। किन्तु लोगो की दृष्टि उधर बिलकुल नही जाती है। सर्वप्रथम उस घटना को ही लिया जाय जिस पर गीता अवतरित हुई है। उपदेश्य अर्जुन जहाँ युद्ध को हिंसा समझते हैं उपदेशक कृष्ण उसके विपरीत यह स्थिर कर दिखलाते हैं कि युद्ध क्षत्रियो के लिए पापात्मक हिंसा नही प्रत्युत उसके विपरीत धर्मात्मक सदाचरण है। इससे साररूप मे निर्णय यह उपस्थित किया गया है कि आचरण की अच्छाई एव बुराई का मूल्याकन परिस्थिति के आधार पर कर्तव्य है। परिस्थिति ही उसका मापदण्ड है। मरण की समानता को लेकर युद्धगत वीरवध और अयुद्धगत प्राणिवधको एक मानना उचित नही। यदि विचार करके देखा जाय तो इस प्रकार के आचरणगत अनैकान्तिक निर्णय के कारण ही धर्म की ऐकान्तिकता-वादियो ने राजनीति एव उनके दर्शनभूत चार्वाकीय दृष्टिकोण की निन्दा की है एव उनके प्रति घृणा का भाव फैलाया है। अत यह मानना ही होगा कि गीता पर चार्वाक दृष्टिकोण का प्रभाव अवश्य है। यह तो हुआ एक साधारण निदर्शन, अब कुछ विशेष स्थलो को लिया जाय। गीता के द्वितीय अध्याय मे कृष्ण ने पहले तो अर्जुन को यह कहकर युद्ध लिप्त बनाने की चेष्टा की है कि "आत्मा सर्वथा अविनाशी है वह मारा जा ही नही मरता, फिर हिंसात्मक अधर्म की सम्भावना ही नही है, अत तुझे

युद्ध सम्बन्धी निजी निर्णय से नहीं डिगना चाहिए, उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिए। फिर तुरन्त पक्षान्तर का आश्रयण करते हुए अर्जुन से वे यह कहते हैं कि [२५३] "यदि तुम आत्मा को नियमत उत्पाद-विनाशशील मानते हो फिर भी तुम्हें युद्ध-विरोधी चिन्ता नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी होती ही है और मरे का जन्म भी फिर होना ही है। जब कि यह अपरिहार्य नियम है तो तुझे सोचते हुए युद्ध-विरत नहीं होना चाहिए। सारे भूतों का यह स्वभाव देखा जाता है कि वह पहले रहता नहीं बीच में कुछ देर के लिए देखा जाता है और फिर अव्यक्त हो जाता है अर्थात् निधन को पा जाता है, तो फिर उसके सम्बन्ध में व्यर्थ रोने-धोने से क्या लाभ ? यहाँ विचार करके देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह द्वितीय पक्ष सर्वथा चार्वाक मताश्रित है। क्योंकि यह मरना-जन्मना शरीर का ही स्वभाव है और शरीरात्मवाद चार्वाकमत की ही विशेषता है। सम्भव है कुछ लोग यहाँ यह शका उपस्थित करें कि "मरने वाले को जन्म अवश्य प्राप्त होता है" यह कथन कैसे चार्वाकमत में सगत हो सकता है ? क्योंकि चार्वाकसिद्धान्त जन्मान्तरवादी तो है नहीं ? तो इसके सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि पञ्चाग्नि-विद्या के आधार पर सूक्ष्म भौतिक जन्मान्तर चार्वाकदर्शन में भी मान्य है यह बात, पहले बतलायी जा चुकी है। दूसरी बात यह कि प्रत्येक भौतिक वस्तु के विनाश-स्थल में उसका रूपान्तरात्मक जन्मान्तर प्रत्यक्षत देखा जाता है और साथ ही भूतचैतन्य भी यहाँ मान्य है। ऐसी परिस्थिति में चार्वाक-मत में तो विचार करके देखने पर नियमत प्रत्येक भूत का जन्मान्तर होता ही है। चार्वाक जन्मान्तर मानता नहीं यह आक्षेप जड-चेतन विभाग की मान्यता पर आधारित है। अत वह अन्य लोगों के द्वारा दिया जाने वाला एक प्रकार आक्षेपाभास मात्र है। अब आगे बढा जाय—

द्वितीय अध्याय में ही ४२ श्लोक से लेकर ४५ श्लोक पर्यन्त जो वेदवाद [२५४] की निन्दा की गयी है, यदि विचार करके देखा जाय तो यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णित चार्वाकीय वेदवाद के ऊपर ही आक्षेप उपस्थित किया गया है। यह चार्वाकमत भी किस प्रकार

(२५३) अथचेत्त्व नित्यजात नित्य वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

—भगवद्गीता, अध्याय २ ।

(२५४) वेदवादरता पार्थ ! नान्यदस्तीतिवादिन. । ४२ ।
त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । ४५ ।

—भगवद्गीता, अध्याय २ ।

वैदिक है इसका दिग्दर्शन पहले कराया जा चुका है। इस मेरे कथन पर अविश्वास का प्रस्ताव इसलिए नही उपस्थित किया जा सकता कि मीमासा के महान् व्याख्याता भट्ट कुमारिल ने अपने वार्तिक मे अपना यह मत व्यक्त किया है कि "प्राय [२५५] लोगो के द्वारा वैदिक विचारात्मक मीमासा लोकायत बना दी गयी है। उसे आस्तिक मार्ग पर लाने के लिए यहाँ मेरे द्वारा यह प्रयत्न किया गया है", चतुर्थ अध्याय के २१ श्लोको मे "यतचित्तात्मा" [२५६] यहाँ पर आत्म शब्द का प्रयोग शरीर अर्थ मे किया गया है। शरीरात्मवाद चार्वाक-दर्शन की विशेषता है यह आत्मविवेचको को मालूम ही है। यहाँ आत्मा शब्द शरीर अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, यह केवल मेरी कोरी कल्पना नही है। शकराचार्य ने भी अपने भाष्य के अन्दर यहाँ "आत्मा" शब्द का अर्थ शरीर ही किया है। अत मानना ही होगा कि यह पडने वाले चार्वाकदर्शन के प्रभाव का ही फल है। इसी प्रकार पचम अध्याय के ७ वे श्लोक मे "विजितात्मा" [२५७] इस शब्द के प्रयोग स्थल मे "आत्मा" शब्द का अर्थ शरीर ही किया गया है, शरीरातिरिक्त आत्मा नही। आचार्य शकर ने भी उक्त "विजितात्मा" का अर्थ "विजितदेह" अर्थात् अपने देह पर विजय पाने वाला यही अर्थ किया है। ऐसी परिस्थिति मे यह कैसे कहा जा सकता कि गीता चार्वाक मत से प्रभावित नही है ? इसके अतिरिक्त इसी श्लोक मे जो "सर्वभूतात्मभूतात्मा" यह कहा गया है कि वह जिस प्रकार चार्वाक-सिद्धान्त के अनुरूप सरस अर्थ को प्राप्त करता है वैसा अन्य दर्शन के अनुरूप नही। क्योकि "सर्वभूतस्वरूप होने वाली है आत्मा जिसकी" यही अर्थ उक्त शब्द का उचित प्रतीत होता है। महा-समवायात्मक उक्त अद्वैत भूत को लेकर यह अर्थ सर्वथा सुसगत होता है। छठे अध्याय

(२५५) प्रायेणैव हि मीमासा लोके लोकायतीकृता ।
तामास्तिकपथे कर्त्तुमय यत्न कृतो मया ॥ १० ॥
—तन्त्रवार्तिक ।

(२५६) निराशीर्यत-चित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह ।२१।
भगवद्गीता, अध्याय ४ ।

चित्त अन्त करणम्, आत्मा कार्यकरणसघात तौ उभौ अपि यतौ येन स यतचित्तात्मा । —शाङ्करभाष्य ।

(२५७) योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय
सर्वभूतात्म-भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
—भगवदगीता, अध्याय ५ ।

विजितात्मा विजितदेह । —शाङ्करभाष्य ।

के २९ श्लोक मे जो [258] यह कहा गया है कि "योगयुक्तात्मा व्यक्ति आत्मा को सर्वभूतस्थ एव सारे भूतो को आत्मा मे सम्बद्ध देखना है" यह कथन भी भूत-चैतन्यवादी चार्वाक मत मे ही अधिक समञ्जस होता हुआ प्रतीत होता है। सप्तम अध्याय मे १२ वे श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि "सारे [259] सासारिक सात्त्विक, राजस और तामस भाव मुझसे ही होने वाले है और वे मुझमे ही अवस्थित है, मैं उनमे अवस्थित नही हूँ" वह कथन भी वर्णित चार्वाकानुसारी महासमवायात्मक भूताद्वैत की ओर इगित करता हुआ प्रतीत होता है। आगे चल कर आठवे अध्याय मे जो कृष्ण के द्वारा अर्जुन को "ब्रह्म" और "अध्यात्म" [260] आदि का परिचय दिया गया है वहाँ "अध्यात्म"गत आत्म-शब्द देह का ही वाचक है जो कि चार्वाकीय शरीरात्मवाद के अनुसार ही सगत हो सकता है। अध्यात्म शब्द का भाष्य करते हुए शङ्कराचार्य ने जो कुछ वहाँ कहा है वह भी अध्यात्म शब्दगत आत्मशब्द के शरीरात्मक अर्थ का ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है। अध्याय ९ के छठे श्लोक के द्वारा जो कृष्ण ने अर्जुन से यह कहा है कि "आकाश [261] मे सर्वत्र वायु के समान, सारे भूत मुझमे ही अवस्थित है ऐसा समझो"। यह कथन भी उक्त महासमवायात्मक भूताद्वैत को लेकर ही पूर्ण सगत होता हुआ प्रतीत होता है। सम्भव है यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करे कि "सारे भूतो के अन्दर तो वह महासमवायात्मक अद्वैत भूत भी हस्तगत होगा, ऐसी परिस्थिति में फिर किस भूत मे उस महासमवायात्मक अद्वैत भूत को अवस्थित माना जायगा? तो इसके उत्तर हो सकते है। एक यह कि "सारे भूत" इसके अन्दर आने वाले भूत पद को "भौतिक" अर्थक माना जा सकता है। दूसरा यह कि "स्वे महिम्नि" इस उपनिषत् वाक्य के अनुसार उसे स्वप्रतिष्ठ अर्थात् स्वकीय स्वरूप मे ही अवस्थित माना जा सकता है। नित्य-विज्ञानाद्वैतवादी वेदान्ती लोग यदि अपने नित्य विज्ञानात्मक ब्रह्म

(२५८) सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ॥ २९ ॥—भगवद्गीता, अध्याय ६।

(२५९) ये चैव सात्त्विका भावा राजसा तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् सर्वान् नत्वह तेषु ते मयि॥ १२ ॥
—भगवद्गीता, अध्याय ७।

(२६०) अक्षर ब्रह्म परम स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ॥ ३ ॥—भगवद्गीता, अध्याय ८।

(२६१) यथाकाशस्थितो नित्य वायु सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
—भगवद्गीता, अध्याय ९।

को "स्वप्रतिष्ठ" कह सकते हैं तो उक्त महासमवायात्मक अद्वैत भूत को वैसा क्यों नहीं माना जा सकता। यदि गम्भीरता पूर्वक विचार करके देखा जाय तो स्वप्रतिष्ठता समाजात्मक समवाय के लिए ही यौक्तिक प्रतीत होगी। इसके अतिरिक्त १६ वे श्लोक से पूरे अध्याय तक मे जो[२६२] "क्रतु यज्ञ स्वधा औषध मन्त्र आज्य अग्नि और द्रव्य अथवा आहुति क्रिया सब कुछ मैं ही हूँ यह उपदेश कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिया गया है वह भी महासमवायात्मक भूताद्वैत को लेकर चार्वाकीय-सिद्धान्त मे यौक्तिक रूप मे सगत होता हुआ दीखता है। अनन्तर १० अध्याय मे विस्तृत भाव से वर्णित विभूति-योग, और ११ वे अध्याय का विश्वरूप दर्शन का प्रसग तो मानो हृदय खोल कर चार्वाकीय भूताद्वैत-सिद्धान्त का समर्थन करता है। १२ वे अध्याय मे १३ वे श्लोक के अन्दर जो "अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्"[२६३] अर्थात् सर्वभूतवादियो फलत भूत चैतन्यवादी चार्वाकियो का अद्वेष्टा होना चाहिए यह कहा गया सा प्रतीत होता है उसे बिलकुल बुद्धिपथ से हटाया नही जा सकता। १३ वें अध्याय मे जो ब्रह्म का स्वरूप विस्तृत भाव से वर्णित हुआ है वह भी भूताद्वैत-पक्ष का ही समर्थन करता हुआ-सा दीख पडता है। देखिए १३ वें श्लोक को। उसके द्वारा यह कहा गया है कि "ब्रह्म सब ओर[२६४] हाथ पांव आदि को धारण किये हुए अवस्थित है। आँख, सिर, मुख आदि भी उसे सब ओर है। वह सर्वत्र "कानयुक्त" है और सबको वह आवृत करके अवस्थित है"। यह कथन निर्गुण नित्य विज्ञानाद्वैत-वाद मे सगत हो सकता है या चेतन भूतवाद मे, यह विचार करने की बात है। उसी प्रसग मे जो यह कहा गया है कि "वह ब्रह्म[२६५] अविभक्त अर्थात् एक होते हुए भी विभिन्न भूतो के रूप मे अवस्थित है। ग्रसिष्णु और प्रभविष्णु उस ब्रह्म को भूत-भर्त्ता समझना चाहिए" यह भी प्रकृत चार्वाकीय विचारधारा से अत्यन्त सलग्न प्रतीत होता है। इसी अध्याय के २८ वे श्लोक[२६६] की व्याख्या करते हुए

(२६२) अहक्रतुरह यज्ञ स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोहमहमेवाज्यमहमग्निरह हुतम्॥ १६॥—भगवद्गीता, अध्याय ९।

(२६३) अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्र करुण एव च॥ १३॥
—भगवद्गीता, अध्याय १२।

(२६४) सर्वत पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥
—भगवद्गीता, अध्याय १३।

(२६५) अविभक्त विभक्तेषु समवस्थितमीश्वरम्॥ १६॥
—भगवद्गीता, अध्याय १३।

भाष्यकार शङ्कर[२६६] किस प्रकार चार्वाकीय शरीरात्मवाद के प्रभाव मे आ गये है अज्ञात रूप से, इसका, उनकी 'धर्माधर्मौ कृत्वा उपात्तमात्मन हत्वा अन्य आत्मान उपादत्तेनवम्" इस पक्ति से अनायास पता चलता है। वे इस पक्ति के द्वारा यह कहते हैं कि अज्ञ जनता इसलिए "आत्महा" है कि निजी धर्माधर्म के कारण पूर्ववर्त्ती आत्मा को अर्थात् शरीर को छोडता है और अन्य आत्मा अर्थात् शरीर को ग्रहण करता है" यहाँ वे शरीर को ही तो आत्मा कह बैठते हैं। इसे चार्वाक प्रभाव के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता ?

१३ वे अध्याय के ही ३० वे श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि "जब विवेचक भूतो के पृथक्[२६६अ] भावो को अर्थात् पृथग्भूत भूतो को एकस्थ देखता है तब वह विस्तार-प्राप्त एक ब्रह्म को देखता है" यह कथन भी चार्वाकीय महासमवायात्मक उक्त भूताद्वैत से प्रभावित प्रतीत होता है। आगे चल कर १४ वे अध्याय के ३ रे श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि "मेरा महद्ब्रह्मात्मक रूप[२६६ब] समग्र ससार का कारण है उसी मे मेरे गर्भवास-प्रयुक्त सारे भूतो की अर्थात् भौतिको की उत्पत्ति होती है" यह कथन भी चार्वाकीय महासमवाय से कम प्रभावित नही प्रतीत होता है। क्योकि भूत चैतन्य के अभ्युपगम-प्रयुक्त कथित ज्ञान-गर्भता चार्वाक-सिद्धान्त मे ही सहजत सगत होती है। पन्द्रह अध्याय के १६ वे श्लोक मे जो क्षर और अक्षर दोनो को "पुरुष" कहा गया है वहाँ भी चार्वाक-सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से पडता हुआ दिखाई देता है। क्योकि "पुरुष" शब्द का प्रयोग प्राय अधिकतर चेतन अर्थ मे ही शास्त्र मे होता हुआ पाया जाता है। और वहाँ भूतात्मक क्षर को भी पुरुष स्पष्ट रूप से कहा गया है। जो लोग चार्वाक-सिद्धान्त को असुरो का सिद्धान्त मानते है उनके मत मे गीता का सारा सोलहवाँ अध्याय जिसके अन्दर विस्तृत रूप मे "दैवी" और "आसुरी" सम्पत् का विवेचन पाया जाता है, चार्वाकीय-आचरण का स्थापक कहा जा सकता है किन्तु चार्वाक-सिद्धान्त को एक स्वतन्त्र-वर्ग-मूलक आसुर-सिद्धान्त इसलिए नही कहा जा सकता

(२६६) सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽत्मान ततो याति परा गतिम् ॥ २८ ॥
—भगवद्गीता, अध्याय १३, शाङ्करभाष्य।

(२६६अ) यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तार ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥
—भगवद्गीता, अध्याय १३।

(२६६ब) मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भंदधाम्यहम् ।
सम्भव सर्वभूताना ततो भवति भारत ॥ ३ ॥—भगवद्गीता, अध्याय १४।

कि ईशोपनिषत् के "असुर्या नाम ते लोका" इसकी व्याख्या[२६६ख] करते हुए भाष्य-कार शकर ने भी यह कहा है कि "अद्वैत की तथ्यता के अनुसार उसके ज्ञान से वर्जित होने वाले देवता भी असुर कहलाने के पात्र होते हैं" इससे यह स्पष्ट हो उठता है कि असुर नामक एक वाशिक वर्ग की कल्पना और उस वर्ग का नियमित रूप से दुराचरण आदि की कल्पना उचित नही है। कहने का तात्पर्य यह कि एक भी व्यक्ति कालभेद से अच्छे और बुरे आचरण के कारण "देव" और "असुर" कहलाने का अधिकारी हो सकता है। अत वाशिक आसुर-वर्ग और उसका सिद्धान्त, इसकी मान्यता के आधार पर कोई बात नही की जा सकती। आगे चल कर अठारहवे अध्याय मे ४८ श्लोक मे जो यह कहा गया है कि "हे कुन्ती पुत्र[२६६ग] अर्जुन! कोई भी कर्म यदि सहज हो अर्थात् बराबर से किया जाता आता हो तो सदोष होने पर भी अर्थात् किसी कारण वश कुछ लोगो की दृष्टि मे अनुचित माने जाने पर भी हठात् उसे नही छोडना चाहिए" यहाँ चार्वाकीय राजनीतिक विचार धारा का प्रवाह स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रकार गीता-शास्त्र पर भी जगह-जगह अति प्राचीन लौकायतिक विचारधारा का प्रभाव मिलता ही है, यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय।

विष्णु-पुराण और चार्वाक मत

पुराणो की भी गणना "स्मृतियो" के ही अन्दर है जो कि "पुराण" इस नाम के ऊपर गहराई के साथ दृक्पात करने पर भी उचित प्रतीत होती है। यो तो आज "पुराण" शब्द का "पुराना" यही अर्थ प्रचलित है। तदनुसार प्राचीनतर सास्कृतिक साहित्य ही प्रकृत "पुराण" शब्द का अर्थ समझा जाता है। किन्तु गम्भीरतापूर्वक इस 'पुराण' शब्द पर दृष्टिपात करने पर कुछ और अर्थ निकलता-सा ध्वनित होता है। इस शब्द को विवेचकीय दृष्टि से देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल मे "पुरा न" यह एक वाक्य था। जिसका अर्थ होता था "प्राचीन काल में नही होने वाला"। कहने का तात्पर्य यह कि वेद को लोग युग-युगान्तर से आने वाले अनादि-साहित्य मानते

(२६६ख) असुर्या परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोप्यसुरा ।
तेषा च स्वभूता लोका असुर्या ।
—ईशवास्योपनिषत् श्लो० ३, शाकरभाष्य ।

(२६६ग) सहज कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥ ४८ ॥
—भगवद्गीता, अध्याय १८ ।

थे किन्तु अन्य साहित्य को वेद के समान वैसा नही मानते थे। इसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उन वेदेतर साहित्य को लोग "पुरा, न" इस वाक्य से कहते थे। धीरे-धीरे "पुरा" और "न" इन दोनो के बीच होने वाले उच्चारणगत व्यवधानहटते-हटते परिस्थिति यहाँ आ पहुँची कि लोग "पुरान" इस प्रकार एक पद समझने लगे। अत व्याकरण के नियमानुसार "न" के स्थान मे "ण" का उच्चारण होने लगा। फलत "पुराण" यह एक पद बन गया। इस शाब्दिक परिस्थिति की नवीनता के होते हुए भी इसकी आर्थिक परिस्थिति पूर्ववत् सुस्थिर रही। तदनुसार आज भी वेदेतर व्यास-निर्मित रूप में प्रथित विशाल साहित्य "पुराण" शब्द से कहा जाता है। इस विशाल पुराण-साहित्य के अन्दर यहाँ केवल विष्णु-पुराण को ही प्रकृत विवेचन के लिए इसलिए लिया जा रहा है कि सर्व-दर्शन-सग्रहकार आचार्य माधव ने अपने उक्त सग्रह ग्रन्थ के अन्दर सर्वप्रथम चार्वाक-दर्शन लिखते हुए इस पुराण के अनेक वाक्यो को यथावत् ग्रहण किया है। विष्णु-पुराण के तृतीय अश के सत्रहवे अध्याय मे माया-मोह के प्राकट्य का वर्णन किया गया है। और इस अध्याय के अन्त मे यह कथा आयी है कि भगवान् विष्णु ने अपने शरीर से माया-मोह को उत्पन्न करके दैत्यो से उपद्रुत देवताओ को सम्बोधित करते हुए उनसे यह कहा कि यह माया-मोह सारे दैत्यो को मोहित कर डालेगा तब ये वेदमार्ग-बहिष्कृत होकर मारे जायेगे। अब कोई डरने की बात नही। क्योकि यह माया-मोह तुम लोगो के साथ आगे-आगे चलेगा। देवगण विष्णु को प्रणाम करके माया-मोह को आगे करके वहाँ से चल पडे। इसके अनन्तर १८ वे अध्याय मे इस प्रकार वर्णन उपलब्ध है कि उस माया-मोह ने नर्मदा के किनारे तपस्यारत असुरो को देखा। और उनसे यह पूछा कि आप लोग ऐहिक-फल के लिए तपस्या कर रहे है या पारलौकिक फल के लिए ? जब उन लोगो ने यह बतलाया कि[२६७] "पारलौकिक फल चाहते है" तब माया-मोह ने उन लोगो से यह कहा कि जो मैं कहता हूँ वैसा करो तो तुम लोग मुक्त हो जाओगे।[२६८] इस प्रकार कह कर माया-मोह ने इस प्रकार

(२६७) पारत्र्यफललाभाय तपश्चर्या महामते ।
अस्माभिरियमारब्धा किंवा तेऽत्र विवक्षितम्।

—विष्णुपुराण, अश ३, अध्याय १८।

(२६८) एव प्रकारैर्बहुभिर्युक्तिदर्शन-चर्चितै ।
महामोहेन ते दैत्या वेदमार्गादपाकृता ॥
अल्पैरहोभि सन्त्यक्ता तैर्दैत्यै शस्त्रयी ।

—विष्णुपुराण, अश ३, अध्याय १८।

वेद-विरुद्ध आचरणो का उन्हे उपदेश दिया कि कुछ ही दिनो मे वे सारे के सारे सर्वथा वैदिक आचरणो से बहिर्मुख हो चले। पारस्परिक उपदेश से उनकी सख्या बढ चली। रक्ताम्बर-धारी उस *माया-मोह ने उन अन्य असुरो से भी जाकर* इस प्रकार समझाया कि यदि आप लोग स्वर्ग या अपवर्ग चाहते है तो सर्वथा पशुवध-आदि-घटित वैदिक धर्मो का त्याग करे। इस प्रकार माया-मोह से उपदिष्ट होने वाले उन लोगो के अन्दर कोई वेदनिन्दक बना तो कोई देवनिन्दक। कुछ यागयज्ञ की निन्दा करते थे तो अन्य कुछ लोग ब्राह्मणो की निन्दा। वे आपस मे इस प्रकार उपदेश देने लगे कि "यह कथन[२६९] उचित नही कहा जा सकता कि हिंसा अर्थात् यज्ञगत पशुवध धार्मिक है। आग मे व्यर्थ जलाये गये हव्य पदार्थ फल-प्रद होते हैं" यह कथन बच्चो का ही हो सकता है। अनेक[२७०] यज्ञो को करके इन्द्र आदि बने हुए देवता भी यदि शमी आदि काठ खाए तो उनसे अच्छे तो पत्रभोजी पशु ही कहे जायेगे।[२७१] यज्ञ मे मारे गये पशु आदि यदि स्वर्ग प्राप्त करे तो यजमान अपने पिता को ही यज्ञ-पशु बना कर क्यो न उसे मारता? दूसरो के खाने से यदि दूसरे तृप्त हो तो प्रवासी यात्री पाथेय का भार क्यो ढोए? उसके घर वाले उसका श्राद्ध कर डालें? श्राद्ध याग-यज्ञ आदि के प्रचलन का आधार केवल श्रद्धा ही है अत उनमे कोई तात्त्विकता नही। इसलिए उन याग आदि के प्रति उपेक्षा ही उचित है। आप्त वाक्य यो ही कही आकाश से नही टपक पडते अत मुझे एव आपको तथा औरो को भी यही चाहिए कि वे युक्तियुक्त वाक्यो का ही आदर किया करे। माया-मोह से प्रबोधित होकर जब वे लोग इस प्रकार की विचारधारा मे बह चले तब उन्हे बुद्धिभ्रष्ट देख कर देवताओ ने उनपर युद्धात्मक आक्रमण कर डाला। प्राक्तन धर्म-कवच नष्ट हो जाने के कारण अधिकतर वे दैत्य लोग मारे गये। और जो कुछ इधर-उधर खिसक कर बच गये वे त्रयी-सम्वरण-रहित हो जाने के कारण दिगम्बर बन गये।" इस उपाख्यान को आधार करके ही माधव ने चार्वाक दर्शन का स्वरूप निर्णय किया है जिसका विशेष स्पष्टीकरण आगे होगा। यदि विचार के साथ इस उपाख्यान को देखा जाय तो

(२६९) नैतद्युक्तिसह वाक्य हिंसा धर्माय चेष्यते।
हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम्॥

(२७०) यज्ञैरनेकैरिन्द्रत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते।
शम्यादि यदि चेत्काष्ठ तद्वर पत्रभुक् पशु॥

(२७१) निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।
स्वपिता यजमानेन कि नु तस्मान्न हन्यते॥

—विष्णुपुराण, अश ३, अध्याय १८।

यहाँ चार्वाक या लोकायत किंवा लौकायतिक की चर्चा बिलकुल नहीं आयी है। नग्न अर्हत आदि शब्दो के प्रयोग से जैनो की, तथा "विज्ञान ही सत्त्व है" इस प्रकार उपदेश की, मध्य मे चर्चा के कारण क्षणिक-विज्ञान को ही तत्त्व मानने वाले योगाचार साम्प्रदायिक बौद्धो की भी चर्चा आयी है। हाँ, यह एक बात आयी है कि—अन्य दैत्यो को भी माया-मोह ने पथभ्रष्ट कर उपदेश दिया एव उन्होने आपस मे भी उपदेश देकर वेद-विरोधी विचारधारा को फैलाया। क्या इतने से ही इस उपाख्यान को चार्वाक मत का भी उद्गमक मानना उचित कहा जायगा ?

सर्व-दर्शन-सग्रह और चार्वाक मत

मान्यता एव अमान्यता की बात को अलग रख कर केवल यदि यह विचार किया जाय कि सुश्रृखल रूप में चार्वाक मत का प्रतिपादन, ग्रन्थ-रूप मे कहाँ प्राप्य है तो सर्व सम्मत उत्तर यही होगा कि सायण माधव रचित 'सर्व-दर्शन-सग्रह' का प्रथम अश "चार्वाक-दर्शन" मे ही। सायण माधव के चार्वाक-दर्शन को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये महाभारत की पूर्ववर्णित चार्वाक-कथा एव और विष्णु-पुराण के मायामोह-सम्बन्धी उपाख्यान से पूर्ण प्रभावित थे। मालूम ऐसा पडता है कि सर्वदर्शन-सग्रह-कार माधव वाल्मीकीय-रामायण-घटक उस राम-जाबालि कथा से जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है परिचित नही थे। उन्हें यह अवश्य मालूम नही था कि राम ने चार्वाक मत को "आन्वीक्षिकी" कहा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि उनकी दृष्टि उस ओर गयी होती, और साथ ही आचार्य कौटिल्य तथा वात्स्यायन के द्वारा की जाने-वाली आन्वीक्षिकी की प्रशसा की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ होता तो वे अपने "चार्वाक-दर्शन" को अवश्य और रूप देते। साथ ही उनकी दृष्टि इधर भी सम्भवत नही गयी कि इस प्रकार के अति छिछली, लौकिक दृष्टि से भी घृणास्पद मतवाद को "दर्शन" जैसे पवित्र शब्द से कैसे कहा जा सकता ? उन्होने अपने चार्वाक-दर्शन के अन्दर विष्णु-पुराण-गत उक्त माया-मोह-सम्बन्धित उपाख्यान से कुछ श्लोको को लेते हुए ज्ञान पुरस्सर कुछ शब्द मात्र का परिवर्तन किया है ऐसा दोनो जगहो के श्लोक-पाठो को मिला कर देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है। सम्भवत उन्होने ऐसा इसलिए किया कि वे श्लोक चार्वाक-दर्शन के आचार्य रूप से प्रसिद्ध बृहस्पति के माने जा सकें। उन्होने उन श्लोको को बृहस्पति का ही बतलाया है। यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि चार्वाक को [२७२] उन्होने नास्तिक-शिरोमणि कहा है परन्तु विष्णु-पुराण की जिस उक्त कथा को उन्होने

(२७२) बृहस्पति-मतानुसारिणा नास्तिक-शिरोमणिना चार्वाकेण··· ।—सर्व-दर्शनसग्रह, चार्वाक-दर्शन।

मूल भित्ति रूप में ग्रहण करके निजी रञ्जना के द्वारा एक अवाञ्छनीय दार्शनिक रूप दिया है, वहाँ चार्वाक या लोकायत, अथवा लौकायतिक के नाम तक का उल्लेख नही पाया जाता है। नग्न की चर्चा वहाँ मुख्य रूप से पायी जाती है जिससे दिगम्वर जैन अभिप्रेत प्रतीत है, एव वीच मे एक जगह क्षणिक-विज्ञान की भी चर्चा आयी है जिससे एक बौद्ध-सम्प्रदाय भी अभिप्रेत प्रतीत होता है। यदि वहाँ आये हुए "अन्य दैत्य असुर लोग भी वेद मार्ग से च्युत होकर नष्ट हुए" एतदभिप्रायिक कथन के अनुसार उन्होंने "अन्य" के अन्दर चार्वाक को लिया, तो उन्हें चार्वाक को नास्तिक-शिरोमणि नही कहना चाहिए था। क्योकि अमुख्य रूप से गृहीत होने वाले व्यक्ति को "शिरोमणि" कह कर मुख्य कहना कैसे सगत कहा जा सकता ?

इनके चार्वाक-दर्शन मे यह भी परिस्थिति देखी जाती है कि जिसको इन्होंने चार्वाक पक्ष की ओर से प्रमाण रूप मे उपस्थित किया है उस पक्ष से ही उसे "आमाणक" कह कर प्रामाण्यच्युत कर डाला है। कहने का तात्पर्य यह कि ये इस ओर नही ध्यान देते पाये जाते है कि जिससे मै अनुमान आदि को सर्वथा अप्रमाण मानने वाला वतला रहा हूँ उसकी ओर से लोकोक्ति रूप आमाणक को कैसे प्रमाण वतलाया जा सकता ? माधव ने जो कुछ अपनी ओर से विवेचन किया है वह है मुख्यत प्रमाण-विवेचन। उसके अन्दर आपने व्याप्ति को दुर्वोध[२७३] वता कर अनुमान का खण्डन किया है। ऐसा उन्होंने इसलिए किया है कि तादात्म्य एव कार्य-कारण-भाव-मूलक व्याप्ति के निर्णय को वौद्ध-पक्ष से सुलभ वतला कर अव्यवहित-उत्तर द्वितीय-दर्शन रूप में वर्णनीय वौद्ध दर्शन के द्वारा इस चार्वाक-दर्शन का खण्डन किया जा सके। कहने का तात्पर्य यह कि वे अन्तिम शाकर-दर्शन को छोड कर किसी भी दर्शन को लिखते समय उस दर्शन की ओर से उतना ही लिखना चाहते है जिससे अव्यवहित परवर्त्ती रूप मे उपन्यसनीय दर्शन के अभ्युदय मे किसी प्रकार की वाधा नही उदित होकर साहाय्य प्राप्त हो। ऐसी परिस्थिति में ऐसे लेखक को पूर्व दर्शनो का सच्चा लेखक कहा जाय या नही ? यह सम्भवत अवश्य विचाराधीन माना जायगा। अदृष्ट को न मनाने पर जागतिक प्रत्यक्षसिद्ध विचित्रता के सम्बन्ध मे प्रश्न उठा कर जो उन्होंने चार्वाक की ओर से स्वभाव-वाद का आश्रय करते हुए उत्तर दिया है वह भी "कही का ईंट कही का रोडा" इस लोकोक्ति को ही चरितार्थ करता हुआ प्रतीत होता है। चार्वाक-सिद्धान्त को तार्किक सिद्धान्त मानना आवश्यक है। अन्यथा प्रदर्शित वाल्मीकीय-रामायणगत राम-भरत-

(२७३) धूमधूमध्वजयोरविनाभावोऽस्तीतिवचनमात्रे मन्वादिवद्विश्वासाभावात्।
—सर्वदर्शनसग्रह, चार्वाकदर्शन।

सवाद एव राम-जावालि-सवाद अनुपपन्न हो उठेगा। क्योकि राम ने स्पष्ट रूप मे लोकायत-बुद्धि को आन्वीक्षिकी कहा है। मनु ने भी [२७४] "हेतुक" कह कर चार्वाक पर ही आक्षेप किया है उससे भी यही सिद्ध होता कि चार्वाक-सिद्धान्त स्वभाववादी नही है। क्यो कि स्वय [२७५] स्वभाववादी व्यक्ति औरो से भी किसी विषय के सम्बन्ध मे ऐसा प्रश्न नही उठा सकता कि "ऐसा क्यो"। इसके अतिरिक्त यह भी एक ध्यान देने की बात है कि अपने द्वारा निर्धारित चार्वाक-दर्शन के स्वरूप को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उपस्थापित साढे ग्यारह श्लोको के उल्लेख के अव्यवहित पूर्व जो माधव ने सिद्धवत् रूप में यह कहा है कि "तदेतत्सर्वं वृहस्पतिनाप्युक्तम्" "ये सारी बाते वृहस्पति ने भी कही है" इसे तब तक कैसे सत्य माना जाय जब तक ठीक इन्ही आनुपूर्वियो मे ये श्लोक वृहस्पति द्वारा उक्त रूप मे अन्वेषको को उपलब्ध न हो जायँ ? इन श्लोको के अन्दर चार श्लोक यहाँ बिलकुल मिलते जुलते अति अल्प शाब्दिक-मात्र-परिवर्त्तन-युक्त रूप मे विष्णुपुराण मे उपलब्ध है यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। अन्य भी श्लोक उनके स्वकल्पित अथवा उक्त "कही का ईंट कही का रोडा" को ही चरितार्थ करने वाले-से प्रतीत होते हैं यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। जिन श्लोको के सम्बन्ध मे ये बातें की जा रही है उनका सरल अर्थ इस प्रकार है—

"न स्वर्ग है और न अपवर्ग, साथ ही परलोक तक से सम्पर्क शील कोई आत्मा भी नही है। इसलिए वर्ण आश्रम सम्बद्ध क्रियाएँ भी फलप्रद नही है।१। [२७६] अग्नि-होत्र, तीनो वेद, त्रिदण्ड-धारण और भस्म-लेपन, ये सभी प्रजापति ब्रह्मा के द्वारा बुद्धि पौरुषहीन निरुपाय जनो के लिए एक प्रकार जीविका के रूप मे प्रवर्त्तित हैं। २। ज्योति-ष्टोम यज्ञ मे मारा गया पशु यदि स्वर्ग जायेगा ? तो यजमान के द्वारा यजमान का पिता ही क्यो न यज्ञ मे, पशुस्थानापन्न रूप में मारा जाता है ? ।३। श्राद्ध यदि मरे हुए व्यक्तियो को भी तृप्ति पहुँचाये, तो तेल, बुते हुए दीप की शिखा को क्यो न बढा दे ? ।४। दूर के यात्रियो को व्यर्थ पाथेय नही ढोना चाहिए। क्योकि घर वाले उसके नाम श्राद्ध

(२७४) हैतुकान्वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।

—मनुस्मृति ।

(२७५) अग्निरुष्णो जलं शीत समस्पर्शस्तथाऽनिल ।
केनेद चित्रित ? तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थिति. ॥

—सर्वदर्शनसग्रह, चार्वाक-दर्शन ।

(२७६) अग्निहोत्र त्रयो वेदा त्रिदण्ड भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनाना जीविकेति बृहस्पति ॥

दे देंगे जिससे उसे अनिवार्य रूप से तृप्ति प्राप्त हो ही जायेगी ।५। यहाँ दिये गये दान से यदि स्वर्गस्थ व्यक्ति को तृप्ति मिले तो मकान के नीचे महल मे दिया गया देय, मकान के छत पर बैठे हुए व्यक्ति को क्यो नही मिलता ? ।६। मनुष्य को चाहिए कि [२७७] जब-तक जीवित रहे सुख से जीवित रहे। ऋण भी करके घी पीये। क्योकि भस्मीभूत देह का पुन कैसे आगमन हो सकता ? ।७। देह से विनिर्गत जीव यदि स्वर्ग आदि परलोक जाता है तो बन्धु-बान्धव के स्नेह के कारण लौट कर चला क्यो न आता है ? ।८। इसलिए ये सारी बातें ब्राह्मणो के द्वारा अपनी जीविका चलाने के लिए गढ ली गयी हैं कि मरे व्यक्ति के लिए श्राद्ध करना चाहिए। ६। भाण धूर्त्त और राक्षस ये तीन ही वेद के रचयिता हैं। जर्फरी तुर्फरी इत्यादि पण्डितो की निरर्थक वाणी है। ।१०। भाणो ने ही वेद के अन्दर ऐसा कहा है कि अश्वमेधीय अश्व-शिश्न यजमान-पत्नी-द्वारा ग्राह्य है। ऐसे भाणो के द्वारा ही ऐसी अन्य बाते भी बहुत-सी कही गयी हैं ।११। मास का भक्षण तो राक्षसो का ही काम कहा जा सकता है।" इन श्लोकार्थो का उल्लेख इसलिए यहाँ किया जा रहा है कि इसके सम्बन्ध मे थोडी आलोचना की जाय। क्योकि बृहस्पति-उक्त के रूप मे इसे ही माधव ने चार्वाक-मत-निर्धारण की आधार शिला माना है। इन कथनो के अन्दर एक-दो बातें बहुत ही ध्यान देने योग्य हैं। क्योकि इसके प्रकाश मे माधव के द्वारा निर्धारित चार्वाक मत को देखा जा सकता है। देखिए—जब विपक्षी की ओर से स्वय माधव ने प्रश्न उठाया है कि अदृष्ट न मानने पर विचित्र जगत् की सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है, तब उन्होने चार्वाकीय-पक्ष से यह उत्तर दिया है कि स्वभाव ही उसका नियामक है। किन्तु आधार-शिलात्मक श्लोक-वाक्यो के अन्दर द्वितीय-श्लोक मे कहा गया है कि धाता ब्रह्मा के द्वारा बुद्धि-पौरुषहीन व्यक्तियो के लिए जीवनोपाय रूप मे ही अग्निहोत्र आदि चलाये गये हैं। बतलाइए एक ही चार्वाक-पक्ष से एक जगह विचित्र जगत् को स्वाभाविक कह कर जगत्निर्माता ब्रह्मा का अस्वीकार, और अपरत्र उस ब्रह्मा का अस्तित्व-कथन क्या व्याहत नही प्रतीत होता है ? सातवें श्लोक के द्वारा यह कहा गया है कि जब तक जीओ सुख से जीओ ऋण करके भी घी पीओ" इत्यादि। इस श्लोक का उल्लेख सम्भवत माधव ने चार्वाक-सिद्धान्त मे प्राप्त होने वाली सामाजिक उच्छृंखलता के द्योतनार्थ किया है। और उस उक्ति को प्राय चार्वाक की चर्चा करते हुए लोग बोल पडते हैं। परन्तु विचार करके देखने पर क्या इस वाक्य से उच्छृंखलता व्यक्त होती है ? कभी नहीं। यदि इसे चार्वाक-पक्षीय उक्ति थोडी देर के लिए मान

(२७७) यावज्जीवेत्सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ? ॥

भी लिया जाय तो इससे उसकी अनुपादेयता नही सिद्ध की जा सकती। लोग न मालूम कैसे इस वाक्य से अर्थ निकालते हैं कि इस वाक्य के द्वारा ऋण लेकर उसे न चुकाने के लिए कहा गया हे। क्योंकि व्याज के साथ पुनर्देय धन ही कहलाता है वस्तुत ऋण। अत जभी सुख के लिए ऋण-आदान का उपदेश दिया जाता है, तभी व्याज सहित उसकी परावर्तनीयता भी व्यक्त हो उठती ही है। भस्मीभूत देह का पुनरागमन सम्भव नही, यह कथन भी पुनर्जन्म के अभाव-द्योतनार्थ नही कहा जाता है किन्तु वर्तमान शरीर के रक्षार्थ, यह बात सही माननी ही होगी। भस्मीभूत दृश्य स्थूल शरीर तो फिर नही मिलता, यह सही है, किन्तु इससे पञ्चाग्नि विद्या [२७८] के आधार पर स्थिरीकृत पुनर्जन्म के स्वीकार मे एव स्थूल-शरीरान्तर की प्राप्ति में बाधा, इस वाक्य के द्वारा वस्तुत नही प्रतिपादित होती हे। एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि पहले चार्वाक-मत-वर्णन के प्रसग मे एक जगह उस पक्ष से यह कहा गया है कि मत्स्यभोजी व्यक्ति काँटेयुक्त मछलियाँ लाता ही है, तद्वत् दु ख-युक्त सुख भी उपादेय ही है। यहाँ के दृष्टान्त से यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि सुखमात्र के इच्छुक चार्वाक के लिए मत्स्य-मास-भोजन वर्जित नही है। परन्तु उक्त आधार-शिलात्मक साढे ग्यारह श्लोको के अन्दर अन्तिम श्लोकार्द्ध के द्वारा उन्होने चार्वाकीय मत के रूप मे यह व्यक्त किया है कि "मास भक्षण राक्षसी कृत्य है"। क्या एक ही पक्ष से इस प्रकार विरुद्ध बातो को उपस्थित करना माधव जैसे महा-विद्वान् के लिए उचित प्रतीत होता है? एक और बात यहाँ ध्यान देने की यह है कि यहाँ चार्वाकीय पक्ष मे मास भोजियो को चार्वाक की ओर से राक्षस कहा जा रहा है। किन्तु माधव ने जिस महाभारतीय एव विष्णु-पुराणीय उपाख्यान के आधार पर चार्वाकीय-मत का स्वरूप निर्धारण किया है उन दोनो स्थानो मे चार्वाक को ही राक्षस एव दैत्य कहा गया है यह मानना होगा। सभव है कुछ लोग इस सम्बन्ध मे यह कहें कि दो परस्पर-विरोधी व्यक्ति आपस मे एक दूसरे को राक्षस कह सकते हैं। ऐसा कहा ही करते है, तो इस पर वक्तव्य यह है कि राक्षस लोग अपने को राक्षस समझने मे गर्व किया करते थे। रामायण मे रावण को राक्षसेश्वर कहते हुए उनके प्रति आदर व्यक्त किया गया बहुश प्रतीत होता है। तद-नुसार महाभारतीय आख्यायिका के आधार पर राक्षस होने वाले चार्वाक साम्प्रदायिक कैसे यह कह सकते कि "मास खाना राक्षसो का कृत्य है, अनुचित है?" अत यह स्पष्ट जैसा ही प्रतीत होता है कि सर्वदर्शन-सग्रहीय चार्वाक-मत सच्चा चार्वाक-मत नही।

(२७८) पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति ॥ १ ॥

—छान्दोग्योपनिषत्, खण्ड ९।

इस प्रकार बतलाया गया है[२८०] लोकायतो का कहना यह है कि न देवो का अस्तित्व है और न निर्वृति अर्थात् स्वर्ग या अपवर्ग है। धर्म और अधर्म भी नही है और इसलिए उनके फल भी नही हैं। चार्वाकीय दल के लोग किसी स्त्री से यह कहते हैं कि हे भद्रे[२८१] जितना तुम देखती हो उन्हे ही प्रामाणिक समझो। शास्त्र के आधार पर जो लोग स्वर्ग-अपवर्ग पाप-पुण्य आदि का बहुत उपदेश देते हैं उसे तुम भयानक जगली जन्तु शेर आदि के पाँव के समान समझो। हे रमणी ? खाओ, पीओ, मौज मारो, जो बीत जायेगा वह तेरा न होगा। गया समय फिर लौटता नही। जब तक यह शरीर समुदय अर्थात् वर्द्धिष्णु है फलत युवावस्था युक्त है, तभी तक वास्तविक है। और पृथिवी, जल, तेज, तथा वायु ये चार भूत ही हम चार्वाकियो के मत मे तत्त्व है। ये स्वय चैतन्य के आश्रय हैं। इन्हें समझने के लिए प्रमाण अर्थात् प्रमाज्ञान हम चार्वाकियो के मत मे केवल इन्द्रिय-जन्य अर्थात् प्रत्यक्ष ही मान्य है। पृथिवी आदि भूतो का सघात होने पर देहादि का सभव होता है। मद्य के अग भूत भात आदि के सडने से मद-शक्ति के समान भौतिक देहो मे आत्मता होती है अर्थात् चैतन्य होता है। इसलिए दृष्ट ऐहिक फलो को छोड कर जो, लोग अदृष्ट पारलौकिक फलो के लिए प्रवृत्त होते हैं यह उनकी अत्यन्त विमूढता है, अर्थात् अज्ञान है, ऐसा चार्वाको ने माना है। साधनीय देवपूजन आदि आचरण[२८२] और निवृत्ति अर्थात् त्याग से जो कुछ लोगो को प्रसन्नता होती है वह शून्य के अतिरिक्त और कुछ नही अत वह निरर्थक है।" ग्रन्थ कर्त्ता हरिभद्र सूरि कहते हैं कि लोकायत मत का भी मैंने सक्षिप्त परिचय दे दिया। अब इसका विस्तृत तात्पर्यार्थ बुद्धिमान् लोग स्वय पर्यालोचना के सहारे निकाल डालेंगे। इसके टीकाकार मणिभद्र ने हरिभद्र सूरि के द्वारा प्रयुक्त लोकायत शब्द का अर्थ किया है[२८३]

(२८०) लोकायता वदन्त्येव नास्ति देवो न निर्वृति ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फल पुण्यपापयो ॥ १ ॥
—षड्दर्शन समुच्चय, चार्वाक मत।

(२८१) एतावानेव लोकोऽय यावानिन्द्रियगोचर ।
भद्रे ! वृकपद पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुता ॥ २ ॥
—षड्दर्शन समुच्चय, चार्वाक मत।

(२८२) साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्या या प्रीतिर्जायते जने ।
निरर्था सा मता तेषा सा चाकाशात् परा नहि ॥
—षड्दर्शन समुच्चय, चार्वाक मत।

(२८३) "लोकायता नास्तिका" —षड्दर्शन समुच्चय टीका, चार्वाक मत।

"नास्तिक"। इससे यह स्पष्ट हो सकता है कि जैन लोग अपने को नास्तिक नही मानते। उनके मत में चार्वाक नास्तिक हैं। यहाँ एक बात और भी ध्यान रखने की यह है कि हरिभद्र के मतानुसार आस्तिक एव नास्तिक दोनो दर्शनो की सख्या, मिला कर छ मात्र है। उनके अन्दर यदि न्याय और वैशेषिक इन दोनो को अलग अलग दर्शन माना जाय तब चार्वाक को दर्शन माने बिना ही दर्शन मे षट्त्व सम्पन्न हो उठता है। अत तब चार्वाक कोई दर्शन नही मानना चाहिए। और न्याय तथा वैशेशिक इन दोनो को एक ही दर्शन माना जाय तो दर्शन की सख्या तब तक छह नही हो सकती जबतक चार्वाक को भी एक स्वतन्त्र दर्शन न मान लिया जाय। अत चार्वाक मत की दार्शनिकता, पाक्षिक है। मणिभद्र के समान हरिभद्र-रचित उक्त षड्दर्शन-समुच्चय के एक दूसरे टीकाकार हैं गुणरत्न। इन्होने चार्वाक मत के स्वरूप को अतिविकृत बतलाया है। मणिभद्र ने जहाँ लोकायत को नास्तिक मात्र कह कर सन्तोष किया है वहाँ गुणरत्न ने नास्तिक का स्वरूप परिचय किस प्रकार दिया है—देखिए—"अब लोकायत-मत कहा जाता है। पहले नास्तिको का स्वरूप बतलाता हूँ। नास्तिक लोग कापालिक होते हैं। शरीर मे भस्म लगाते हैं। योगी हुआ करते हैं। इनकी एक ही कोई स्वतन्त्र जाति नियत नही होती। ये ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज जाति तक के कोई भी होते हैं। वे जीवात्मा, पुण्य,पाप आदि मानते नही। इस समग्र जगत् को वे पृथिवी जल तेज और वायु स्वरूप मूल चतुष्टयात्मक ही मानते हैं। नास्तिको का एक दल ऐसा भी है जो कि जगत् को चतुर्भूतात्मक न मानता है। क्योकि भूतो की सख्या पृथिवी, जल, तेज और वायु, इस प्रकार चार न मान कर वह पृथिवी जल तेज वायु और आकाश इन पाँच भूतो को मानता है। उसके मत मे मदशक्ति के समान चैतन्य भी भूतो से ही उत्पन्न होता है। जीव भी जल-बुद्बुद् के समान भौतिक ही है। चैतन्य-विशिष्टकाय अर्थात् शरीर है पुरुष। वे नास्तिक लोग मद्य एव मास का उपभोग करते है। माता आदि अगम्य स्त्रियों के साथ भी सम्भोग करते हैं। प्रतिवर्ष किसी भी दिन आपस मे मिल कर नाम-निर्गम के अनुसार स्त्री सम्भोग करते हैं। धर्म को काम से अलग मानते नही। उन नास्तिको के नाम हैं "चार्वाक" "लोकायत" इत्यादि। जो चर्वण करे अर्थात् मन-माना खाय, तत्त्वत पुण्य पाप आदि माने नही वे कहलाते हैं—चार्वाक। लोक का अर्थ विचार शून्य साधारण जन, उसके समान आचरण करने वाले, उनके समान आचरण करने वाले कहलाते है लोकायत एव लौकायतिक भी। इन लोगो का मत यत बृहस्पति के द्वारा प्रवर्त्तित है अत ये 'बार्हस्पत्य' भी कहलाते हैं" ?

यो तो उक्त जैन विद्वानो द्वारा इस प्रकार किये जाने वाले हृदयोद्गार से स्पष्ट रूप में केवल यही देखने को मिलता है कि इन लोगो के द्वारा चार्वाको की बडी निन्दा की गयी

है। यदि वे सचमुच ऐसे ही थे तो इन विद्वानो ने उचित ही इस प्रकार निन्दा की है। और नही तो इसका कारण धार्मिक असहिष्णुत्व भी हो सकता है जैसा कि प्राय देखा ही जाता है। किन्तु गम्भीरतापूर्वक इन जैन-विद्वानो की इन वातो को देखने पर अनेक अपेक्षित वाते प्रकाश मे आती हुई दिखाई देती हैं। एक यह कि ये जैन विद्वान् चार्वाक की दर्शनता के सम्बन्ध मे ही प्रथमत एक मत नही हैं। क्योकि मणिभद्र ने कहा है कि न्याय और वैशेपिक इन दोनो की एक दर्शनता की मान्यता पक्ष मे ही चार्वाक को दर्शनता है। परन्तु द्वितीय व्याख्याकार गुणरत्न इसके विपरीत निश्चयशील दीख पडते हैं। क्योकि चार्वाक और लोकायत शब्दो की जो उन्होने व्याख्या की है उसके अन्दर चार्वाक सिद्धान्तियो को जनसाधारण न मान कर आचरणत जनसाधारण तुल्य कहा गया है। इससे गुणरत्न का अभिप्राय स्पष्ट रूप से यह प्रतीत होता है कि लौकायतिक[२८४] लोग निर्विचार जनसाधारण के अन्दर तो नही थे किन्तु उनका आचरण निर्विचार जनसाधारण के समान बुरा था। गुणरत्न के इस अभिप्राय को मान लेने पर यह मान्य हो उठता है कि उस समय भी चार्वाकियो की दार्शनिक विचारधारा तो उन्नत ही थी किन्तु उनके आचरण गिर गये थे। दूसरी वात यहाँ यह ध्यान-योग्य प्राप्त होती है कि गुणरत्न ने जो यह कहा है कि ये[२८५] नास्तिक कापालिक होते हैं। इस कथन को विष्णु पुराणगत माया-मोह के उपाख्यान के साथ मिलाने पर कुछ सामजस्य प्रतीत-जैसा होता है। क्योकि वहाँ विष्णु के द्वारा आविर्भावित उक्त माया-मोह को रक्ताम्बर अर्थात् लाल कपडा पहनने वाला कहा गया है। कापालिक लोग शाक्तता के अभिव्यक्त्यर्थ लाल ही कपडा नियमत पहनते है। तीसरी बात यहाँ यह ध्यान देने योग्य प्रकाश मे आती है कि चार्वाक-सिद्धान्त सचमुच दो विचारधाराओ से गुजर रहा था। कहने का तात्पर्य यह कि "वाल्मीकीय रामायण और चार्वाक सिद्धान्त" इस शीर्षक विवेचन के अवसर पर जो यह बतलाया गया है कि रामायण के अध्ययन से प्रतीत यह होता है कि चार्वाक विचार धारा दो प्रभेदो मे विभक्त थी उसकी पुष्टि गुणरत्न के द्वारा भी की जाती हुई पायी जाती है। क्योकि इन्होने यह स्पष्ट कहा है कि "कुछ चार्वाक आकाश को भी तत्त्व मान कर भूतो की सख्या पाँच मानते हैं।" आकाश को एक स्वतन्त्र तत्त्व मानने का अर्थ होता है अनुमान को भी प्रमाण मानना। जैसा कि यहाँ विस्तार

(२८४) लोका निर्विचारा, सामान्या तद्वदाचरन्तिस्मेति लोकायता। लौकायतिका इत्यपि। बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्च।
—षड् स गुण० टीका।

(२८५) नास्तिका कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिन ब्राह्मणाद्यन्त्यजाताश्च केचन नास्तिका भवन्ति। —षड् स गुण. टीका।

पूर्वक वर्णित हो चुका है। अनुमान की प्रमाणता दो प्रकारो से मान्य हो सकती है। एक तो उस प्रकार जैसा कि प्रत्यक्षान्तर्गत रूप मे ही अनुमान आदि को प्रमाण बतलाया जा चुका है। अतिरिक्त रूप से प्रमाणता के अभ्युपगम पक्ष मे गौतमीय न्याय कणादीय न्याय अर्थात् वैशेषिक और बाह्यास्तित्ववादी बौद्धो का न्याय भी चार्वाक धारा के अन्तर्गत हो जाता है। जिसकी पुष्टि राम कथित "आन्वीक्षिकी" सज्ञा से भी होती है। और ऐसा सोचने पर मणिभद्र का यह कथन भी अशत सत्य होता दिखाई देने लगता है कि चार्वाक कोई स्वतन्त्र दर्शन नही। एक विस्तृत[२८६] पुस्तक सूची मे "तर्करहस्यदीपिका" नामक चार्वाक ग्रन्थ का उल्लेख मिला है किन्तु उसकी उपलब्धि नही हुई है। अत यह भी निर्णय कठिन है कि उसके रचयिता जैन गुणरत्न है या अन्य। इसी प्रकार एक जयन्तरचित "न्यायमञ्जरी" नामक चार्वाक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिला है किन्तु उसके सम्बन्ध मे भी और कोई जानकारी प्राप्त नही है।

आचार्य कौटिल्य और लोकायत-मत

आचार्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र अत्यन्त मान्य है। उसके अन्दर आचार्य ने अपने ठोस विचार उपस्थित किये है। अन्वेषको को यहाँ अनायास ऐसी भी बाते मिल जाती है जो अन्यत्र मिलती नही, अत यहाँ भी देख लिया जाय कि आचार्य कौटिल्य इस विवेच्य चार्वाक-दर्शन के सम्बन्ध मे अपना क्या और कैसा दृष्टिकोण रखते है ? तो विद्याओ का विवेचन उपस्थित करते हुए वे कहते है कि "विद्याएँ चार है जिनके नाम है[२८७] आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति।" इसके अनन्तर ही इसके सम्बन्ध मे आप मनु के अनुयायियो का मत बतलाते हुए कहते है कि "मानव लोग किन्तु वार्त्ता, त्रयी और दण्डनीति ये तीन ही विद्याए मानते है। क्योकि आन्वीक्षिकी भी त्रयी के ही अन्दर अन्तर्भुक्त है" इसके अव्यवहित उत्तर आपने इसके सम्बन्ध मे बृहस्पतिका मत उपस्थित करते हुए यह कहा है कि "वार्त्ता और दण्डनीति ये दो ही विद्याए है। क्योकि त्रयी तो लोक-यात्राविज्ञो के लिए

(२८६) पूना से प्रकाशित सटीक सर्वदर्शनसग्रह के साथ मुद्रित दार्शनिक पुस्तक सूची देखिए।

(२८७) आन्वीक्षिकी त्रयीवार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या। वार्त्ता त्रयी दण्डनीतिश्चेति मानवा। त्रयी विशेषाह्यान्वीक्षिकीति। वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्या। सम्वरणमात्र हि त्रयी लोकयात्राविद। दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसा। चतस्र एव विद्येति कौटिल्य।

—कौटि अ शा विद्योद्देश प्रकरण।

सवरण अर्थात् आवरण मात्र है"। दैत्य गुरु शुक्र के मत का उल्लेख करते हुए आप का कहना यह है कि "औशनस लोग केवल एकमात्र दण्डनीति को ही विद्या मानते हैं" परन्तु अपना मत इस सम्बन्ध मे बतलाते हुए कौटिल्य ने यह कहा है कि "आन्वीक्षिकी आदि उक्त चारो विद्याएँ स्वतन्त्र रूप से मान्य हैं"। इन विद्याओ के प्रयोजन एव स्वरूप आदि बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि इन विद्याओ के द्वारा धर्म और अर्थ को पहचानना चाहिए यही विद्याओ का है विद्यात्व। साख्य योग और लोकायत ये हैं आन्वीक्षिकी।[२८८] धर्म और अधर्म का प्रतिपादन मुख्यत त्रयी मे है। अर्थ और अनर्थ का प्रतिपादन वार्त्ता शास्त्र के अन्दर होता है और नीति अनीति का विचार दण्ड-नीति मे। अव आन्वीक्षिकी का, जिसके अन्दर उन्होने लोकायत की भी गणना की है प्रयोजन बतलाते हुए आप क्या कहते हैं देखिए। वे कहते हैं कि धर्म अधर्म, अर्थ अनर्थ, और नीति अनीति अर्थात् न्याय अन्याय को दृष्टि मे रखते हुए उक्त त्रयी वार्त्ता और दण्डनीति इनके स्थानानुसार होने वाले वलाबल-भाव को हेतुओ अर्थात् तर्कों के द्वारा देखने वाली अर्थात् विषय करने वाली आन्वीक्षिकी लोकोपकारक है। आन्वीक्षिकी ही एक ऐसी वस्तु है जो कि क्या व्यसन और क्या अभ्युदय अर्थात् क्या आपत्ति और क्या समृद्धि दोनो समय बुद्धि को सन्तुलित रखती है, ठिकाने रखती है। ज्ञान के साथ साथ वाणी को भी निर्मल बनाती है।" कौटिल्य के इस कथन को राम के द्वारा लोकायत को दी गयी आन्वीक्षिकी सज्ञा के साथ मिला कर देख लेने पर लोकायत का प्राचीन स्वरूप कैसा प्रतिष्ठित एव यौक्तिक होगा? इस पर प्रकाश अवश्य पडता है। आन्वीक्षिकी की महत्ता का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने और भी बहुत कुछ कहा है। वे कहते हैं कि यह आन्वीक्षिकी[२८९] सारी विद्याओ के लिए प्रदीप है अर्थात् उनके यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक है और सारे कर्मों का उपाय है। अर्थात् आन्वीक्षिकी के द्वारा परिशुद्ध व्यक्ति, यथार्थ उपाय का आश्रयण कर पाता है। एव यह आन्वीक्षिकी ही सारे धर्मों का आश्रय है अर्थात् उसकी आधारशिला है। गौतमीय न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी कौटिल्य की इस उक्ति को आश्रयण करके गौतमीय न्याय को आन्वीक्षिकी कह कर उसकी महत्ता का वर्णन किया है। आचार्य कौटिल्य ने दण्ड-

(२८८) साख्ययोगौ लोकायत चेत्यान्वीक्षिकी। बलाबले चैतासा हेतुभिरीक्षमाणा लोकस्योपकरोति। व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति। प्रज्ञावाक्यवैशारद्य च करोति। —कौटि अ शा विद्योद्देश प्रकरण।

(२८९) प्रदीप सर्वविद्यानामुपाय सर्वकर्मणाम्।
आश्रय सर्वधर्माणा शश्वदान्वीक्षिकी मता॥
—कौटिल्य अर्थशास्त्र, विद्योद्देश प्रकरण।

विवेचन के अवसर पर भी आन्वीक्षिकी का उल्लेख इस प्रकार किया है कि "दण्ड, आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्त्ता इन सबके योग एव क्षेम का साधन है" योग कहा जाता है अप्राप्त की प्राप्ति को और क्षेम प्राप्त के सरक्षण को। यहाँ दण्ड को आन्वीक्षिकी की भी प्राप्ति और सरक्षण का साधन बतला कर दण्ड और आन्वीक्षिकी इन दो के बीच परस्परापेक्षा व्यक्त करते हुए कौटिल्य के द्वारा अति घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है। यहाँ गभीरतापूर्वक सोचने पर ऐसा कुछ आभास मिलता-सा प्रतीत होता है कि "साख्य योग और लोकायत ये है आन्वीक्षिकी" इस उक्त कौटिल्य-कथन के अनुसार त्रिविध आन्वीक्षिकी के अन्दर प्रत्येक को धर्म अधर्म, अर्थ अनर्थ, और नीति अनीति" उनसे साधारण तया सम्बन्ध होने पर भी योगात्मक आन्वीक्षिकी का घनिष्ठ सम्बन्ध है धर्म अधर्म से, साख्यात्मक आन्वीक्षिकी का घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थ अनर्थ से और लोकायतात्मक आन्वीक्षिकी का घनिष्ठ सम्बन्ध है नीति और अनीति से, इसलिए नीति-प्रवर्त्तन और अनीति-निवर्त्तन के द्वारा लोकायत-आन्वीक्षिकी दण्ड के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली है। धर्म की सकुचित व्याख्या करने वाला धार्मिक पक्ष, दण्ड एव दण्डाश्रित राजनीति की निन्दा करता हुआ पाया ही जाता है। प्राय शुष्क धार्मिकता का अभिमान रखने वाले लोग अपराधियो को भी दण्ड देने मे हिचकते पाये ही जाते है। अत दण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाली लोकायत आन्वीक्षिकी की निन्दा धार्मिक पक्ष से आरम्भ हुई हो तो कोई आश्चर्य की बात नही। हमने जो लोकायत को बहुश दण्डनीति-दर्शन, फलत राजदर्शन कहा है इसका मुख्य कारण यही है।[२९०] दण्ड के सम्बन्ध मे कौटिल्य ने अन्य मतो के उल्लेख के साथ अपना यह स्थिर मत व्यक्त किया है कि "तीक्ष्ण दण्ड से प्राणी उद्विग्न हो उठते है। मृदु दण्ड परिभवप्रद होता है। उचित दण्ड की पूजा होती है। समझदारी के साथ विहित दण्ड प्रजाओ को धर्म, अर्थ और काम तीनो से युक्त बनाता है। अविचारित और इसीलिए दुष्प्रणीत अर्थात् अनुचित दण्ड त्यागी, वानप्रस्थ एव सन्यासियो को भी उद्विग्न कर डालता है। गृहस्थो की तो बात क्या ? बिलकुल दण्ड के अभाव मे जनता "मात्स्यन्यायग्रस्त" हो जाती है। दण्डधर शासक के अभाव मे बलवान् दुर्बलो को सताता है। दण्ड से सभी सुरक्षित होते है।

बार्हस्पत्य-सूत्र और लोकायत

चार्वाक-दर्शन कहे या लोकायत-दर्शन कहें, उसके प्रथम प्रवर्त्तक आचार्य हो गये है बृहस्पति, यह बात प्राय विख्यात है। यहाँ भी पहले इस पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है।

(२९०) यथार्हदण्ड पूज्य । · अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति । बलीयानबल हि ग्रसते दण्डधराभावे। तस्माद्दण्डमूलास्तिस्रोविद्या ।

वृहस्पति रचित साहित्य के अन्वेषण करने पर वृहस्पति-स्मृति और वार्हस्पत्य-सूत्र ये दो ग्रन्थ उपलव्व हैं। इन दोनो के अन्दर वृहस्पति-स्मृति मे ऐसी कोई विलक्षणता अन्य स्मृतियो से नही पायी जाती है जिसके आधार पर उसे लोकायत सम्पृक्त कहा जा सके। परन्तु यदि वृहस्पति को लोकायत मत का आदि माना जाय और इस वृहस्पति-स्मृति को भी सचमुच वृहस्पति की ही स्मृति माना जाय तो इस वृहस्पति-स्मृति के आधार पर भी यह दावा किया जा सकता है कि लोकायत-सिद्धान्त कोई अवैदिक तथा नास्तिक सिद्धान्त नही था। वह भी उक्त पद्धति के अनुसार वैदिक एव आस्तिक ही मत था। पीछे वौद्ध आदि सिद्धान्त की तरह तदनुयायियो के आचारणगत विकार-प्राप्ति के अनन्तर उसके विरोधियो द्वारा उसकी निन्दा प्रसारित की गयी। द्वितीय वार्हस्पत्य सूत्र मे जिसे अन्य शब्द मे "वार्हस्पत्य अर्थ-शास्त्र" भी कहा जाता है लोकायत एव लौकायतिक के सम्वन्ध मे निजी मत व्यक्त किया गया है। द्वितीय अध्याय के पचम सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि "अर्थ-सावन के समय सर्वथा लौकायतिक शास्त्र ही वस्तुत शास्त्र है"।[२९१] अनन्तर उसी अध्याय के आठवे सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि "[२९२]वह लौकायतिक शास्त्र असेन के लिए अर्थात् सेना रहित के लिए फलत राजा से भिन्न व्यक्तियो के लिए आश्रित होने पर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।" इसके अनन्तर[२९३] बारहवे सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि "कोई भी व्यक्ति अपनी अविद्या के अर्थात् अज्ञान के कारण यदि धार्मिक व्यक्ति से पुरुषार्थ की अर्थात् अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि चाहता है तव वह व्यक्ति लौकायतिक पाखण्डी कहलाता है"। सोलहवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि[२९४] "लौकायतिक, धर्म को भी अर्थ का ही साधन, व्यर्थ कहता है। वह पिण्ड के अर्थात् शरीर के लिए ही उपभोग करने वाला चोर होता है। अर्थात् चोर दण्ड से दण्डनीय है। सत्रहवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि लोकायत-[२९५]"साम्प्रदायिक लोग अग्निहोत्र सन्ध्याजप आदि भी अर्थ के लिए ही किया करते हैं। उन्नीसवे

(२९१) सर्वथा लौकायतिकमेव शास्त्रमर्थज्ञानकाले ॥ ५ ॥
—वार्हस्पत्य सूत्र अध्याय २

(२९२) लौकायतिकमसेनार्थं क्षिप्र नश्यति तत् ॥ ८ ॥
—वार्ह० सू० अध्याय २

(२९३) अविद्यायुक्त पुरुषार्थं साधयितु धर्मयुक्ते यदेच्छति, तदा लौकायतिकाभि-धानपाषण्डी ॥ १२ ॥
—वार्ह० सू० अध्याय २

(२९४) वृथा धर्मं वदत्यर्थ-साधन लौकायतिक, पिण्डादश्चोर इति च ॥ १६ ॥
—वार्ह० सू० अध्याय २

(२९५) एवमर्थार्थं करोत्यग्निहोत्र-सन्ध्याजपादीन् ॥ १७ ॥ —वा० अ० २

सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि '' लौकायतिक व्यक्ति मरने पर अर्थ धर्म और काम इन तीनो से विहीन होता है एव नरक का भोगी होता है। तृतीय अध्याय के पन्द्रहवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि लौकायतिक जैन और बौद्ध इन तीनो के अन्दर प्रथम लौकायतिक को बहुसख्यक शेर आदि दुष्ट जन्तुओ से भरे जगल तुल्य, जैनो को शून्यवन तुल्य और बौद्धो को पर्वत कन्दरा के मार्गतुल्य समझना चाहिए। बार्हस्पत्य सूत्र गत इन कथनो के द्वारा भी लोकायत-सिद्धान्त की मान्यता पर प्रकाश अवश्य पडता है। द्वितीय अध्याय के पचम सूत्र मे यह स्पष्ट होता हुआ प्रतीत होता है कि ऐहिक वस्तुओ की सिद्धि के लिए लोकायत-शास्त्र ही समाश्रयणीय है। उसी से अर्जित ज्ञान के द्वारा ऐहिक जीवन को सुखी रखा जा सकता है। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह ध्यान देने की है कि "अर्थ" इस शब्द की उचित व्याख्या की ओर ध्यान देने पर मानवीय इच्छा के विषय सारी वस्तुओ को अर्थ रूप से लिया जा सकता है। तदनुसार अति प्राचीन युग मे जब कि उक्त लौकायतिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के अनुरूप लौकायतिक-आचरण भी शुद्ध था, प्रशस्त था तब लोकायत-शास्त्र ही समग्र अर्थों के साधनार्थ आश्रयणीय होता था, अनुकूल ज्ञानार्जन के लिए। परन्तु आचरण मे दोष का सम्पर्क आ जाने पर वह केवल ऐहिक वस्तुओ के लिए अपेक्षित माना जाने लगा। उक्त आठवें सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट होता हुआ दीख पडता है कि पीछे जाकर यह सिद्धान्त "ससेन" राजाओ के लिए ही मुख्य रूप मे आश्रयणीय माना जाने लगा। इससे इसकी राजनीति-दर्शनता व्यक्त होती है, जिसका निर्णय किया जा चुका है। उक्त बारहवें सूत्र से यह व्यक्त होता है कि लौकायतिक यदि मोहवश धार्मिक व्यक्ति से अपना लाभ उठाना चाहता है तो लौकायतिक पाखण्डी कहलाता है। लौकायतिक लोग यदि कही भ्रमवश विशुद्ध केवल पारलौकिक फलेच्छुक व्यक्ति के समक्ष अपना विचार व्यक्त करते थे या तदनुरूप आचरण कर बैठते थे तो वे केवल धर्मार्थी उन्हे लौकायतिक-पाखण्डी कहते थे। साराश यह कि लौकायतिक-तर्क के आगे जब वे केवल धार्मिक लोग, और कुछ नहीं कह पाते थे तो लौकायतिक-पाखण्डी कह कर उनकी निन्दा करते थे। वे यह कहते थे कि ये शरीर मात्र के लिए जीने वाले चोर है अर्थात् चोर-दण्ड के भागी है। क्योंकि वे मिथ्या यह कहते है कि लोग धर्माचरण भी अर्थ के लिए ही किया करते है। यहाँ तक कि अग्निहोत्र सन्ध्यावन्दन आदि भी लोग अर्थ के लिए ही करते है।

(२६६) लौकायतिको मृतो भवत्यर्थधर्म काम विहीनो नारकी च ॥ २६ ॥

—बा० सू० अ० २

(२६७) लौकायतिक-क्षपणक-बौद्धादि बहुशार्दूल—दुष्टमृगाकीर्ण-शून्याटवी—गुहामार्गवत् ॥ १५ ॥

—बार्ह० सू० अ० ३

अपने को धार्मिक मानने वाले लोग लौकायतिको के सम्वन्ध मे यहाँ तक कहते थे कि ये लोग नरक भोगेगे। तृतीय अध्यायगत पन्द्रहवे सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि उन धर्माभिमानियो के द्वारा यह कहा जाता था कि लौकायतिक-आचरण भयानक है अर्थात् उससे खतरा सम्भावित है। वार्हस्पत्य सूत्र गत इन कथनो के अन्दर सामजस्य उपस्थित करने के लिए यह आवश्यक है कि वौद्धो की तरह लौकायतिक आचरणो के अन्दर क्रमिक दोष-विकास के कारण एव अनधिकारी व्यक्ति से सम्पर्क स्थापन के कारण लोकायत सिद्धान्त को निन्दा का पात्र वनना पडा। जो भी कुछ हो, किन्तु वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के द्वारा यह वात अवश्य स्पष्ट होती है कि इस सूत्र के निर्माण काल मे लौकायतिक आचरणो मे वुराई आ गयी थी। अत विशुद्ध लोकायत-दर्शन का निजी स्वरूप उससे कही अधिक प्राचीन कालिक था। और यह भी पता चलता है कि इसका मुख्य सम्वन्ध राजनय से ही रहा है।

शङ्कराचार्य और लौकायतिक-पक्ष

यो तो कुछ लोग इससे सहमत नही भी हो सकते है कि "सर्वसिद्धान्त-सग्रह" आद्य-शकराचार्यरचित है, किन्तु जव तक प्रवल कोई वाधक दृष्टिपथ पर अवतरित न हो, तव तक उसे शङ्कराचार्यरचित ही मानना उचित होगा। इसीलिए अनेक विवेचक ने ऐसा ही माना है। वगला के प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक श्री राजेन्द्रनाथ घोप ने भी "सर्व-सिद्धान्त-सग्रह" की गणना शङ्कराचार्यरचित ग्रन्थो मे ही की है। शङ्कराचार्य ने उक्त ग्रन्थ मे द्वितीय प्रकरण को "लौकायतिक[२९८] पक्ष प्रकरण" यह नाम दिया है। उस प्रकरण मे लौकायतिक विचारधारा का स्वरूप वर्णन उन्होने इस प्रकार किया है कि—"लौकायतिक पक्ष मे तो पृथिवी जल तेज और वायु ये चार ही तत्त्व है, और नही। प्रत्यक्षगम्य ही वस्तुएँ मान्य है, अदृष्ट मान्य नही है, क्योकि यहाँ देखा जाता नही। जो लोग अदृष्ट मानते है वे भी उसे दृष्ट अर्थात् देखी जाने वाली वस्तु कहाँ कहते है ? यदि किसी ने उस अदृष्ट को देखा है तो फिर वे लोग उसे "अदृष्ट" क्यो कहते है ? जिसे कभी कोई भी देख न पाये वह शशशृग आदि तुल्य होने के कारण "सत्" कैसे हो सकता ? सुख और दुख के सहारे भी धर्म और अधर्म की कल्पना नही की जा सकती। क्योकि लोग सुखी और दु खी स्वभावत भी हो सकते है। अत स्वभाव से अतिरिक्त और कोई सुख दु ख का कारण नही। मयूर के पखो को भला कौन चित्रित करता है ? कोकिलो को भला कौन मधुरकूजन

(२९८) लौकायतिक पक्षेतु तत्त्व भूतचतुष्टयम्।
पृथिव्यापस्तथातेजो वायुरित्येव नाऽपरम्॥ —सर्वसिद्धान्त सग्रह।

सिखलाता है ? मै मोटा हूँ, मै तरुण हूँ, मै तो बृद्ध हो गया, नही जी मै तो अभी युवक हूँ इस प्रकार प्रतीतियाँ आत्मा के सम्बन्ध मे होती है, अत उक्त विशेषणो से युक्त शरीर ही है आत्मा। उससे अन्य और कोई नही। भौतिक जड वस्तुओ मे जो चेतना देखी जाती है उसे पान सुपारी चूना और खैर आदि के सयोग से होने वाले लाल रूप के समान सायोगिक समझना चाहिए। इस लोक से अन्य कोई स्वर्ग या नरक नही है। शिव-लोक आदि की बाते वचको एव अज्ञो की कल्पनामात्र है। युवती-सङ्गमज सुख के अतिरिक्त कोई स्वर्गीय अनुभव नही है। महीन कपडे सुगन्धित मालाएँ एव चन्दन-लेपन इत्यादि जनित सुखो को भी स्वर्गीय सुख कहा जा सकता है। शत्रुओ के अस्त्र एव व्याधि से प्राप्त होने वाले उपद्रव के अतिरिक्त और कोई नारकीय अनुभव नही है। मोक्ष मरण ही है, और वह भी शरीर से होने वाले प्राणनिर्गमन के अतिरिक्त और कुछ नही है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को किसी प्रकार का आयास नही करना चाहिए। तप उपवास आदि के द्वारा अपने को सुखाना अज्ञान का ही काम है। पातिव्रत्य, सुवर्णदान, भूमिदान, मन्त्रपूर्वक परि-मार्जित भोजन आदि के औचित्य की कल्पना उन दुर्बलो के द्वारा की गयी जो कि बुद्धिमान् थे और दारिद्रय के कारण अपना पेट भरना चाहते थे। देवमन्दिर जलपान-व्यवस्था यज्ञ कूप उद्यान आदि की प्रशसा भला पथिको को छोड कर और कौन करता ? इसीलिए बृहस्पति ने अग्निहोत्र, वेदपारायण, त्रिदण्डधारण, भस्मलेपन आदि को बुद्धि एव सामर्थ्य-हीन व्यक्तियो की जीविका बतलाया है। इसलिए बुद्धिमानो को चाहिए कि खेती, पशुपालन वाणिज्य एव दण्ड-नीति आदि दृष्ट उपायो द्वारा सासारिक भोगो का अनुभव करे।"

यह तो निश्चित है कि शङ्कराचार्य ने इस प्रकार लौकायतिक मत का स्वरूप-वर्णन उसके खण्डन के लिए ही किया है मान्यता देने के लिए नही। परन्तु उनके इस मत वर्णन मे कुछ ऐसी बाते उनके द्वारा अवश्य कही गयी है जिससे उसके अति प्राचीन स्वरूप का एव मान्यता का आभास पाया जाता है। प्रथम यह कि आचार्य ने "लोकायत पक्ष" न कह कर जो लौकायतिक-पक्ष कहा है उनसे एक सुव्यवस्थित एव दीर्घकालिक लोकादृत विचारधारा का आभास मिलता है। जिससे इसकी दर्शनता स्फुट होती है। द्वितीय यह कि बृहस्पति का नाम लेते हुए जो यह कहा गया है कि "अग्निहोत्र आदि कुछ असमर्थो के जीविकार्थ प्रवर्त्तित है' इससे भी अग्निहोत्र आदि की अकरणीयता नही बतलायी गयी प्रतीत होती है। क्योकि राजनीतिक दृष्टिकोण से जीवनोपाय तो सबको मिलना ही चाहिए। क्योकि

(२६६) कृषिगोरक्ष्यवाणिज्य–दण्डनीत्यादिभिर्बुध ।
दृष्टैरेव सदोपायै भोगाननुभवेद्भुवि ॥ —सर्वसिद्धान्त सग्रह ।

जो आज समर्थ है वही कल असमर्थ हो जाता है। तीसरा गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य है उनका यह उपसहार वाक्य कि "बुद्धिमानो को चाहिए कि खेती, पशुपालन, वाणिज्य व्यापार आदि को अपना कर सुखी बने"। इसे देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोकायत विचारधारा अति प्राचीन काल मे उच्छृखल नही, पूर्णसयत एव पूर्ण सुश्रृखल थी। क्योकि इन कामो को करने वाले आज भी कुव्यसनी नही पाये जाते। उनमे अन्य वर्ग के लोगो से अपेक्षाकृत सयमपूर्ण ही जीवन पाया जाता है। क्योकि इन व्यापारो को अपनाने वाले नियमत सामाजिक ही हो सकते है, और समाज के अन्दर उच्छृखलता कभी चल नही सकती, क्योकि वहाँ सह-अस्तित्व का प्रश्न जागरूक रहता है। अत लोकायत-मतवाद के ऊपर किया जाने वाला आक्षेप-समुदाय कुछ तो उसके अनुयायियो की परवर्त्ती विकृति पर आधारित है, और कुछ आलोचको के अतिवादिता पर। आचार्य शङ्कर ने दण्डनीति का स्पष्ट उल्लेख करके इस दर्शन की राजनीतिकता पर महान् प्रकाश डाला है अव्यक्त रूप से।

सर्वमत-सग्रह और चार्वाक-मत

"सर्वमत सग्रह भी" हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शन समुच्चय की तरह सक्षिप्त रूप से आस्तिक और नास्तिक दर्शनो का परिचय देने वाला एक लघु ग्रन्थ है। षड्दर्शन समुच्चय से इसकी विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ गद्यात्मक है पद्यात्मक नही। इसके कर्त्ता का नाम उपलब्ध न होने के कारण यह भी एक प्राचीन ग्रन्थ प्रतीत होता है। सर्व दर्शन सग्रह मे सगृहीत परवर्ती अनेक दर्शनो का समावेश इसके अन्दर दृष्टिगोचर न होने के कारण भी इसकी प्राचीनता व्यक्त होती-सी दीख पडती है। इस ग्रन्थ मे लिखित चार्वाकीय मत को और कृष्णमिश्र-रचित प्रबोध-चन्द्रोदय नामक दार्शनिक नाटक मे वर्णित चार्वाकीय विचारधारा को मिला कर देखने पर यह अति स्पष्ट रूप मे प्रतीत होता है कि प्रबोध-चन्द्रोदय के रचयिता कृष्णमिश्र को यह ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध था। क्योकि दो उद्धरण श्लोक ऐसे मिलते पाये जाते है जो कि सर्वदर्शन-सग्रह आदि मे बिलकुल मिलते नही। इस सर्वमत सग्रह के अन्दर जो अति सक्षिप्त रूप मे चार्वाक का मत वर्णित हुआ है वह अधिक मूल्यवान् सा दिखाई देता है। अति सक्षिप्त रूपमे यहाँ चार्वाक मत इस रूप मे वर्णित हुआ है यथा—"दार्शनिको के अन्दर[३००] प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानने वाले लोकायत-शास्त्र के प्रवर्त्तक चार्वाक के मत मे "मै मनुष्य हूँ" "मै स्थूल हूँ" "मै कृश हूँ" इत्यादि रूप मे प्रत्यक्ष-सिद्ध, चैतन्यात्मक-

(३००) तत्रैक प्रमाणवादिनो लोकायत शास्त्र प्रवर्त्तकस्य चार्वाकस्य मनुष्योह स्थूलोहमिति प्रत्यक्षसिद्ध चैतन्य गुणाश्रयोदेह एव प्रमाता।
—सर्वमतसग्रह, चार्वाकमत, आरम्भ।

ज्ञान-युक्त देह ही है "प्रमाता", अर्थात् जीवात्मा। उत्कृष्ट और निकृष्ट देहरूप मे उत्पन्न होने के ही कारण परस्पर सहत एव विकृत होते रहने वाले पृथिवी जल तेज और वायु ये चार भूत ही हैं प्रमेय तत्त्व। अर्थ और काम ये दो ही हैं पुरुषार्थ, धर्म पुरुषार्थ नही है। इसलिए अर्थ और काम के प्रतिपादक अथर्व और गान्धर्व ये दो वेद ही हैं वेद। धर्म के न होने के कारण अधर्म भी कुछ नही है। इसलिए उनके फल के रूप मे स्वर्ग और नरक भी मान्य नही है। जब स्वर्ग और नरक नही हैं तो उनका देने वाला परमेश्वर भी कोई मान्य नहीं है। मरण ही है मोक्ष। अर्थशास्त्र[201] और कामशास्त्र ये दोनो ही शास्त्र रूप से मान्य हैं। लोकायतशास्त्र भी प्रत्यक्ष-मूलक होने के कारण उन्ही मे अन्तर्भूत है। "सारे अन्न भूख के निवर्त्तक हैं क्योकि भुक्त अन्न के समान सारे ही अन्न हैं"। यह अनुमान भी प्रत्यक्ष के अन्दर ही इसलिए अन्तर्भूत है कि प्रत्यक्षमूलता समान है। अभ्युदय-नि श्रेसफलक एव धर्म तथा ब्रह्म के प्रतिपादक वेद इसलिए प्रमाण नही अप्रमाण हैं कि अतीन्द्रिय अर्थ के प्रतिपादक हैं। जैसा कि कहा गया है—

अग्निहोत्र, तीनो वेद, त्रिदण्ड और भस्मलेपन।
ये बुद्धि पौरुषहीन व्यक्तियो के लिए जीविका हैं॥ १॥

भाण, धूर्त्त और राक्षस ये तीनो वेद के कर्त्ता हैं।

कर्ता क्रिया और हव्य आदि द्रव्य इन तीनो के नष्ट हो जाने पर भी यदि यजमान को स्वर्ग मिले तो, वनाग्नि से नष्ट वृक्षो मे भी फल लटक आये। प्रत्यक्षादि प्रमा के विषय रूप मे सिद्ध वस्तुओ के विरुद्ध अर्थो का प्रतिपादक वेदान्त भी यदि शास्त्र माना जाय, तो फिर बौद्धो का ही भला क्या अपराध है?। ३। सर्वमत सग्रह के अन्दर वर्णित इस अल्पकाय चार्वाक मत वर्णन मे सर्वप्रथम एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि चार्वाक को "लोकायत-शास्त्र" का प्रवर्त्तक कहा गया है। इससे कुछ लोगो का यह कथन खण्डित हो जाता है कि चार्वाक-दर्शन नामक कोई वास्तविक दर्शन-शास्त्र नही था। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ प्रमेयतत्त्व रूप से मान्य पृथिवी जल तेज और वायु इनके बीच जो सघात और विघात बतलाया गया है इससे यहाँ पूर्व वर्णित महानभवाय की पुष्टि प्राप्त होती है और शरीर को उच्चावच बतलाने से यह बात व्यक्त होती है प्रत्येक स्थूल शरीर कोटि-कोटि उच्चावच शरीरो का एक समवाय ही होता है, जिसका वर्णन पहले भी किया जा चुका है। शारीरिक भौतिक कणो के सघात-

(२०१) अर्थकाम-शास्त्र लोकायत-शास्त्र च प्रत्यक्ष-मूलत्वात् तत्रैवान्तभूतम्। इदमन्न क्षुन्निवर्त्तकम्। अन्नत्वात् ह्यस्तनान्नवत् इत्याद्यनुमान च तत्रैवान्तर्भवति, प्रत्यक्ष-मूलत्वा-विशेषात्। —सर्वमतसग्रह।

विघातगत, वैकृत्य-स्थल मे यो भी प्रत्यक्षत देखा जाता है कि एक स्थूल शरीर से अनेक क्षुद्र शरीर बाहर निकल पडते हैं। और शारीरिक भूतो के अवैकृत्य-स्थलो मे भी सूक्ष्मवीक्ष्मक यन्त्रो के द्वारा शारीरिक कोटि-कोटि क्षुद्राणु जीवाणु देखे जाते हैं। एक अन्य बात और यह ध्यान देने योग्य प्राप्त होती है कि [३०२] अर्थ-काम-प्रतिपादक अथर्व और गान्धर्व ही वेद हैं, यह कह कर अन्तत यह तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चार्वाक-दर्शन भी वैदिक है अवैदिक नही? धर्म और अधर्म का खण्डन भी पराभिमत अभौतिक-आत्मगत पुण्यापुण्य-खण्डनपरक रूप में ही प्रतिपादित हुआ प्रतीत होता है। क्योकि चार्वाक-दर्शन को वैदिक मान लेने पर क्रियात्मक धर्म को मान्यता देनी ही होगी। सबसे बडी बात जो यहाँ उपलब्ध हुई है वह यह है कि "अनुमान आगम आदि प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण के ही अन्दर अन्तर्मुक्तरूप मे मान्य है"। इसके सम्बन्ध मे अन्तर यहाँ इतना पाया जाता है कि अनुमान आदि प्रत्यक्ष-मूलक होने के कारण प्रत्यक्षान्तर्गत हैं, जैसा कि इसकी प्राप्ति से अनेक पूर्व मैंने अपने मुद्रित "चार्वाक दर्शन रहस्यम्" नामक सस्कृत-निबन्ध मे लिखा था। अत इस "मतसग्रह" के रा उसकी पुष्टि देख कर मुझे बडी प्रसन्नता हुई है। यहाँ इस ग्रन्थ मे जो मैंने गम्भीर चिन्तन के फल-स्वरूप अन्य मार्ग को अपनाया है, मन को ही एकमात्र इन्द्रिय मान कर अनुमान आदि का प्रत्यक्ष मे अन्तर्भाव बतलाया है, उसका कारण है कल्पनागत सरसता। जिसका स्पष्टीकरण हो चुका है।

प्रबोधचन्द्रोदय और चार्वाक-मत

अव्यवहित पूर्व विवेचन मे यह बात बतलायी जा चुकी है कि श्री कृष्ण मिश्र-रचित प्रबोधचन्द्रोदय मे भी चार्वाक मत का सक्षिप्त वर्णन पाया जाता है। उक्त सस्कृत नाटक-ग्रन्थ के द्वितीय अङ्क मे प्रतिनायक महामोह के द्वारा यह विचार व्यक्त किया गया है कि "वह चार्वाक का शास्त्र ही वस्तुत शास्त्र है, जहाँ केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण रूपसे मान्य है। पृथिवी जल तेज और वायु ये ही चार तत्व माने गये है। अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ स्वीकृत हैं। शरीर मे ज्ञानोत्पत्ति के लिए पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के अतिरिक्त और कुछ भी अपेक्षित नही माना गया है। और जब कि परलोक मान्य नही है तब भी मोक्ष भी मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नही, इत्यादि बाते युक्ति पुरस्सर पूर्ण रूप से वर्णित हैं। इस शास्त्र को बृहस्पति ने हम लोगो के अभिप्रायानुकूल रचकर चार्वाक को

(३०२) अर्थकामावेव पुरुषार्थौ, न धर्म । तन्निष्ठाथर्व-गान्धर्व वेदावेव च वेदौ ।
——सर्वमतसग्रह ।

दिया था और चार्वाक ने अपने शिष्यो एव प्रशिष्यो द्वारा इस शास्त्र का प्रचार ससार मे किया" प्रतिनायक सम्राट् महामोह के इस कथन के अव्यवहित उत्तर ही उक्त नाटक मे शिष्य-सहित आचार्य चार्वाक का प्रवेश दिखलाया गया है। प्रवेश करके चार्वाक अपने शिष्य से यह कहते है कि "वत्स ! तुम जानते हो ? दण्डनीति ही केवल अर्थात् एक मात्र विद्या है। क्योकि वार्त्ताशास्त्र भी उसी के अन्दर अन्तर्भुक्त है। परलोकादि-प्रतिपादक त्रयी धूर्त्तो का व्यर्थ बकवास मात्र है। देखो, [३०३] होता, हवन, और हव्य, इनके नष्ट होने पर भी यदि स्वर्ग प्राप्त हो तो वनाग्निदग्ध वृक्षो मे भी मीठे फल लटक आये। और [३०४] श्राद्ध आदि यदि मरे व्यक्ति के लिए भी सुखद हो तो बुतेदीप की शिखा भी तेल से बर उठे। आचार्य चार्वाक के इस उपदेश पर जब कि शिष्य ने यह पूछा कि सासारिक सुख मात्र ही पुरुषार्थ रूप से मान्य होने पर लोग कष्ट-कर व्रताचरण से अपने को क्यो दु खी बनाते है ? तो युक्ति-प्रदर्शनपूर्वक चार्वाक ने उत्तर मे यह कहा कि धूर्त्तो के द्वारा निर्मित शास्त्रो से प्रतारित जन की, आशा-मोदक-प्रयुक्त तृप्ति की दुराशा-मात्र-प्रयुक्त। जब फिर शिष्य ने यह कहा कि आचार्य ! उन लोगो का कहना यह है कि सासारिक सुख नियमत दु खमिश्रित ही होता है, अत दु ख हटाने के इच्छुको को सुख भी छोडना ही चाहिए, तब हँसते हुए चार्वाक ने यह उत्तर दिया कि "यह उन लोगो का कथन भला कितना मूर्खतापूर्ण है ? चावल चाहने वाला व्यक्ति क्या तुपवेष्टित होने के कारण धान का त्याग करता है ? कभी नही।" इसको उक्त सर्वमत सग्रह वर्णित चार्वाक मत के साथ-साथ मिला कर देखने पर बहुत अशो मे साम्य प्रतीत होता है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। परन्तु इन दोनो के बीच उपजीव्य-उपजीवक-भाव के सम्बन्ध मे खोजने पर भी निर्णय इसलिए नही हो पाता है कि दोनो ही ग्रन्थो मे कुछ बाते ऐसी भी पायी जाती है जो कि सर्वथा निरपेक्ष प्रतीत होती ह। जैसे सर्व-मत-सग्रह मे जहाँ चार्वाक-मत को वैदिक कहा गया है वहाँ प्रबोध-चन्द्रोदय मे इसे वैसा नही कहा गया है। साथ ही सर्व-मत-सग्रह मे अनुमान आदि प्रमाणो का जिस प्रकार युक्ति-प्रदर्शन-पूर्वक प्रत्यक्ष मे अन्तर्भाव बतलाया गया है प्रबोध-चन्द्रोदय वहा केवल इतना ही कह कर मौन धारण करता हुआ पाया जाता है कि प्रमाण

(३०३) स्वर्गं कर्त्तृक्रिया द्रव्यनाशेऽपि यदि यज्वनाम्।
ततो दावाग्नि-दग्धाना फल स्याद्भूरि भूरुहाम्॥
—प्रबोधचन्द्रोदय-नाटक, अक २।

(३०४) मृतानामपि जन्तूना श्राद्ध चेत्तृप्तिकारकम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेह सम्वर्द्धयेच्छिखाम्॥—प्रबोधचन्द्रोदय, अक २।

केवल प्रत्यक्ष ही मान्य है। इसी प्रकार प्रबोध-चन्द्रोदय मे भी कुछ ऐसी बाते पायी जाती है। जैसे यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि दण्डनीति-मात्र ही विद्या है वार्त्ता आदि विद्याएँ उसी मे अन्तर्भूत हैं। सर्व-मत-सग्रह मे इस प्रकार स्पष्ट रूप से नही कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य कौटिल्य ने शुक्रमत के रूप मे जो अपने अर्थशास्त्र मे उपन्यस्त किया है उसे प्रबोध-चन्द्रोदय में बार्हस्पत्य-मत रूप मे स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है किन्तु सर्वमत-सग्रह मे इसका उल्लेख नही पाया जाता है। हाँ, यह बात दोनो जगह समान रूप से बतलायी गयी है कि चार्वाक-शास्त्र ही सचमुच शास्त्र है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बाते प्राय समान रूप से दोनो जगह बतलायी गयी हैं। इस विवेचन के अनुसार पूर्वापरीभाव के अनिश्चय-प्रयुक्त कौन किस का उपजीव्य है और कौन किसका उपजीवक है इसका निर्णय न होने पर भी यह तो अवश्य मान्य है कि इन दोनो के अन्दर उपजीव्योपजीवक भाव अवश्य है चाहे जो जिसका उपजीवक या जो जिसका उपजीव्य क्यो न हो।

वेणीसहार और चार्वाक

सस्कृत-नाटक-साहित्य के अन्दर प्रबोध-चन्द्रोदय के समान दार्शनिक मतवाद के रूप मे तो नही किन्तु अन्य रूप में चार्वाक का चरित्र-चित्रण भट्टनारायण-रचित वेणी-सहार मे पाया जाया है। वेणी-सहार महाभारत का ही आशिक रूपक है। अत इसके रचयिता ने महाभारत-वर्णित चार्वाकवृत्तान्त को स्वकीय कविगत-अधिकार के अनुरूप निजी कलमकुची का अन्यथा उपयोग करते हुए इस प्रकार चार्वाकीय-चरित्र का चित्रण किया है कि—महाभारतीय घोर सग्राम के अन्तिम-समय में एकत्र विश्राम करते हुए द्रौपदी और युधिष्ठिर इन दोनो के बीच जब भीम और दुर्योधन के महायुद्ध के फलाफल पर कथनोपकथन चल रहा है तब इसी समय नेपथ्य से यह शब्द उन दोनो को सुनने को मिलता है कि "मै अत्यन्त भूखा और प्यासा हूँ। कोई मुझे जल एव छाया प्रदान कर, मेरा साहाय्य करे।"[३०५]

इसे सुनते ही युधिष्ठिर कचुकी को उस अतिथि के पास भेज कर उसे अपने निकट बुलाते हैं। वह अतिथि उनके निकट आकर भी फिर उसी अपनी पुरानी बात को दुहराता है। जब युधिष्ठिर के आदेशानुसार उस अतिथि को आसन और शीतल जल दिया

(३०५) (तत प्रविशति मुनिवेषधारी चार्वाको नाम राक्षस)
राक्षस—(आत्मगतम्) एषोऽस्मि चार्वाको नाम राक्षस दुर्योधनस्यमित्र पाण्डवान वचयितु भ्रमामि। (प्रकाशम्) तृषितोऽस्मि, तृषितोऽस्मि। सम्भावयतु मा कश्चिज्जलच्छाया-प्रदानेन। —वेणी-सहार-नाटक, अक ६।

द्वारका ले गये। राक्षस-मुनि चार्वाक के इस स्पष्ट कथन से अति दुखी द्रौपदी और युधिष्ठिर अनेक करुण-विलाप के अन्तर अग्निप्रवेश के लिए चिता बना कर जब उसमे प्रवेश की बात सोचते है तो युधिष्ठिर के मन मे यह वीरोचित भाव आता है कि मैं भी अर्जुन की तरह गदा युद्ध करके ही क्यो न वीर-गति लाभ करूँ ? मुझे अब विजय नही चाहिए, और तदनुसार रणभूमि की ओर जाने को प्रस्तुत हो उठते है। तब बात खुलने के भय से विचलित-मन होकर कपटवेषी-मुनि युधिष्ठिर से यह कहते हैं कि "जब कि आप विजय नही चाहते, तब प्राणत्याग तो आप कही भी कर सकते हैं ? वहाँ जाना व्यर्थ है। मुनि वचन के अनुसार द्रौपदी और युधिष्ठिर दोनो चिता की व्यवस्था चाहते हैं परन्तु कचुकी आदि युधिष्ठिर के परिजन चार्वाक पर कपटी होने का सन्देह करते हुए चिता व्यवस्था मे साहाय्य नही करते, वह उसके प्रतिकूल युधिष्ठिर को समझाना चाहते हैं। युधिष्ठिर इससे अति दु खी होकर कपट-मुनि चार्वाक से कहते है कि ये तो इस प्राणत्याग मे साहाय्य नही पहुँचा रहे है आप ही कृपा करके कुछ साहाय्य करे। इसके उत्तर मे वह कपटी-मुनि कहता है, महाराज ! बात तो मुनिजन के लिए यह विरुद्ध है फिर भी छिप कर लकडी एव आग की व्यवस्था मैंने कर दी है। अब मैं जाता हूँ, अब मैं यहाँ रह नही सकता। इस प्रकार उन दोनो के मरण की व्यवस्था करके वह कपटवेषी राक्षस चार्वाक वहाँ से चला जाता है।

यद्यपि अपने नाटक के अन्दर इस प्रकार चार्वाकीय कथा के सन्निवेशक भट्टनारायण ने अपने को, महाभारतीय उक्त चार्वाकीय विकृत विचार धारा से स्पष्ट रूप मे प्रभावित दिखलाया है, जो उनके लिए उचित ही है। क्योकि उनके नाटक का उपजीव्य महाभारत ही तो है ? फिर भी भट्टनारायण ने जो रूप, महाभारतीय चार्वाक कथा को दिया है उससे प्रकृत चार्वाकीय विवेचन मे कुछ लाभ अवश्य प्राप्त होता है। एक तो यह कि वर्णित इस घटना से चार्वाकीय विचारा-धारा की राजनीतिकता और भी निखरती हुई दीख पडती है और दूसरा यह कि इसके द्वारा महाभारतीय कथानक पर भी तथ्यता का विश्वास कुछ ढीला हो उठता है। क्योकि कविगत अधिकार के औचित्य की ओट मे यदि भट्टनारायण स्पष्ट रूप से प्राप्त होने वाली चार्वाक कथा को अन्य रूप मे निस्सकोच उपस्थित कर सकते हैं तो उनसे कही अधिक कवित्व को अपने वश मे रखने वाले व्यास

(३०६) राक्षस —(सविषाद मात्मगतम्) कथ गच्छति ? भवत्वेव तावत् (प्रकाशम्) राजन् ! रिपुजय-विमुख ते यदि चेत स्तदा यत्र तत्र वा वा प्राणत्याग कुरु। वृथातत्र गमनम्।

—वेणी सहार नाटक, अक ६।

देव ने चार्वाक की ऐतिहासिक तथ्य कथा को रोचकता आदि के अनुकूल रूपान्तर नही दिया होगा, यह निर्णय कैसे किया जाय ? और यह निर्णय विचलित हो उठने पर महाभारत के द्वारा फैलायी गयी घृणा से प्रभावित परवर्त्ती लेखको द्वारा चार्वाकीय विचार-धारा को प्रदत्त रूप पर पूर्ण-तथ्यता का विश्वास करने का अवकाश कम पड जाता है।

अमृतोदय और लोकायत

संस्कृत-नाटक-साहित्य के अन्दर तीसरा ऐसा नाटक है महामहोपाध्याय गोकुल-नाथ-रचित अमृतोदय, जिसमे लोकायत की चर्चा दार्शनिक रूप मे हुई पायी जाती है। नाटक की प्रस्तावना मे ही जहाँ सभी अवैदिक दार्शनिको से यह नेपथ्य से कहा गया है कि तुम लोग क्षेत्रज्ञनगर पर अर्थात् प्राणि-शरीरो पर अपना-अपना आधिपत्य स्थापित करो, वहाँ लोकायत-व्यवहारियो अर्थात् चार्वाक-सिद्धान्तियो से यह कहा गया है कि "आप लोग परोक्षरूप से स्वीकृत वस्तुओ का खण्डन उसी प्रकार कर डालें जिस प्रकार तेजस्वी सूर्य अन्धकार का खण्डन कर डालता है।" तेजस्वी सूर्य की तुलना देकर नाटक कार उपाध्याय ने चार्वाकियो को प्रचण्ड-तार्किक बतलाया है परन्तु आपकी दृष्टि मे चार्वाक-दर्शन, आन्वीक्षिकी नही है। क्योकि परवर्त्ती अक्षपाद-गौतमीय न्याय को ही आपने "आन्वीक्षिकी" कहा है और उसे श्रुति का सहायक कहा है। मालूम ऐसा पडता है कि रामायण और कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा जो चार्वाक दर्शन को आन्वीक्षिकी कहा गया है उसका परिचय उपाध्याय को प्राप्त नही था। और यदि उसका परिचय उन्हें प्राप्त था तो उक्त अक्षपादीय-न्याय को वे भी यहाँ पूर्व-वर्णितानुसार गौतमीय कणादीय आदि और न्यायो को वे भी चार्वाक-दर्शन का ही उत्तराधिकारी मानते थे, जिसके आधार पर उन्होने [३०७] अक्षपादीय-न्याय को आन्वीक्षिकी कहा है। अमृतोदयकार उपाध्याय गोकुलनाथ के लिए दोनो ही बाते पूर्ण सम्भावित इसलिए है कि वे अति प्राचीन नही है। अमृतोदय के टीकाकार महामहो-पाध्याय बक्सी मुकुन्द झा ने जो चार्वाक-दर्शन का स्वरूप-निर्धारण उक्त नाटक की अपनी संस्कृत टीका मे किया है उनका आधार माधव का चार्वाक दर्शन ही प्रतीत होता है। क्योकि चार्वाक मत की प्रामाणिकता के लिए उन्होने अधिकतर, सर्वदर्शन-संगृहीत पद्यो को ही उद्धृत किया है। नाटक मे आये हुए "लोकायतव्यवहारी" इस शब्द की व्याख्या

(३०७) मिलति नयनमक्षपादपाद-प्रणिपतनेन ललाटसीम्नि यस्य।
विधिरपि पुरयस्य तस्य भाले लिखितु मदृष्टलिपिंकुत क्षमेत॥

—अमृतोदय नाटक।

जो महामहोपाध्याय बक्सी झा ने "प्रत्यक्ष-प्रमाण-मात्र-निष्ठ देहात्मावादी" इस प्रकार की है वह यथार्थ होने पर भी अति निरूढ प्रतीत होती है। हाँ, यहाँ पक्षान्तर का आश्रयण करते हुए जो चार्वाकियो को "इन्द्रियात्मवादी" भी कहा गया है टिप्पणी मे, वह अति नवीन नही तो नवीन-सा अवश्य है। ऐसा कहने का कारण यह है कि आत्मविचार के अवसर पर बौद्धो के क्षणिक-विज्ञान वाद से पूर्व चार्वाक से अतिरिक्त किसी अन्य दार्शनिक के आत्मवाद का उल्लेख पाया जाता नही। परन्तु इन्द्रियात्मवाद आदि की भी शका एव उसका खण्डन ये दोनो ही जगह-जगह पर किये गये पाये जाते हैं। सुतरा इन्द्रियात्मवाद को भी चार्वाकीयवाद ही मानना पडता है। साख्य को छोड कर इन्द्रियो की भौतिकता प्राय सर्व-दार्शनिक-मतसिद्ध ही है, अत इन्द्रियो को आत्मा मानने पर भी चार्वाकीय भूत-चैतन्य-सिद्धान्त सुरक्षित रह जाता है। परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रकृत इन्द्रिय पद से दृश्यमान अक्षिगोलक आदि स्थूल भूतो को लिया जाय तो इन्द्रियात्मवादी का शरीरात्मवाद से कोई विशेष पार्थक्य नही रह जाता। और यदि रश्मि आदि सूक्ष्म भौतिक कण स्वरूप माना जाय तो वह अवश्य अनुमेय ही होगा अत उक्त पद्धति से अनुमान आदि प्रमाणो को भी प्रत्यक्ष मे गतार्थ मान करके ही प्रत्यक्षमात्र-प्रमाणता के साथ इन्द्रियात्मवाद की मान्यता सम्भव हो सकती है।

चार्वाक मत और महाकवि श्रीहर्ष

महा-कवि श्रीहर्ष अपने महाकाव्य नैषधीय-चरित के सत्रहवे सर्ग मे ३७ श्लोक से लेकर ८३ श्लोक तक एक मनोरजक उच्छृखल-मत का काल्पनिक वर्णन किया है। आपने उपक्रम इस प्रकार बाँधा है कि दमयन्ती[१०८] जब कि प्रार्थी देवताओ को भी न मिली, नल को ही उसके मिलने का सौभाग्य निश्चित रूप से प्राप्त हो गया, तब कुछ न कुछ सात्त्विक-भावापन्न होने के कारण देवगण, दमयन्ती और नल के उचित सम्बन्ध स्थापन से, सन्तुष्ट रूप मे ही स्वर्ग लौट चले। मार्ग मे उन्हे एक बडी सेना आती हुई दिखाई दी। उस सेना के अन्दर कुछ लोग उनके परिचित भी विद्यमान थे। सेना के अन्दर से एक व्यक्ति ने अति कर्णकटु बाते उन्हे सुनाना प्रारम्भ कर दिया। वह कहने लगा

(३०८) तत्रोद्गूर्ण इवार्णोघ सैन्येऽभ्यर्णमुपेयुषि ।
कस्माप्याकर्णयामासु ते वर्णान् कर्णकर्कशान् ॥ ३६ ॥
ग्रावोन्मज्जनवद्यज्ञफलेऽपि श्रुतिसत्यता ।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धा ! कामाध्वा यत् खिलीकृत ? ॥ ३७ ॥

—नैषधीय-चरित, सर्ग १०।

श्रुति की धूर्त्तता कहाँ तक बतलायी जाय ? वह यह उपदेश देती है कि तुम शरीर नही हो नित्य शुद्ध ज्ञान हो। वैदिक विद लोग वैदिक मन्त्रो की महत्ता बतलाते हुए लोगो को इस प्रकार ठगा करते हैं कि मेरे मान्त्रिक पुरश्चरण से ही तुम्हें पुत्र मिला है। यह सोचने की बात है कि जब पुत्र और पुत्री इन दो के अन्दर ही कोई गर्भ से निकलता है तब पुत्र का होना क्या यो ही नही हो सकता ? यदि तेरे श्रुति सिद्ध जन्मान्तरवाद को मान लिया जाय तो श्रौत एकात्मवाद के आधार पर सबसे किये गये पाप तेरे ही शिर पर क्या नही आ धमकेंगे ! । पत्थर की पूजा के लिए क्षुप लता आदि से फूलो का तोडना उचित नही कहा जा सकता। क्योकि वृक्षस्थ पुष्प फलद होता है, पत्थर पर गिरा पुष्प फलद कभी होता नही। विरक्तो ? स्त्री सम्बन्धी घृणावाद को तृण के समान छोडो। क्योकि जब तुम स्वय भी वैसे ही हो, तब यह चिरकालिक जन-वचना क्यो ? हे अज्ञो ! काम-निन्दा भला तुम क्यो करते ? तुम्हारी श्रुति-स्मृतियाँ भी तो तुम्हारे ब्रह्मा विष्णु आदि देवो की ही आज्ञाएँ हैं जो स्वय कामदेव की आज्ञा का उल्लघन करते नही ? यदि कुछ वैदिक वाक्यो को, जो कि मन्त्र नाम ध्येय एव अर्थवाद कहे जाते हैं प्रामाणिक मानते नही, तो विधि-वाक्यो को भी वैसा ही क्यो नही मानते ? सचमुच तुम-मीमासको की बुद्धि बहुत मोटी हो गयी है। तभी तो एक ओर श्रुति के प्रत्येक अक्षर को सार्थक मानते हो और दूसरी ओर "यूपहस्तीदान" आदि वाक्यो को लोभमूलक कह कर निरर्थक भी मानते। तुम्हारी श्रुति ही तो यह कहती है कि "यह कौन जानता है कि परलोक मे सुख मिलता है" ? फिर उसी के आधार पर जनता क्यो न उसके बारे मे सन्देह करे ? मनु ने धर्म और अधर्म का उपदेश तो वस्तुत किसी प्रकार अर्थ-ग्रहण के लिए दण्ड-विधानार्थ किया जिसे कुछ बुद्धिमानो ने ही समझ पाया। उस व्यभिचार-जात एव व्यभिचारी व्यास की थोथी कल्पना पर ही यदि तुम लोग विश्वास करते हो, तो अच्छे शास्त्रज्ञ हो ? मछली भी कही उपदेश देती है ? परन्तु तुम्हारे मनु ने तो मछली से भी उपदेश लिया ! ऐसे तुम लोगो से भला क्या बात की जाय ?[३१०] व्यास पाण्डवो के पण्डित ही नही, चाटुकार कवि भी थे। इसीलिए तो पाण्डव-प्रशसित वस्तु की प्रशसा और पाण्डव-निन्दित वस्तु की निन्दा करके उनके "हाँ मे हाँ" मिलाया !

वे अपने भाई विचित्र वीर्य की स्त्री मे ही केवल आसक्त नही हुए किन्तु "दासी रत" भी हुए। क्या उसके लिए उन्हे माता की ही आज्ञा थी ? तुम्हारे जैसे अपने अनु-

(३१०) पण्डित पाण्डवाना स व्यासश्चाटुपटु कवि ।
निनिन्द तेषु निन्दत्सु स्तुवत्सु स्तुतवान्न किम् ॥ ६५ ॥
—नैषधीय-चरित, सर्ग १७

यायियो के लिए ही देवताओ और ब्राह्मणो ने वेद एव तदनुयायी शास्त्र रच डाले । तभी तो तुम लोगो ने गाय आदि पशुओ तक को नमस्कार करते हुए अपने को बिलकुल गिरा डाला है ? । अपने को शान्त-हृदय कहने वाले इन यज्ञोन्मुखो द्वारा अपनी कामुकता का त्याग तो अच्छा दिखलाया गया, जो कि मर कर भी स्वर्गीय अप्सराओ से विहार की लिप्सा रखते हैं । हे अपने को प्रबुद्ध मानने वालो ! शम-धारण से क्या लाभ उठाओगे ? अपनी प्रेयसी के सुखोत्पादनार्थ प्रयत्न करो । भस्मीभूत देह का पुनरागमन कैसे हो सकता ? "अपवर्गे तृतीया" इस सूत्र के द्वारा पाणिनि ने भी तो यही अपना मत व्यक्त किया है कि स्त्री और पुरुष तो आपस मे मिलकर उत्पादन करें और तृतीय अर्थात् नपुसक लोग असमर्थता-प्रयुक्त मोक्ष-लाभार्थ प्रयत्न करे ? ऊपर स्वर्ग जाने के इच्छुक लोग जो स्नान करते समय गोता लगाते हुए नीचे की ओर जाते है उसे लडने वाले दो मेडो के पीछे हटने के अतिरिक्त भला और क्या कहा जा सकता ? । इस पाप के करने से अमुक क्षुद्र योनि प्राप्त होगी यह डर दिखलाना व्यर्थ है । क्षुद्र जन्तु भी तो अपने सुख के अनुरूप साधनो से सुखी पाये ही जाते हैं । युद्ध मे मरने वाले यदि स्वर्ग जायँ, तो विष्णु के द्वारा हत दैत्य लोग स्वर्ग मे भी उनसे लडते ही रहेगे । क्योकि मुमूर्षु के भावानुसार ही तो लोकान्तरीय परिस्थिति मानी जाती है । ससारकाल मे मुमुक्षु जीव स्वय भी रहता है और ब्रह्म भी । मोक्ष हो जाने पर केवल ब्रह्म ही रह जाता, ऐसी परिस्थिति की मान्यता मे वेदवादियो ने अपनी अच्छी विदग्धता दिखलायी ? क्योकि फलत अपने उच्छेद को ही उन्होने मोक्ष माना । चेतनो को पत्थर की तरह अचेतना-स्वरूप मुक्ति के लिए जिस गौतम ने शास्त्र का प्रणयन किया उन्हे सचमुच गौतम ही समझना चाहिए । हरि हर आदि की स्त्रियाँ अर्थात् लक्ष्मी पार्वती आदि स्त्रियाँ उनमे आसक्त होती हुई क्यो काम-बन्धन मे जकडी हुई हैं ? कारुणिक अमोघादेश सर्वज्ञ परमेश्वर यदि सचमुच हैं तो वे हम लोगो को अपनी अमोघ-वाणी से ही सर्वथा सुखी क्यो नही बना डालते हैं ? यदि यह माना जाय कि परमेश्वर प्राणियो को अपने कर्मो के अनुसार फल देते है तो वे, अकारण वैरी होने के कारण उन अन्य दुश्मनो से भी अधिक दुश्मन मान्य होगे, जो किसी कारण वश दुश्मनी रखते हैं । तर्क अप्रतिष्ठित अर्थात् अनन्त होने के कारण परस्पर खण्डित होने वाले सारे मत क्यो सत्प्रति-पक्षस्थल के समान अप्रमाण नहीं हो उठेगे ? ये अपने को तपस्वी कहने वाले स्वय अतिक्रोधी होते हुए दूसरो को अक्रोध की शिक्षा देते है और स्वय निर्धन होते हुए दूसरो को यह कह कर बहकाते है कि तुम्हे धनी बना दूगा । लक्ष्मी न देने वालो पर ही सन्तुष्ट रहती है, फिर तुम किसी को कुछ देना क्यो चाहते ? धन-दान का परिणाम क्या होता है सो दानी बलि के बन्धन से मालूम किया जा सकता है । धन देने के लायक भला कौन है ? जिसने जो

लेता है उससे ही वह द्रोह करता है। लोभ का सचमुच त्यागी उदासीन तो विरल हा होते हैं। चोरी न करना अपनी दीनता को बढाना है। किसी भी वस्तु को अभक्ष्य मानना अपने पेट की वचना है। इसलिए सुख प्ररोह की मूलभूत स्वच्छन्दता अर्थात् उच्छृखलता को अपनाते जाओ।" महाकवि श्री हर्ष ने इस प्रकार एक उच्छृखल मतवाद का वर्णन महामोहीय सेनान्तर्गत एक वीर भट के मुख से करा कर उक्त उच्छृखल मतवाद को सुनकर अतिक्रुद्ध होने वाले इन्द्रादि देवो के द्वारा इस मतवाद का यथा सम्भव खण्डन कराया है जो कि उक्त सर्ग के १०७ श्लोक तक चला है और तदनन्तर सम्बोध्य उस सैनिक के मुख से यह कहलाया है कि उक्त मतवाद के लिए मैं दोषी नही हूँ। क्योकि हम सभी राजा[३११] कलियुग के स्तुतिपाठक वन्दी है। वन्दियो का तो यह कर्त्तव्य ही है कि वह अपने प्रभु की इच्छा के अनुरूप ही बोले।

महाकवि श्रीहर्ष ने इस प्रकार जिस उच्छृखल मतवाद का वर्णन किया है वह उनकी निरुपम कल्पना-कूची का एक मनोरजक चित्रण मात्र है ऐतिहासिक तथ्य नही, यह प्रत्येक तथ्यान्वेषी असन्दिग्ध भाव से कहेगा, जो कि उनके काल्पनिक उडान का थोडा भी परिचय रखता होगा। अत उक्त उच्छृखल मतवाद के आधार पर चार्वाक सिद्धान्त का जिसे वस्तुत पूर्व विहित विचार के अनुसार "चारवाक सिद्धान्त" कहना उचित होगा, स्वरूप निर्णय नही किया जा सकता एव तदनुरूप चार्वाक सिद्धान्त के प्रति घृणा नही फैलायी जा सकती। ५६ वे श्लोक के द्वारा जो एकात्मवादी वेदान्तियो से यह कहा है कि "एकात्मवादी होने के कारण तुम्हारे ऊपर सबके किये पाप आ गिरेगे" यह कथन श्रुतिगत प्रामाण्य एव पुण्य पाप का अस्तित्व मान्य होने पर ही सगत होता है। अत उक्त उच्छृखल मतवाद को चार्वाकीय मानने पर भी क्या यह भी बात नही व्यक्त हो उठती कि वे चार्वाकी भी वह प्रमाण्य और पापपुण्य आदि मानते थे? इसी प्रकार उनसठवे श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि "स्वय व्यभिचारी पुरुषो को व्यभिचारिणी स्त्री के प्रति घृणा करना जनवञ्चना है" इससे क्या यह व्यक्त नही हो उठता है कि वचना उचित नही, वह कत्तव्य नही है? फलत इससे यह व्यक्त अवश्य हो उठता है कि वास्तविक चार्वाक-सिद्धान्त भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार रखता था? इसके अनन्तर ६३ वे श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया हे कि "मनु ने धर्म और अधर्म की व्यवस्था दण्डार्थ की थी जिसे कुछ ही बुद्धिमानो ने समझा" इससे क्या यह नही व्यक्त हो उठता है कि

(३११) नापराधो पराधीनो जनोऽय नाकनायका।
कालस्याह कलेर्वन्दी तच्चाटु-चटुलाननन ॥१०८॥
—नैषधीय चरित, सर्ग १७।

मुझे तो उतनी जानकारी जाङ्गलिक स्थानो के सम्बन्ध मे नही है परन्तु निर्घात जो कि मेरी स्वसा का लडका होने के नाते सम्बन्ध मे भाई ही लगता है बहुत जानकारी रखता है। तदनुसार जब राजा ने निर्घात से भी पूछा तब उसने कहा महाराज ! मैं इस जगल मे तिनके-तिनके को जानता हूँ। पत्ते-पत्ते को पहचानता हूँ। ऐसा भला इस जगल का कौन सा स्थान होगा जो मुझसे अपरिचित होगा। इसी सिलसिले मे निर्घात ने पाराशरी दिवाकर मिश्र नामक तपस्वी के आश्रम का भी रोचक परिचय दिया कि —"दूर से ही सुन्दर आश्रमस्थित तापस दिवाकर मित्र का परिचय इसलिए मुझे प्राप्त हो रहा था कि विभिन्न देशो से आये हुए शिष्यो से वह आश्रम व्याप्त था। जिन शिष्यो के अन्दर कुछ शिष्यगण जगह-जगह विद्यमान सुन्दर वृक्षो के नीचे बैठे थे तो कुछ शिष्यगण जगह-जगह पर शोभायमान शिलाखण्ड पर आसीन थे। कुछ लोग तो लताभवन मे वास कर रहे थे अन्य कुछ लोग निकुञ्ज मे छिपे थे। कुछ लोग वृक्ष शाखा की छाया मे बैठे थे तो अन्य कुछ अध्येता लोग वृक्षो के मूल देश मे सटकर बैठे हुए थे, उन विभिन्न स्थानो मे विद्यमान शिष्य मण्डली के अन्दर[३१२] कुछ वीतराग जैन साधु थे तो कुछ श्वेताम्बर पाण्डुर वर्ण भिक्षुक थे। कुछ भावगत ब्रह्मचारी भी वहाँ अध्येता के रूप मे उपस्थित थे। उन विभिन्न साम्प्रदायिक शिष्यो के अन्दर कुछ केशोल्लुञ्चक भी देखे जा रहे थे। साराश यह कि कापिल–जैन–लौकायतिक–काणाद–औपनिषद्–नैयायिक– कारन्धर्मी–धर्मशास्त्री– पौराणिक–सापृतन्तव–वैयाकरण–पाञ्चरात्रिक एव अन्य प्रकार के शिष्य भी वहाँ आश्रम की शोभा बढा रहे थे। जिनके अन्दर कुछ लोग अपने सिद्धान्तो को सुनने मे मस्त थे, कुछ आप्तजनो से प्रश्न पूछ रहे थे। कुछ लोग पाठ का उच्चारण कर रहे थे तो कुछ अन्य लोग अपना सन्देह उपस्थित कर रहे थे। कुछ लोग उपदेश सुनकर निश्चयात्मक निष्कर्षपर पहुँच रहे थे तो अन्य कुछ लोग औरो को समझा रहे थे। अन्य कुछ लोग परस्पर शास्त्रार्थ कर रहे थे तो अन्य कुछ शिष्य लोग व्याख्यान दे रहे थे।" इस प्रकार वर्णन करने वाले बाण ने लौकायतिको को भी वही स्थान दिया है जो कापिल काणाद आदि अन्य दार्शनिको को। यदि बाण की दृष्टि मे भी लोकायत-दर्शन का वही स्थान होता जैसा कि उसे विकृत रूप देने वालो की दृष्टि मे अतिजघन्य स्थान प्राप्त है, तो वे कापिल काणाद आदि के समान उसे भी उक्त प्रकार मान्यता कभी नही

(३१२) विटपच्छायासु निषण्णै तरुमूलानि निषेवमाणै वीतरागै राहंतैर्मस्करिभि श्वेतपटै पाण्डुरिभिक्षुभि भागवतैर्वर्णिभि केशोल्लुचनै कापिलैर्जैनै-र्लौकायतिकै काणादैरौपनिषदै ईश्वरकारणिभि

—हर्षचरित, उच्छ्वास ८।

/

देते अत यह मानना ही होगा कि जो रूप परवर्त्ती काल मे वर्णित हुआ है वह उसका वास्तविक रूप नही है। यह बारम्बार पहले कहा जा चुका है कि इस प्रकार छिछली रूपरेखा वाली विचारधारा दर्शन कहलाने का अधिकार नही प्राप्त कर सकती है। महाकवि बाण ने[३१३] जो अपनी कादम्बरी में महाश्वेता-कर्त्तृक स्वपरिस्थिति-वर्णन के अवसर पर महाश्वेताद्वारा चन्द्रापीड को यह कहलाया है कि "मुनिकुमार पुण्डरीक के सन्देश रूप मे उनके सहचर मुनिकुमार कपिञ्जल के द्वारा उपस्थापित आर्या-पद्य को पढ कर मेरे स्मरानुरक्त मन मे उसी प्रकार विकारात्मक दोष उपस्थित हो उठा, जिस प्रकार अधर्म मे रुचि रखने वाले व्यक्तियो मे लोकायतिक-विद्या से विकारात्मक दोष उपस्थित होते है" उसे हर्ष-चरित के उक्त प्रसग के साथ अध्ययन करने पर यह निर्णय प्राप्त होता है कि या तो उक्त वाल्मीकि-रामायणीय निर्णय के अनुसार महाकवि बाण भी लोकायतिक विद्या को धार्मिक एव अधार्मिक दो धाराओ मे विभक्त मानते थे, या कादम्बरी मे लोकायतिक-विद्या इस पद का उन्होने[३१४] एक प्रकार यौगिक अर्थ के आधार पर सामान्यत नास्तिक-विद्याभास अर्थ मे प्रयोग किया है जैसा कि व्याख्या एव टिप्पणी कारो के द्वारा व्यक्त किया गया है।

मैत्री उपनिषद् और बृहस्पति का उपदेश

चार्वाक दर्शन के आचार्य बृहस्पति हुए है, यह बात प्रसिद्ध भी है और इस ग्रन्थ मे भी पहले चर्चित हो चुकी है। यह भी युक्तिपूर्वक बतलाया जा चुका है कि ये बृहस्पति देव-गुरु बृहस्पति नही किन्तु अन्य दर्शन-प्रवर्त्तको की तरह कोई अन्य बृहस्पति नामक आचार्य हुए है। परन्तु यदि आग्रहवश उस देव-गुरु बृहस्पति को ही चार्वाक-दर्शन का आचार्य माना जाय, तो इस विवेच्य दर्शन का मध्यकालिक स्वरूप पर मैत्री उपनिषद् से कुछ प्रकाश पडता हुआ-सा दीख पडता है। मैत्री उपनिषद् के ७ वे प्रपाठक मे यह कहा

(३१३) दूर मुक्तालतया विससितया विप्रलोभ्यमानो मे।
हस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वया नीत ॥
अनया च मेत्रदृष्टया दुष्टनिद्रयेव विषविह्वलस्य "लोकायतिक विद्ययेवा धर्मरुचे दोषविकारोपचय सुतरामक्रियत स्मरानुरक्तस्य मे मनस।
—कादम्बरी, महाश्वेता-चन्द्रापीड-सवाद।

(३१४) लोकेति। लोकाना यति सयम इन्द्रियचापल्यनिग्रह, स नास्ति यस्या,तथा भूताया विद्या शास्त्रज्ञान, नास्तिक-विद्येतियावत्।
—जीवानन्द-विद्यासागर-टिप्पणी।

होने के कारण यह वन्ध्या ही है। आचारविहीन व्यक्ति के लिए यह केवल सासारिक अनुराग को ही देनेवाली है। इसलिए इस विद्या का आरम्भ उचित नही" इत्यादि। इस औपनिपद आख्यायिका के अन्दर अनेक वाते ध्यान देने योग्य प्रतीत होती है। सर्वप्रथम एक यह कि यहाँ जो ज्ञान-विघ्नो की वडी लिस्ट दी गयी है जिसे नैरात्म्यवादियो की लिस्ट कहा जा सकता है उसके अन्दर मोक्षार्थ अद्वैत ज्ञान मात्र के इच्छुक व्यक्ति को छोड कर उन अन्य सभी लोगो का तत्त्वत परिगणन स्पष्ट दीख पडता है जो कि त्रिवर्ग के इच्छुक होते है। ऐसी परिस्थिति मे अद्वैत वेदान्तियो को छोड कर अन्य सभी दार्शनिक निरात्मवादी कपट-शुक्र बृहस्पति के शिष्योपशिष्य-परम्परा मे आ जाते है अत मूलत चार्वाक और अचार्वाक ये दोनो ही दर्शन वास्तविक रूप मे त्याज्य रूप से प्राप्त होते है और सो भी औपनिपद काल के वाद के लिए। उसके पूर्व तो अवान्तर प्रभेद भले ही हो परन्तु तत्त्वत एक ही चार्वाक-दर्शन ही अस्तित्व-युक्त रूप मे स्थिर हो पाता है जैसा कि "भागवत और चार्वाक-दर्शन" इस शीर्पक विहित-विचार के अन्दर वतलाया जा चुका है। दूसरी एक वात यह यहाँ अनायास निकल आती है कि दैत्य और असुर भी मूलत अवैदिक नही वैदिक ही थे। क्योकि उनके वास्तविक गुरु वास्तविक शुक्र ने उन्हे पथभ्रष्ट नही किया। बृहस्पति ने कपटपूर्ण शुक्र का रूप धारण कर वचना की, इसलिए उक्त लिस्ट के अन्दर आ पडे। अत अनात्मवादी दर्शन के आचार्य कहलाये। यह जो कहा गया है कि "स्वर्ग्यों का अस्वर्ग्य" के साथ होने वाला सम्वन्ध मोह का ही कारण होता है" इससे भी प्राचीन चार्वाकियो की वैदिकता सिद्ध होती है।" जो लोग ग्राम-याचना करते है अयाज्यो को भी याजन कराते हैं" इत्यादि उक्त वाक्य तो और भी खुल कर इस वात को सिद्ध करते देखे जाते है कि इस उपनिषद् भाग मे सूचित होने वाले सभी चार्वाक वैदिक थे अपने को वेदानुयायी मानते थे और तदनुरूप आचरण रखते थे। अन्य एक वात यह भी यहाँ सर्वथा ध्यान देने योग्य है कि

कहे कि औपनिषद आख्यायिकाएँ इतिहास नही है अत इसके सहारे ऐतिहासिक चार्वाक का निर्णय नही किया जा सकता, तो मुझे भी इस पर कोई आग्रह इसलिए नही है कि इससे पूर्व सारी बाते अन्य प्रमाणो से सिद्ध की जा चुकी है।

रसेश्वर दर्शन भी चार्वाक-दर्शन का ही नवीन सस्करण

सर्वदर्शन सग्रह के अन्दर ६ वें दर्शन के रूप मे जो रसेश्वर दर्शन दिखलाया गया है, उसे यदि गम्भीर भाव से देखा जाय तो वह दर्शन भी वस्तुत चार्वाक दर्शनका ही एक नवीन सस्करण प्रतीत होगा। क्योकि वहाँ हरगौरी-सृष्टिज शरीर को अविनश्वर तक माना गया है। शरीर की नित्यता मान लेने के बाद चार्वाकीय शरीरात्मवाद या भूतात्मवाद की मान्यता मे भला क्या अनुपपत्ति बतलायी जा सकती ? सारी समस्याएँ अनायास हल हो जाती है। सर्वदर्शन सग्रह के रसेश्वर दर्शन मे जो रसार्णवीय वाक्य के उद्धरण द्वारा यह कहा गया है कि "छ दर्शनो के[३१८] अन्दर मुक्ति बतलायी गयी है सही परन्तु शरीरपात के अर्थात् मरण के अनन्तर। इसलिए अन्य-दर्शनीय मुक्ति हस्तगत आमलक के समान प्रत्यक्षत उपलब्ध नही हो पाती। इसलिए रसायनात्मक रस अर्थात् शुद्ध पारद के द्वारा शरीर की[३१९] रक्षा करनी चाहिए अर्थात्, शरीर को नित्य बना डालना चाहिए"। वहाँ "अन्य दर्शनीय मुक्ति प्रत्यक्षत उपलब्ध नही होती" इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रसेश्वर-दर्शन भी प्रत्यक्ष मात्र को उसी प्रकार प्रमाण मानता है जिस प्रकार चार्वाक-दर्शन। इससे भी यह व्यक्त होता है कि रसेश्वर-दर्शन एक प्रकार चार्वाक-दर्शन का ही नवीन सस्करण है। शरीर को नित्य मान लेने पर भूतात्मवाद, फलत भूत चैतन्य स्वत प्राप्त हो जाता है और प्रत्यक्ष मात्र प्रमाणता भी बतलायी ही जा चुकी है। ये ही दो बाते चार्वाकसिद्धान्त के लिए मुख्य रूप से मान्य है। सो जब कि रसेश्वर दर्शन मे भी मान्य है तब भला इसमे क्या सन्देह रह जाता कि रसेश्वर-दर्शन भी चार्वाक-दर्शन का ही एक नवीन सस्करण है रसेश्वर

(३१८) षड्दर्शनेऽपि क्तिस्तु दर्शितापिण्डपातने ।
करोमलकवतर्म ताऽपि प्रत्यक्षानोपपद्यते ।।
तस्मात्ति रक्षत्पिण्ड रसैश्चैव रसायनै ।। ३ ।। —हेसार्णव ।

(३१९) पाट्कौशिकस्य शरीरस्या नित्यत्वेऽपि रसाभ्रकपदाभिलप्य हरगौरीसृष्टि जातस्य —नित्यत्वोपपत्ते । नक्षत्र रसहृदये—
ये चात्यक्त शरीरा हरगौरी सृष्टिजा टनु प्राप्ता ।
मुक्तास्ते रससिद्धा मन्त्रगण. किंकरो येषाम् ।।
—रसहृदय १।७ । सर्वदर्शन सग्रह, रसेश्वर दर्शन ।

दर्शन को जो परमेश्वर-तादात्म्यवादी कहा गया है, सो भी महासमवायात्मक भूताद्वैत की तत्त्वता की मान्यता के अनुसार सगत हो ही जाती है। अब रही बात नास्तिकता और आस्तिकता की, तो यह भी निर्णय किया ही जा चुका है कि चार्वाक-दर्शन वस्तुत नास्तिक दर्शन नही था। न्यायदर्शन के भाष्य मे उसके रचयिता वात्स्यायन ने जो दृष्टान्त की महत्ता बतलाते समय यह कहा है कि "नास्तिक यदि दृष्टान्त को मानेगा तो वह नास्तिक नही रह पायेगा और यदि वह दृष्टान्त को नही मानेगा तो किसके सहारे वह अपने विरोधी पक्ष का खण्डन करेगा ?" इस कथन से यही सिद्ध होता है कि नास्तिक वही कहलाता था प्राचीन काल मे, जो कि दृष्टान्त नही मानता था। दृष्टान्त को न मानने का अर्थ होता है प्रत्यक्ष को न मानना। किन्तु चार्वाक तो प्रत्यक्ष को अमान्य नहीं कहता ? अत उसे नास्तिक कैसे कहा जा सकता ? वेद की अमान्यता प्रयुक्त भी उसे नास्तिक नही ठहराया जा सकता। क्योकि उसकी वैदिकता सिद्ध की जा चुकी है।

(३२०) नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नास्तिकत्व जहाति। अनभ्युपगच्छन् किसाधन परमुपालभेत ? —न्याय-दर्शन, वात्स्यायन-भाष्य।

एकादश प्रकरण

चार्वाक-दर्शन और उसका खण्डन

चार्वाक दर्शन को जिस मात्रा मे विकृत रूप दिया गया है उस अनुपात से उसके खण्डन की मात्रा अल्प है। कहने का तात्पर्य यह कि खण्डन तो प्राय सभी अन्य दार्शनिको ने इस दर्शन का किया है परन्तु वह खण्डन प्राय भूत-चैतन्य और प्रत्यक्ष-मात्र-प्रामाण्य तक ही सीमित रह गया है। अर्थात् चार्वाकीय-मान्यता-प्राप्त इन्ही बातो की आलोचना प्राय की गयी है। अभिप्राय यह कि दर्शन और आचरण ये दो विभिन्न वस्तुएँ है। क्योकि आचरण होता है धर्म, मूलवक्ता का दृष्टिकोणात्मक दर्शन धर्म नही, इन बातो को देखते हुए अन्य दार्शनिकोने जो इन उक्त दो दार्शनिक वस्तुओ का ही खण्डन किया है वह उनकी दार्शनिकता का ज्ञापक है। परन्तु वह खण्डन भी प्रकृत मे निर्णीत चार्वाकीय दार्शनिक-स्वरूप के आगे बिलकुल निरवकाश सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए दार्शनिक मूर्धन्य रूप से ख्यात मिश्र वाचस्पतिकृत खण्डन को उपस्थित किया जा सकता है। उन्होने चार्वाक सम्मत प्रत्यक्ष मात्र प्रमाणता की आलोचना करते हुए यह कहा है कि "अनुमान प्रमाण नही है यह कहने वाले लौकायतिको द्वारा, उनका वादी अप्रतिपन्न है कि सन्दिग्ध है या विपर्यस्त है यह कैसे समझा जा सकेगा ? अन्य व्यक्तिगत अज्ञान सन्देह या विपर्यास बाह्य-दृष्टि रखने वालो के द्वारा प्रत्यक्षत तो प्रतिपन्न हो नही सकता ? प्रमाणान्तर से वे समझे जा सकेंगे यह बात ना चार्वाक-पक्षी जन कह नही सकते। क्योकि प्रमाणान्तर तो उनके सिद्धान्त मे मान्य नही है। अपने वादी की हार्दिक परिस्थिति से अपरिचित होते हुए भी यदि उसे समझाने के लिए चार्वाक-सिद्धान्ती प्रवृत्त हो, तो जिस किसी व्यक्ति को भी वे समझाने मे प्रवृत्त हो बैठेंगे। जिसका परिणाम यह होगा कि प्रेक्षावानो की दृष्टि मे वे अश्रद्धेय-वचन हो बैठेंगे। अर्थात् पागल के वाक्य की तरह उनका भी वाक्य श्रद्धेय नही हो पायेगा, उपेक्षित हो बैठेगा।

(३२१) नानुमान प्रमाणमिति वदता लौकायतिकेनाप्रतिपन्न सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुष कथ प्रतिपद्येत ? नच पुरुषान्तरगता अज्ञान-सन्देह-विपर्यासा शक्या अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुम्

—साख्यतत्त्व कौमुदी।

वे अनुमान मानते ही नही, किन्तु वर यह कहते है कि उनका तर्क क्षुद्र है, महत्वपूर्ण नही है। बिलकुल निस्तर्क होना और अल्पतर्क-युक्त होना, इन दोनो मे महान् अन्तर है। कहने का तात्पर्य यह कि इस ग्रन्थ मे जो यह निर्णय किया गया है कि चार्वाक-सम्प्रदाय भी अनुमान प्रमाण मानता था, इसका आभास यहाँ कुछ दिखाई-सा दे रहा है। आगे चलकर भट्ट जब यह कहने के लिए प्रस्तुत हुए है कि वेदमूलक होने के कारण बौद्ध जैन आदि शास्त्र भी प्रामाणिक है तब फिर चार्वाक का विचार उपस्थित करते हुए उन्होने यह कहा है कि—"तब तो लोकायत शास्त्र भी प्रमाण रूप से मान्य होगे। क्योकि उनके मूल भूत वैदिक वाक्य भी पाये जाते है। और [३२२]लोकायत-दर्शन यदि प्रामाणिक हो चुका तो गये फुलने खटाई मे अन्य सारे शास्त्र"। इस प्रकार स्वय प्रश्न उठा कर इसके उत्तर मे भट्टजी ने यह कहा है कि "इसका उत्तर यह है कि [३२३]लोकायत शास्त्र मे कुछ भी कर्त्तव्य रूप मे उपदिष्ट नही हुआ है। वह केवल वैतण्डिक की वितण्डा कथा है कोई आगम अर्थात् शास्त्र नही है। जब तक जीओ सुख से जीओ इत्यादि उपदेशो को प्रमाण इसलिए नही माना जा सकता कि वह तो प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक ही प्रवृत्ति है। सभी सुखी जीवन बिताना चाहते है। धर्म कर्त्तव्य नही है इत्यादि उपदेश वाक्य पूर्वपक्ष मात्र के उपस्थापक है। क्योकि उत्तर वाक्य से उनका खण्डन हो जाता है। इसलिए लोकायत शास्त्र आदरणीय नही है। किन्तु अन्य सारे आगम प्रमाण है। क्योकि [३२४]मनुवाक्य को जहाँ महत्ता दी गयी है वहाँ "मनु" का अर्थ केवल मनु ही नही ज्ञातव्य है, किन्तु गौतम आपस्तम्ब से लेकर जिन, कपिल एव बुद्ध तक सभी ग्राह्य है"। सूक्ष्मभाव से देखने पर यहाँ आलोचना की प्रचुर सामग्री पडी है। यथा कहाँ तो यह भट्ट जी एक ओर यह कहते है कि "लोकायत दर्शन को यदि कही प्रमाण

(३२२) ननु च लोकायताद्यागमोऽपि प्रामाण्य प्राप्नोति। विज्ञान घन एवैभ्यो भूते भ्यस्समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति · ततश्चेह लोकायत दर्शने प्रमाण भूते सति स्वस्ति सर्वागमेभ्य ।

(३२३) उच्यते। नहि लोकायते किंचित्कर्त्तव्य मुपदिश्यते ।
वैतण्डिक-कथैवासौ न पुन कश्चिदागम ॥
—न्यायमजरी, प्रमाण-प्रकरण, चौखम्बा-मुद्रण, पृ० १४६।

(३२४) य कश्चित कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तित ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स ॥
इत्यत्र यथा मनुग्रहण गौतमापस्तम्ब-सम्वर्त-काठकादि-स्मृत्यन्तरोपलक्षणम् एव-महेत्कपिल सुगताद्युपलक्षणमपि व्याख्येयम्
—न्यायमजरी, प्रमाण-प्रकरण, चौखम्बा मुद्रण, पृ० १४६।

माना गया"। यहाँ प्रामाणिकता मे सन्देह उपस्थित करने पर भी दर्शनता फलत शास्त्रता तो मानी गयी है, और कहाँ फिर यह कहते है कि "लोकायत कोई शास्त्र नही है" वह तो वितण्डा कथा के अतिरिक्त और कुछ नही हे"। इनके इस कथन के अनुसार तो चार्वाक की गति अवाध रूप से सर्वदर्शन के घर मे हो पडती है। क्योकि स्थान विशेष मे सभी दार्शनिक वितण्डा कथा करते पाये जाते है ? वेदान्त का प्रसिद्ध खण्डन-खण्ट-खाद्य ग्रन्थ वितण्डा रूप माना जाता है, तो क्या उस ग्रन्थ के आधार पर श्रीहर्ष को चार्वाक-सिद्धान्ती कहा जा सकेगा ? वेद मूलक होने के कारण यदि जैन बौद्ध शास्त्रो तक को प्रामाणिक भट्टजयन्त मानते है, तो फिर लोकायत का ही क्या अपराध है ? खण्डन पाये जाने की जो बात की गयी है सो वह खण्डन उक्त महासमवायात्मक अद्वैत-भूत को लेकर अविनाश कथन भी सङ्गत हो सकता है अत उत्तर वाक्य से यहाँ वर्णित चारवाक्कीय दार्शनिक मतवाद का खण्डक होता हुआ नही देखा जाता है।

चार्वाकीय विचारधारा की निन्दा क्यो ?

वाते कर्त्तव्य रूप मे आती रहती है जिन्हे शुद्ध धार्मिक दृष्टिकोण से कुछ अन्तर, कुछ विरोध हो आया करता है। इसलिए विशुद्ध धार्मिको द्वारा समय-समय पर राजनयिक, राज-धार्मिक दृष्टिकोण के प्रति विरोध उपस्थित किया जाता है, उसकी निन्दा की जाती है। साथ ही राजनैतिक-मार्ग के अधिकार सम्पन्न होने के कारण आधिकारिक राजनयिको मे भ्रष्टाचार का श्रीगणेश हो उठता है। जो, यदि समय से अवरुद्ध नही हो सका तो फैलता जाता है फिर जन निन्दा एव जन विरोध। अन्तत हार्दिक-औदास्य जनसाधारण का उसके प्रति अवश्य हो उठता है, यह युक्तिसिद्ध ही नही प्रत्यक्षसिद्ध भी है। तदनुसार प्राचीन चारवाक्कीय दृष्टिकोण के प्रति,जिसे कि परवर्त्ती शाब्दिक प्रयोग के अनुसार चार्वाकीय दृष्टिकोण या चार्वाक-दर्शन कहा जा सकता है, राजनयिक अधिकार-प्राप्त लोगो के आचारणगत दोप-प्रयुक्त घृणा उत्पन्न हुई होगी। और उसकी बाढ मे चार्वाक-सिद्धान्त का वास्तविक-महत्त्व तिरोभूत हो जाने के कारण अन्य विवेचको को उसे छिछला रूप तक दे देने का सुअवसर प्राप्त हुआ होगा। क्योकि जिसे सभी प्राचीन भारतीय विवेचको ने एक स्वर से एक स्वतन्त्र दर्शन माना है उसका वह छिछला रूप कभी वास्तविक नही हो सकता, जो कि परवर्त्ती अनेक विवेचको द्वारा उसे दिया गया। आधुनिक कुछ विवेचक जो यह कहते है कि प्राचीन भारतीय विवेचको द्वारा किया जाने वाला चार्वाक-मत-खण्डन एक काल्पनिक मत का ही खण्डन है अत चार्वाक-दर्शन कोई ऐतिहासिक दर्शन नही, यह उनका कथन इसलिए भी मान्य नही ठहराया जा सकता कि आज भी ऐसे कुछ शब्द प्रचलित है जिनका प्रचलन चार्वाकि-दर्शन की मान्यता के विना किसी भी प्रकार समर्थित नही हो सकता। उदाहरण के लिए "आत्महत्या" शब्द को लिया जा सकता है। इस शब्द का सर्ववादि सम्मत अर्थ है स्वय अपने को नष्ट कर डालना। विचार करके देखने पर इस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग चार्वाक-सिद्धान्त को छोड कर अन्य किसी भी सिद्धान्त मे सम्भव नही है। क्योकि शरीरातिरिक्त आत्मवादी सभी भारतीय दार्शनिको के अन्दर क्षणिक-विज्ञान को आत्मा मानने वाले त्रिविध बौद्धो को छोड कर अन्य किसी भी दार्शनिक के मत मे आत्मा का नाश सम्भव नही है। उक्त त्रिविध बौद्ध दार्शनिको के मत मे विज्ञान की क्षणिकता के कारण आत्मा का नाश तो होता रहता है सही, किन्तु वह स्वाभाविक रूप से यो ही होते रहने के कारण, अपने द्वारा किये जाने वाले नही हो पाते अत भूत चैतन्यवादी चारवाक्क-सिद्धान्त को छोड अन्य किसी भी सिद्धान्त मे यह शब्द सार्थक नही हो सकता। यह शब्द आधुनिक भी नही है क्योकि वेद तक मे भी "आत्महा" "आत्महन" आदि आदि शब्द पाये ही जाते है। इसी प्रकार दूसरा शब्द है "कायस्थ" शब्द। विचार करके देखने पर यह भी शब्द शुद्ध चारवाक-सिद्धान्त का ही शब्द मालूम होता है। इस शब्द का अर्थ है काय मे अर्थात् शरीर मे ही स्थित। फलत शरीर को ही आत्मा रूप मे मानने वाला। भारतीय दार्शनिको के अन्दर

चारवाक्क-सिद्धान्त को छोड कर अन्य कोई भी सिद्धान्त शरीरात्मवादी नही है। अत यह मानना ही होगा कि "कायस्थ" यह शब्द चार्वाकसिद्धान्त के आरम्भ काल से ही प्रचलित हुआ चार्वाकियो का ही बोधक प्राचीन काल मे था।[३२५] इस कायस्थ शब्द की अति प्राचीनता, इस शब्द से कहे जाने वाले लोगो की राजनयिकता, एव इनके द्वारा परपीडनात्मक उनके आचरण-ह्रास का भी, परिचय अति प्राचीनता पूर्ण रूप मे प्राप्त होता है। क्योकि वैदिक ऋषि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से अपनी स्मृति मे शासक राजाओ को सलाह देते हुए कहा है कि कायस्थो के उत्पीडन से प्रजाओ की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए। इन बातो पर ध्यान देने से मालूम यह होता है कि प्राचीन काल मे "कायस्थ" कोई जाति नही थी किन्तु राजनयिक साधिकार समाज था और चारवाक्क-दर्शन उसी का महत्त्वपूर्ण राजनयिक भौतिक-दर्शन, जिसके विशुद्ध स्वरूप का यहाँ यौक्तिक विवेचन किया गया है।# चार्वाक-दर्शन की अति प्राचीनता विभिन्न शीर्षक विचारो से पूर्ण रूप से व्यक्त होने के कारण पूर्व प्रतिज्ञात होने पर भी ग्रन्थ-गौरव-भय से पृथक् शीर्षक-युक्त रूप मे नही विवेचित हुई।

सामञ्जस्य

चार्वाक-दर्शन का सुश्रृखल महत्वास्पद रूप वर्णित हो चुका है। विचार करके देखने पर इससे किसी भी दर्शन को विरोध भी नही होना चाहिए। क्योकि यहाँ का मौलिक तत्त्व रूप से स्वीकृत महासमयात्मक अद्वैत भूततत्त्व पाश्चात्यभूत दार्शनिको के समान ज्ञानरहित नही किन्तु ज्ञानगर्भ माना गया है जिसकी पुष्टि भी भागवत आदि से बतलायी जा चुकी है। तदनुसार परिस्थिति यही प्राप्त होती है कि कुछ दार्शनिको ने ज्ञानाश को महत्त्व देते हुए अलग दर्शन उपस्थित किया और अन्य कुछ दार्शनिको ने ज्ञानाश और अतिरिक्त अश दोनो को समान महत्त्व देकर तदनुरूप दर्शनो का स्वरूप निर्धारित किया, और यह चार्वाक-दर्शन ज्ञान को भूतकुक्षिगत बतला कर अतिरिक्ताश को महत्त्व देता है। इसलिए तत्त्व के सम्बन्ध मे दार्शनिको के बीच मतभेद केवल गौण-मुख्य-भाव-गत ही दीख पडता है जो कि महत्त्वास्पद नही। क्योकि गौण-मुख्यभाव विवक्षाधीन हुआ करता है अत तत्त्वत कोई विरोध है नही। इस अविरोध माग को अन्य दार्शनिको ने भी जगह-

(३२५) चाटुतस्करदुर्वृत्त महासाहसिकादिभि ।
पीड्यमाना प्रजा रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषत ॥३२६॥

—याज्ञवल्क्य-स्मृति, राजधर्म-प्रकरण।

कायस्था लेखका गणकाश्च, तै पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत। तेषा राजवल्लभतयाऽतिमायावित्वात्, च दुर्निवारत्वात्।—मिताक्षरा टीका।

जगह अपनाया है। न्याय-भाष्यकार-वात्स्यायन ने कहा "अभ्युपगम्यमान वस्तु है सिद्धान्त" "वस्तु का अभ्युपम है सिद्धान्त, किन्तु उसके वार्तिककार भारद्वाज उद्योत-कर और तात्पर्य-टीकाकार मिश्र वाचस्पति ने कहा कि जब "परिशुद्धि" लिखते समय आचार्य उदयन के समक्ष यह आपात-विरोध उपस्थित हुआ तो उन्होने उस विरोध का परिहार यही कह कर किया कि वस्तु और उसके निश्चयात्मक अभ्युपगम दोनो का ग्रहण तो भाष्यकार एव वार्त्तिक तात्पर्यटीकाकार दोनो ही करते ही हैं, रही बात गौण-मुख्य-भाव की, तो वह तो वक्ता के इच्छा के अधीन है, इसलिए वस्तुत कोई विरोध नही है। बडे भारतीय दार्शनिको के इस प्रशस्त मार्ग पर यहाँ का भी अविरोध अनायास स्थापित किया जा सकता है। यदि कुछ लोग अद्वैत से आकृष्ट न हो भूत चतुष्टय को ही तत्त्व मान कर चार्वाक-दर्शन को द्वैतवादी दर्शन ही माने तो उनके लिए अविरोध सम्पादन का मार्ग यह प्रशस्त है कि ब्रह्मा-द्वैत सिद्धान्त मे जिस प्रकार तात्त्विक सत्ता एक मात्र होने पर भी व्यावहारिक और प्राति-भासिक इन दो अतिरिक्त सत्ताओ को मान कर सामजस्य उपस्थित किया जाता है, उसी प्रकार, चार्वाक-दर्शन के उक्त युक्तियो के अनुसार राजनयिक होने के कारण राजनीतिक परिधि के अन्दर एक राजनीतिक-सत्ता मान्य हो सकती है। जिसको मान्यता दिये विना राजनयिक व्यवहार चल नही सकता। ऐसी परिस्थिति मे परिधि घट जाने के कारण भी विरोध हटाया जा सकता है। अत इस चार्वाक-दर्शन को अन्य किसी भी दर्शन से तत्त्वत विरोध नही उपस्थित किया जा सकता। इति शुभम्।

———